DUE DATE SLIP

GOVT. COLLEGE, LIBRARY

KOTA (Raj)

Students can retain library books only for two weeks at the most

BORROWER S No	DUE DTATE	SIGNATURE

आर्थिक विकास की दिशाएं

अम्लान दत्त

मैकमिलन

दि मैकमिलन कम्पनी आफ इण्डिया लिमिटेड
दिल्ली मद्रास बम्बई कलकत्ता
समस्त विश्व में सहयोगी कम्पनियां

© अम्लान दत्त

आर० पी० प्रिण्टर्स, शाहदरा, दिल्ली में मुद्रित

प्रस्तावना

आर्थिक विकास पर पुस्तक लिखते समय लेखक के सामने एक या भी कहना चाहिए परस्पर सम्बन्धित अनेक विकल्प होते है। उसे यह निर्णय करना होता है कि वह किनके लिए पुस्तक लिख रहा है और उसके विवेचन का क्षेत्र कितना व्यापक होना चाहिए। इस पुस्तक की भाषा को मैंने ऐसा रखने का प्रयत्न किया है जो कुल मिलाकर सामान्य जन की समझ म आ जाए। साथ ही आर्थिक विकास के सिद्धान्तो की विवेचना यहा जिस परिप्रेक्ष्य मे की गई है, वह सामान्य प्रारम्भिक पाठ्य पुस्तको की अपेक्षा अधिक विशद है। मेरे विचार से विषय को विस्तृत और बौद्धिक रूप से समझने के लिए ऐसा करना आवश्यक है।

यह पुस्तक एक विशेष दृष्टि से लिखी गई है। लेखक के लिए अपने विचारो को सक्षेप मे कह पाना कठिन होता है। आर्थिक विकास के लिए क्या आवश्यक है और क्या अनावश्यक, इसको अलग-अलग करने का हमने प्रयत्न किया है और इस बात पर जोर दिया है कि विकास की आवश्यकता के अनुरूप विभिन्न परिस्थितियो मे विभिन्न प्रकार की सस्थाओ का मेल सगत होता है। हमारे युग मे आर्थिक विकास के आवश्यक तत्व है विज्ञान के उपयोग द्वारा मुनाफे मे वृद्धि और लागत मे कमी, पूजी-निर्माण के आवश्यक अग के रूप मे कुशलता का निर्माण करने के लिए निवेश के प्रति उत्साह, पर्याप्त दर से निवेश के साथ-साथ कतिपय सतुलनो और अनुपातो को सुनिश्चित करने के लिए आयोजना, तथा उन असमानताओं पर निगरानी, जो विकास की प्रक्रिया मे ही उत्पन्न होती है और अगर उनको सावधानी से नियत्रण मे न रखा जाए तो विकास के लिए ही खतरा बन जाती हैं। प्रादेशिक विषमताओ पर हमने विशेष ध्यान दिया है। यह एक ऐसा पक्ष है, जो राष्ट्रीय आय की कुल वृद्धि की दर पर अधिक ध्यान देने के कारण विकास से सम्बन्धित अर्थशास्त्रियों द्वारा अतीत मे प्राय उपेक्षित रहा है।

प्रस्तुत कृति मे इसी दृष्टिकोण को सामने रख कर, पूर्ववर्ती विचारो का—विशेष कर पुरातन अर्थशास्त्रियो और मार्क्सवादियो के विचारो का—मूल्याकन करने का प्रयत्न किया गया है। हाल के वर्षों मे आर्थिक विकास से सम्बन्धित साहित्य मे असाधारण शीघ्रता मे वृद्धि हुई है। मैं यह नही कहता कि इस सारे साहित्य का

इस पुस्तक में समावेश हुआ है अथवा उसकी समीक्षा इसमें है। मेरा प्रयास रहा है कि मैं एक प्रमुख तर्क, अथवा विचार-प्रवाह को लेकर चलूं। इन विचारों का पर्याप्त विस्तार है और मैंने इन्हें अतीत और वर्तमान दोनों से जोड़ने का प्रयत्न किया है ताकि पुस्तक इस विषय के पाठक के मन में दिलचस्पी पैदा करे और विशेषज्ञों को इसके कई अंश विचारोत्तेजक प्रतीत हों।

इस पुस्तक को तैयार करते समय मेरी पत्नी ने कई प्रकार से मेरी सहायता की, जिसकी न तो मैं यहां गणना कर सकता हूं और न उसके सार्वजनिक प्रकाश द्वारा उस ऋण को कम कर सकता हूं।

—अम्लान दत्त

विषयानुक्रम

1	निम्न स्तर का सतुल्न	1
	परिशिष्ट रीतिविधान पर एक सक्षिप्त विषयान्तर	10
2	दुश्चक्र स मुक्ति	15
3	'आदि' पूजी सचय	26
4	धन का परिचलन	36
5	जनसख्या मे वृद्धि	47
6	आर्थिक विकास की अवस्थाए	57
	परिशिष्ट—क ऋण देने वाली सस्थाए और आर्थिक विकास	71
	परिशिष्ट—ख विकास के माप क विषय मे सक्षिप्त टिप्पणी	74
7	विकासशील अर्थ-व्यवस्थाओ म अन्तर्विरोध	79
8	आर्थिक विकास की युक्तिया—I	
	सतुलित उन्नति और कृषि विकास के उपाय	93
9	आर्थिक विकास की युक्तिया—II	
	पूजी निर्माण और औद्योगिक स्थान निधारण	115
10	विज्ञान, शिक्षा और विकास	138
11	मुद्रास्फीति, कराधान और आर्थिक विकास	153
12	अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार, सहायता और विकास	167
13	आर्थिक विकास मे सरकार का योगदान	206
14	आर्थिक प्रणालिया	217
15	उपसहार	231

1

निम्न स्तर का संतुलन

इतिहास पर दूर तक नजर डाली जाए तो टेक्नालाजी की उन्नति अथवा बाह्य प्रकृति पर मनुष्य के बढते हुए नियत्रण से मनुष्य-जाति की प्रगति का अपेक्षाकृत स्पष्ट संकेत मिलता है। अन्य बातों म इस क्रम विकास का निश्चयात्मक आकलन अधिक कठिन जान पड़ता है। निर्विवाद रूप से यह सिद्ध करना कठिन होगा कि बीसवीं सदी की मानव सभ्यता प्राचीन ग्रीक अथवा गुप्त साम्राज्य काल के भारत अथवा ताग वश के अधीन चीन की सभ्यता से उत्कृष्ट है परतु इसमें कोई सदेह नही हो सकता कि तकनीक की दृष्टि से हमारी शताब्दी इससे पहले की शताब्दियों से श्रेष्ठ है। यह श्रेष्ठता उत्तरोत्तर बढती गई है, खास तौर से अठारहवी शताब्दी से। परतु इसके साथ ही यह कह देना जरूरी है कि आधुनिक टेक्नालाजी का प्रसार ससार के सभी देशो मे एक समान नही हुआ। अतीत का अध्ययन किया जाए तो तकनीक की प्रगति की दृष्टि से सामाजिक विकास की स्थूल अवस्थाओं को निर्दिष्ट करना सम्भव है। लेविस ममफोर्ड ने अपनी पुस्तक 'टेक्नीक्स एण्ड सिविलाइजेशन' मे यही करने का प्रयास किया है। उन्होने तीन क्रमिक परतु परस्पर व्यापी एव परस्पर बिंधी हुई अवस्थाओ मे अन्तर स्थापित किया है, जिनके नाम उन्होने आदितकनीक[1], पुरातकनीक[2] और नवतकनीक[3] रखे हैं। तकनीक के विकास की अवस्थाओ की पहली तकनीक का आधार, शक्ति के प्राकृतिक स्रोत एव तदनुरूप सामग्री थी जिसके कारण इसे पानी और लकडी का तत्र कहा गया। दूसरी तकनीक का आधार कोयला और लोहा है और तीसरी विद्युत् एव मिश्र-धातुओ पर आश्रित है। ममफोर्ड के लिखने के बाद आधुनिक टेक्नालाजी के विकास की एक और अवस्था का प्रादुर्भाव हुआ और वह है परमाणु शक्ति।

आर्थिक विकास की परिभाषा, अगर वह ऐतिहासिक दृष्टि से सार्थक है, तो उसे क्रम विकास की पृष्ठभूमि के अनुरूप होना होगा। एक अर्थ मे देखा जाए तो प्रत्येक समाज एक साथ कई स्तरो पर चलता है। आगे बढती हुई अर्थ व्यवस्थाओ के बारे मे यह बात खास तौर से लागू होती है। औद्योगिक दृष्टि से विकसित देश मे भी आधुनिकी-

1 Eotechnic

2 Paleotechnic

3 Neotechnic

करण और विकास के कार्य, देश के सभी भागों में समान रूप से नहीं होते। परन्तु कुछ देश अन्य देशों की अपेक्षा आधुनिक टेक्नालाजी की तरफ अधिक अग्रसर हुए हैं। आर्थिक विकास की परिभाषा विभिन्न देशों में औद्योगिक क्रान्ति के परिमाण और प्रसार के इन अन्तरों पर आधारित होनी चाहिए। आर्थिक दृष्टि से विकसित देश उसे कहेंगे जहां उत्पादक गतिविधियों के अपेक्षाकृत विस्तृत क्षेत्र में आधुनिक विज्ञान और टेक्नालाजी का प्रयोग होता रहा है। पिछड़ी हुई अर्थ-व्यवस्था में स्थिति ठीक इससे उल्टी होती है। विज्ञान और टेक्नालाजी अधिक मौलिक चीज़े है जबकि राष्ट्रों की समृद्धि अथवा दरिद्रता काफी हद तक परिणाम मात्र है। चूंकि प्रति व्यक्ति आय जनसंख्या के अनुपात में प्राकृतिक संसाधनों जैसी बहुत-सी बातों पर आधारित होती है इसलिए इसे आर्थिक विकास का एक मात्र संकेतक मान लेना संतोषजनक नहीं है। यह कहना कुछ विशेष अर्थपूर्ण नहीं है कि आस्ट्रेलिया डेनमार्क अथवा जर्मनी से आर्थिक दृष्टि से अधिक विकसित है। इन देशों की प्रति व्यक्ति आय में जो अन्तर है उससे इस बात का ठीक-ठीक पता नहीं चलता कि इन देशों ने विज्ञान अथवा टेक्नालाजी को किस सीमा तक ग्रहण किया है। परन्तु यह कहना निश्चित रूप से अर्थपूर्ण होगा कि ये सारे देश आर्थिक दृष्टि से स्पेन, यूनान या भारत से, जहां आधुनिक टेक्नालाजी की प्रगति निश्चित रूप से सीमित है, अधिक विकसित हैं।

इस बात पर ज़ोर देना कि टेक्नालाजी की प्रगति विकास के लिए अत्यन्त अनिवार्य है, एक बात है, परन्तु यह तर्क करना कि विकसित देशों को हमेशा अत्यन्त उन्नत तकनीकों का ग्रहण करते रहना चाहिए बिल्कुल दूसरी बात है। आर्थिक विकास सामाजिक विकास की एक विस्तृत प्रक्रिया का अंग है। इस सरल से तथ्य की अवहेलना करने से नीति सम्बन्धी गम्भीर त्रुटियां हो सकती है। अकेले विकास की गति पर ही ध्यान देना विकास के लिए ही घातक सिद्ध हो सकता है। इन सारी बातों पर बाद में पूरी चर्चा की जाएगी।

आर्थिक विकास की परिभाषा के विवाद को एक सीमा से आगे ले जाना निष्प्रयोजन होगा। इससे तो यह समझने का प्रयत्न करना अधिक उपयोगी होगा कि राष्ट्रों की दरिद्रता किस प्रकार की है और उसके क्या कारण हैं, कौन-कौन-सी शक्तियां आर्थिक गतिरोध को बढ़ावा देती हैं तथा संसार के कुछ भागों में इन शक्तियों पर किस प्रकार विजय पाई गई है और अन्य देशों में इन पर किस प्रकार काबू पाया जा सकता है। संसार के विभिन्न देशों में आज प्रति व्यक्ति आय में बड़ी असमानता है। विज्ञान और टेक्नालाजी तो एक ओर 'एक विश्व' का संकेत करती हैं परन्तु दूसरी ओर इन असमानताओं से विदित होता है कि यह विश्व अपने में कितना विभक्त है। यह सोचना गलत होगा कि राष्ट्रीय आयों में ठीक-ठीक तुलना की जा सकती है, परन्तु निम्नलिखित आकड़े इसका कुछ संकेत अवश्य प्रस्तुत करते हैं। नार्टन गिन्सबर्ग ने 'एटलस आफ इकनामिक

डेवलपमेंट'[1] मे 1955 के ग्रासपास ग्रनेक देशो के प्रति व्यक्ति सकल राष्ट्रीय उत्पाद (जी० एन० पी०) का प्राक्कलन ग्रमरीकी डालरो मे किया है। इनमे कुछ इस प्रकार हैं :

	प्रति व्यक्ति सकल राष्ट्रीय उत्पाद (ग्रमरीकी डालरो मे)
ग्रमरीका	2,343
कनाडा	1,667
स्वीडन	1,165
यू० के०	998
सोवियत रूस	682
ग्रीस	239
मैक्सिको	187
घाना	135
श्रीलका	122
भारत	72
पाकिस्तान	56

हाल के जो ग्राकडे हैं उनसे भी ऊपर बताई गई स्थिति मे कोई विशेष ग्रन्तर नही दिखाई पडता। वास्तविक राष्ट्रीय उत्पाद की वृद्धि की दरो को देखा जाए तो कुछ विकासशील देशो की प्रगति बहुत सतोषजनक रही है परतु कुछ ग्रन्य देशो की प्रगति बहुत खराब है। उदाहरण के लिए 1960 से 66 की ग्रवधि के दौरान ताइवान, यूगोस्लाविया ग्रौर मैक्सिको की वार्षिक वृद्धि की दरे क्रमशः 10 0, 7 7 तथा 6 7 प्रतिशत थी, जबकि भारत ग्रौर इण्डोनेशिया के सम्बन्ध मे उसी दौरान के ग्राकडे क्रमश. मात्र 2 5 तथा 2 4 थे।[2] कुल मिलाकर निष्कर्ष यह निकलता है कि समय के साथ ग्राय के वितरण मे ग्रन्तर्राष्ट्रीय ग्रसमानताए बढी ही हैं, घटी नहीं। जैन टिनबर्गन ने ग्रपनी पुस्तक 'डेवलपमेंट प्लानिंग' (1967) मे जो ग्राकडे दिए हैं उनसे पता चलता है कि 1913 से

1 'एटलस ग्राफ इकनामिक डेवलपमेंट', शिकागो विश्वविद्यालय प्रेस, 1961 कभी-कभी ग्रार्थिक वृद्धि, 'विकास' ग्रौर 'प्रगति' मे ग्रन्तर किया जाता है। वृद्धि मे परिमाण का सकेत है जबकि 'प्रगति' मे उसके गुण वाले पहलू पर बल होता है। 'विकास' मे प्रवृत्तियो तकनीकी ग्रौर ग्रार्थिक सरचनाग्रो सम्बन्धी परिवर्तनो की ग्रभिव्यक्ति होती है। हम इन ग्रन्तरो की ग्रोर ध्यान न देकर समान ग्रर्थ मे इन शब्दो का प्रयोग करेंगे।

2 'डेवलपमेंट ग्रसिस्टेंस', ग्रार्थिक सहकारिता तथा विकास सगठन (ग्रो ई सी डी), दिसम्बर, 1970, तालिका 27, पृ० 210-11

1957 के बीच उत्तरी अमरीका की प्रति व्यक्ति आय दुगुनी हो गई जबकि दक्षिण-पूर्व एशिया में इसमें कोई अन्तर नहीं आया। संसार के दो सबसे बड़े जनतंत्रीय देशों की आयों के बीच अन्तर चौंका देने वाला है। 1968 तक के आंकड़ों पर आधारित विश्व बैंक के एक सर्वे के अनुसार संयुक्त राज्य अमरीका का प्रति व्यक्ति सकल राष्ट्रीय उत्पाद सातवें दशक के आखरी दौर में भारत की तुलना में चालीस गुना अधिक था। सामान्य भाषा में कहा जाए तो अनुमान है कि संसार के धनी देशों में, जहां दुनिया की आबादी का केवल छठा भाग रहता है, मोटे तौर पर संसार की आय का दो तिहाई हिस्सा चला जाता है। इस असमानता को कैसे दूर किया जाए यह आज की दुनिया की सबसे ज्यादा जरूरी समस्या है।

इंग्लैंड की औद्योगिक क्रांति की शुरुआत को आम तौर से अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध की किसी तारीख से माना जाता है। इस बात का अनुमान करने के लिए पुष्ट कारण है कि इतिहास के उस महत्वपूर्ण संक्रमण काल में विभिन्न देशों के बीच रहन-सहन के स्तर और आर्थिक विकास के स्तरों में अन्तर आज की तुलना में कहीं कम था। गुन्नार मरडल ने बताया है कि आर्थिक उन्नति की प्रक्रिया में, किस प्रकार उत्तरोत्तर असन्तुलन बढ़ता जाता है और एक अल्प विकसित प्रदेश विकसित प्रदेशों की तुलना में किस प्रकार अधिकाधिक रूप से पिछड़ता चला जाता है। इस विषय पर विस्तारपूर्वक चर्चा हम आगे चलकर करेंगे पर इसका एक पहलू है जिस पर हम अभी विचार कर लेना चाहते हैं। जो प्रदेश आर्थिक रूप से पिछड़े हुए होते है उनमें आपस में कई प्रकार का अन्तर होता है परन्तु कुछ बातें ऐसी भी होती हैं जो मोटे तौर पर समान होती हैं। गौर से जांच की जाए तो पता चलेगा कि ये बात ऐसी हैं जो परस्पर सम्बद्ध हैं। यह पारस्परिक सम्बन्ध इस प्रकार का है कि उससे सारे तंत्र में एक प्रकार की स्थिरता या जमाव आ जाता है। इसी के कारण, आर्थिक गतिरोध को तोड़ कर निकलना कठिन हो जाता है।

आर्थिक पिछड़ेपन के लक्षणों की लंबी सूची बनाना आसान है।[1] परन्तु वास्तव में महत्वपूर्ण बात यह समझना है कि किस प्रकार इनमें से अनेक लक्षण एक-दूसरे को पुष्ट करते हैं और इस प्रकार, जिस सामान्य स्थिति के वे उपादान है, उसको लंबे अर्से तक बनाए रखने में सहायक होते हैं। पिछड़ी हुई अर्थ व्यवस्थाओं में उत्पादन के पुराने तरीकों की प्रधानता होती है जिसके फलस्वरूप श्रम की उत्पादिता और प्रति व्यक्ति आय कम होती है। ऐसे देशों में बचत और निवेश की कमजोर प्रवृत्ति के साथ कीमती धातुओं को जमा करके रखने की ओर अधिक जोर होता है। आर्थिक पिछड़ेपन के अन्य लक्षणों में, उत्पादक पेशों में, कृषि की ओर, निश्चित रूप से अधिक झुकाव होना शामिल है। कृषि में भी अन्न के उत्पादन की प्रधानता होती है। बहुत अधिक निरक्षरता, बच्चों

1 विशेष विवेचन के लिए देखिए, एच० लीबन्स्टीन, 'इकनामिक बैकवर्डनेस एण्ड इकनामिक ग्रोथ', वीले, न्यूयार्क, 1957.

के श्रम का अधिक उपयोग तथा प्रत्याशित औसत आयु का बहुत कम होना अन्य महत्व-पूर्ण लक्षण है। औद्योगिक रूप से अधिकाश अल्प विकसित देशों में सामाजिक गतिशीलता कम होती है, शहरी या व्यापारिक केन्द्रों और देहातों के बीच का अन्तर बहुत व्यापक होता है और नवीन प्रक्रियाओं के प्रति प्रतिरोध सर्वत्र, परन्तु ग्रामीण क्षेत्रों में बहुत अधिक होता है। इन लक्षणों तथा इनके पारस्परिक सम्बन्धों के विषय में अब सक्षेप में चर्चा की जानी चाहिए।

सबसे पहले टेक्नालाजी के प्रश्न को लिया जाए। अर्ध विकसित देशों में, और खास तौर से विस्तृत देहाती क्षेत्रों में, उत्पादन के लिए प्रमुख बल, बहुत अर्थ से, मानव की सीमित और अनियमित शारीरिक शक्ति एव कुछ गिने-चुने, सीधे-सादे औजार हैं। इसके विपरीत विकसित देशों में, उत्पादन में मशीनों का बहुतायत से उपयोग होता है और वहा विद्युत शक्ति प्रमुख चालन-बल है। श्रम की कम उत्पादिता तकनीकी पिछडे-पन का परिणाम है। मशीनों (जैसे ट्रैक्टर अथवा स्वचालित करघा) का अभाव एव श्रमिक द्वारा काम में लाए जा सकने वाले ससाधनों (जैसे भूमि अथवा कच्चा माल) के परिमाण को बहुत कम कर देता है। श्रम के कम उत्पादन का अर्थ प्रति व्यक्ति कम आय है। यहा तक तकनीकी पिछडेपन और आर्थिक दरिद्रता का सम्बन्ध इतना सीधा है कि इसकी व्याख्या की आवश्यकता नही है। परतु इस सीधे सम्बन्ध के विस्तार में कुछ और बातें हैं जिनको देख लेना जरूरी है।

अल्प विकसित देशों म, समाज को उपलब्ध श्रमिक वग के बहुत बडे समूह को, आबादी के लिए निर्वाह की सामग्री पैदा करने के काम पर लगाया जाता है। निर्वाह की सामग्री म खाद्यान्न का स्थान प्रमुख है। इस प्रकार खेती जनता का मुख्य उत्पादक पेशा है। चूकि कृषि में श्रम की उत्पादिता कम होती है, श्रमिकों का बहुत बडा समूह खेती में ही लगा होता है। औद्योगिक दृष्टि से विकसित देशो मे, जनसख्या की खाद्यान्नों की पूरी आवश्यकता, श्रमिकों का एक-चौथाई समूह, या खेती म लगा इससे भी कम समूह पूरी कर सकता है। परतु ससार के गरीब प्रदेशों में आम किसान परिवार अपने निर्वाह से बहुत थोडा फालतू पैदा कर पाते है, वह भी केवल उन वर्षों में जबकि फसल अच्छी हो। इस प्रकार खाद्य उत्पादन में अधिक श्रमिक समूह को लगाकर ही जन-समु-दाय निर्वाह कर पाता है।

ऐसे देशों मे मुख्यतया खाद्यान्नों का ही उत्पादन होने का एक विशेष कारण है। यह सच है कि भूमि का उपयोग वैकल्पिक प्रकार की खाद्य सामग्री उत्पन्न करने मे किया जा सकता है। जैसे, उसमें फल और सब्जिया पैदा की जा सकती है या इससे अनाज पैदा किया जा सकता है अथवा भेडें पाली जा सकती हैं। परतु एक एकड जमीन से पैदा होने वाले खाद्यान्न की कैलोरी की मात्रा उसी जमीन से पैदा किए जा सकने वाले मास सम्बन्धी पदार्थों से कही अधिक होती हैं। वास्तव में अनुमान लगाया गया है कि पाच से सात एकड में पशु-पालन के द्वारा जितनी कैलोरी के खाद्य-पदार्थ पैदा होंगे उतनी कैलोरी

का अनाज एक एकड़ में पैदा हो जाएगा। चूंकि एक न्यूनतम मात्रा में कैलोरी जीवन के लिए आवश्यक है, इसलिए जो देश निर्वाह के स्तर पर होते हैं उन्हें मजबूरन अपने यहां खेती में मुख्यतया खाद्यान्न ही पैदा करने होते हैं। ऊंचाई पर स्थित भूमि में, जहां *आबादी का घनत्व कम होता है और साथ ही जंगल के इलाकों में*, पशुओं से सम्बन्धित पदार्थों पर अधिक निर्भरता होती है परंतु गरीब देशों के मैदानी भाग में खाद्यान्नों के उत्पादन को ही प्रधानता दी जाती है। इसका परिणाम यह है कि सामान्य आहार असंतुलित होता है और नाना प्रकार के रोगों के प्रति लोगों की प्रतिरोध शक्ति कम होती है।

गरीब देशों में औपचारिक शिक्षा के अभाव का कारण आर्थिक ही है। गतिशील अर्थ-व्यवस्था में शिल्प तथा तकनीकें निरन्तर बदलती रहती हैं। परन्तु गतिहीन अर्थ-व्यवस्था में तकनीकें पीढ़ी दर पीढ़ी वैसी की वैसी रहती हैं और एक ही प्रकार के शिल्प पिता से पुत्र को मिल जाते हैं। परिवार के अन्तर्गत शिल्प और कुशलता की वंशानुगत सिखलाई किसी तरह की पढ़ाई के बिना ही हो जाती है। इस प्रकार, समाज में सामूहिक साक्षरता का आर्थिक मूल्य दूसरे समाज से कम होता है। इस प्रकार के समाज में, कुछ विशेष प्रयोजनों के लिए एक शिक्षित समुदाय की आवश्यकता होती है जिससे पौरोहित्य अथवा साहित्य से सम्बन्धित एक विशिष्ट वर्ग का प्रादुर्भाव हुआ। परन्तु टेक्नालाजी इस *प्रकार की रही कि उसके लिए साधारण जन समुदाय की तरफ से औपचारिक शिक्षा में* रुपया खर्च करने की आवश्यकता न रही। अगर बच्चे स्कूल गए भी तो उनकी शिक्षा, *सामान्यतया अक्षर ज्ञान और प्रारम्भिक गणित और उसके साथ जबानी तौर पर लोक-*गाथा की जानकारी तक सीमित रह जाती है।

रहन-सहन के निम्न स्तर पर असंतुलित आहार, आवास की खराब व्यवस्था और सार्वजनिक स्वास्थ्य की बुरी स्थिति के कारण मृत्यु दर का ऊंचा होना स्वाभाविक है। ऐसी परिस्थिति में जन्म दर भी अक्सर ऊंची होती है। इस प्रकार बड़ी संख्या में बच्चे पैदा होते हैं परन्तु अपेक्षाकृत बहुत कम मनुष्य के जीवन की सामान्य उत्पादक अवधि को पूरा कर पाते हैं। इनके साथ एक और बात यह शामिल हो जाती है कि औपचारिक शिक्षा और प्रशिक्षण के लिए बहुत थोड़ा रुपया लगाने की जरूरत होती है या यों कहिए बहुत कम रुपया खर्च करना जरूरी समझा जाता है। यही कारण है कि बहुत छोटी अवस्था में, बहुत बड़ी संख्या में बच्चे, किसी न किसी उत्पादक कार्य में लगा दिए जाते हैं। बच्चों द्वारा श्रम अपने में कारखानों की देन नहीं है। परन्तु इन दो परिस्थितियों में महत्वपूर्ण सामाजिक और मनोवैज्ञानिक अन्तर है। एक में बच्चे अपने परिवार के साथ खेती या घर के ही उद्योग में काम करते हैं और दूसरी में कारखानों में ऐसी परिस्थितियों और अनुशासन की प्रणालियों में जो इनके वातावरण से बिल्कुल भिन्न है।

पारम्परिक अर्थ व्यवस्थाएं गतिहीनता की अवस्था में आ जाती हैं जहां जन

सख्या का आकार इस बात से निर्धारित होता है कि टेक्नालाजी की स्थिति और व्यापार के सीमित अवसरो के अधीन उपलब्ध भूमि और अन्य साधन कितनी जनसख्या का निर्वाह कर पाते हैं। जनसख्या मे वृद्धि होने पर खाद्यान्नो की पूर्ति उसके अनुपात मे कम होती है, और अधिक सामान्य भाषा मे कहा जाए तो, जो भी अतिरिक्त निवेश किया जाएगा उससे कुल उपलब्धि सब तरफ कम ही होगी। इस प्रकार जो अर्थ-व्यवस्था इस स्थिति मे पहुच जाती है उसमे कई दिलचस्प बातें देखने मे आती हैं। इसमे इतना ही नही कि तक्नीकी विकास की सभावनाए स्थिर हो जाती हैं बल्कि इसकी जनसख्या भी प्रायः स्थिर हो जाती है या बहुत कम बढती है। उत्पादक निवेश से होने वाला सीमात लाभ कम होने के कारण पूजी बहुत धीमी गति से ही बढ सकती है। अर्थ-व्यवस्था को अपने 'निम्न स्तर के सतुलन' से अगर अस्थायी तौर से हटा भी दिया जाए तो वह जल्दी ही अपनी पुरानी स्थिति मे वापस आ जाती है।

एडम स्मिथ ने अपनी पुस्तक 'द वेल्थ आफ नेशन्स' के प्रथम खण्ड के श्रम और मजूरी वाले अध्याय मे चीन का जो विवरण दिया है वह, 'निम्न स्तर पर सतुलन' का जो ब्यौरा हमने ऊपर दिया है, उससे बहुत मेल खाता है। एडम स्मिथ लिखता है, 'मार्को-पोलो ने, जो 500 वर्ष पहले वहा (चीन) गया था, वहा की खेती, उद्योग और जन-सख्या का उसी प्रकार वर्णन किया है, जैसा कि अब चीन जाने वाले यात्री करते है।' उसने आगे कहा है :

> चीन चाहे स्थिर हो गया हो पर ऐसा प्रतीत नही होता कि पिछड गया हो। सालो साल प्रायः वही श्रम करते चलना होगा और जाहिर है कि श्रम को कायम रखने के लिए उस पर होने वाले खर्च को कम नही किया जाएगा। इस प्रकार, बहुत ही गरीब दर्जे के गुजारे के बावजूद निम्नतर श्रेणी के श्रमिकों को किसी न किसी तरह अपनी सामान्य सख्या बनाए रखने के लिए उस दौड मे शामिल रहना होगा।[1]

इस प्रकार, यह स्थिर स्थिति एक सैद्धान्तिक विचार मात्र नही है वरन् आर्थिक विकास की एक विशेष अवस्था मे जो वास्तविक स्थिति होती है, मोटे तौर से यह उसके अनुरूप है।

आधुनिकीकरण के प्रभाव का अनुभव करने से पहले बहुत-से देशो मे जो निम्न स्तर के सतुलन की सापेक्ष स्थिरता देखने मे आती थी, वह आर्थिक और सास्कृतिक कारणो के समान प्रभाव के कारण थी। एडम स्मिथ, माल्थस और रिकार्डो जैसे सस्थापक अर्थशास्त्रियो को उस तन्त्र का काफी स्पष्ट ज्ञान था जिसके द्वारा एक पिछडी हुई अर्थ-व्यवस्था अपने को स्थिरता की स्थिति मे कायम रख पाती थी जिसमे यदि कोई स्थायी

---

1 एडम स्मिथ, द वेल्थ आफ नेशन्स', एवरीमैन्स लाइब्रेरी, डेण्ट एण्ड सन्स, लदन, 1960, खड 1, पृ॰ 63-64

उतार-चढाव होते भी थे तो वे बहुत ही सीमित दायरे में होते थे। इन अर्थशास्त्रियों ने ये बातें उस समय लिखी थी जब औद्योगिक विकास पश्चिमी योरप में गति प्राप्त कर रहा था। परंतु इनमें से कुछ के विचारों में थोडी निराशा की झलक थी और उसका मुख्य कारण यह था कि वे इस बात की कल्पना न कर सके कि कृषि मे विकास की असीम सम्भावनाएं हैं और इसके कारण उन्होंने स्थिर स्थिति का आ जाना अनिवार्य समझा। उनकी इस व्याख्या का आधार बहुत काफी हद तक माल्थस के जनसंख्या सिद्धान्त का कोई न कोई रूप था। सच तो यह है कि इस सिद्धान्त मे प्रतिपादित प्रमुख विचार तो माल्थस से भी पुराने हैं। उदाहरण के लिए, इस प्रकार के विचार सोलहवीं शताब्दी के दार्शनिक बोटेरो की रचनाओं में देखने को मिल जाते हैं। मुख्य विचार बहुत सरल है। कृषि मे तकनीकी गतिरोध के कारण अनिवार्य रूप से एक ऐसा बिन्दु आ जाता है जबकि जनसंख्या के बढने पर भूमि पर जो भी दबाव पडता है उससे भूमि के उत्पादन में क्रमागत ह्रास होता जाता है। जीवन निर्वाह का निर्धारण जीवित जगत और सामाजिक रीतियों से होने के कारण एक ऐसी स्थिरता की स्थिति उत्पन्न हो जाती है जिसमें जन-साधारण के लिए रहन-सहन का स्तर मोटे तौर पर निश्चित रहता है और जनसंख्या के आकार में बहुत थोड अर्से का परिवर्तन होता है (उदाहरण के लिए अचानक महामारी होने से कोई परिवर्तन हो जाए) और जनसंख्या मे अगर कोई वृद्धि होती भी है तो उसकी गति बहुत धीमी होती है।

पिछडी हुई अर्थ-व्यवस्था के लिए, निम्न स्तर के सतुलन मे से निकल पाना क्यों कठिन है इसकी कई तरह से व्याख्या की जा सकती है। इनमे से अधिकाश व्याख्याएं ऐसी होंगी जिनका सम्बन्ध कृषि की गतिहीनता से पैदा होने वाले दबाव और उसके परिणाम-स्वरूप मजूरी सम्बन्धी माल की पूर्ति के कम या अधिक न हो सकने से है। मान लीजिए एक देश, कुछ वस्तुओं का निर्यात करता है और उन वस्तुओं में से किसी एक वस्तु की विदेश मे अचानक मांग बढ जाती है। अब कुछ व्यापारी अधिक मुनाफा कमाने लगेंगे पर प्रश्न यह उठता है, इससे होने वाली उन्नति क्या कायम रहेगी? जो परिस्थितियां हैं, उनमे ऐसा सम्भव प्रतीत नहीं होता। ज्यादा सभावना इस बात की है कि कुछ व्यक्तियों की मांग बढ जाने से आवश्यक वस्तुओं की जो पूर्ति घट बढ नहीं सकती, उस पर दबाव पडने के कारण मुद्रा-स्फीति की स्थिति उत्पन्न हो जाएगी।

स्वदेश में बाजार की सीमा, आर्थिक पिछडेपन के बने रहने का एक मुख्य कारण है। इस पर किसी एक उद्योग विशेष मे निवेश के द्वारा काबू नहीं पाया जा सकता। लीबेन्स्टीन जैसे कुछ अर्थशास्त्रियों ने आर्थिक पिछडेपन को तोड कर बाहर निकलने के लिए 'असाधारण न्यूनतम प्रयत्न' की बात कही है। प्रयत्न की मात्रा मे जोर देने के कारण यह कुछ भ्रामक-सा प्रतीत हो सकता है। वास्तव म प्रयत्न को सार्थक बनाने के लिए कई क्षेत्रों में एक साथ काम करना जरूरी होगा जैसे उद्योगों के अलावा कृषि, व्यापार और परिवहन आदि। यह काम ऐसा है जो बहुत-से अल्प विकसित देशों के बूते के बाहर

है। अन्य बातो के अलावा, विद्यमान ऋण देने वाली संस्थाओं की व्यवस्था और नई, नई बातों को लाने और जोखिम उठाने के सम्बन्ध मे उनके विचार बाधा उपस्थित करते हैं। पारम्परिक अर्थ-व्यवस्था का यह अनिवार्य लक्षण है कि उसमे उत्पादन की विद्यमान विधियो मे निरतर और व्यवस्थित सुधार लाने की क्षमता का विकास नही होता। अगर इस बात को समझ लिया जाए तो पारम्परिक अर्थ-व्यवस्था की प्रवृत्तियो, संस्थाओ और उसकी रूढिवादिता मे एक विशेष प्रकार की सगति का अभाव प्रतीत नही होगा। पिछडी हुई तकनीको एव परिवहन के साधनो तथा छोटी सी प्रादेशिक सीमाओं के अन्दर आत्म-निर्भरता प्राप्त करने का प्रयत्न युक्तिपूर्ण प्रतीत होता है। इस बात के कुछ प्रमाण मिलते हैं जिनसे पता लगता है कि इस प्रकार की अर्थ-व्यवस्थाओं मे समाधनो का जो निर्धारण होता है, वह एक अवधि के दौरान नैसर्गिक समायोजन की प्रक्रिया के द्वारा, विद्यमान सामाजिक प्रतिबन्धो के अन्तर्गत प्राय अनुकूलतम ही होता है। विनिमय की एक व्यापक प्रणाली के आधार पर और अधिक उचित बटवारा किया जा सकता है या उन्ही समाधनो से तकनीकी सुधार के द्वारा अधिक उत्पादन प्राप्त किया जा सकता है। पर यह दोनों बातें भिन्न हैं।

पारम्परिक समाज मे सुरक्षा को जोखिम उठाने से कही अधिक महत्व दिया जाता है। यह बात, जिसे हम 'सामूहिक युक्तियुक्तता' कहेगे, उसके साथ ठीक बैठ जाती है क्योंकि तकनीकी दृष्टि से स्थिर समाज मे, जोखिम उठाने के किसी सफल काम से, सारे समुदाय की सम्पदा मे वृद्धि न होकर सामान्यतया आय का पुनर्वितरण मात्र हो जाता है। ऐसा समझा जाता है कि धन के इस प्रकार पुनर्वितरण से सामाजिक एकता का विघटन होता है। सूदखोरी के प्रति प्राचीन और मध्यकालीन रवैये की भी इस आधार पर व्याख्या की जा सकती है। जब अधिकाश ऋण उपभोग के लिए लिये जाए तब उन पर ब्याज लेना अप्राकृतिक प्रतीत होता था।[1] सास्कृतिक कारण शक्तिहीन और पिछडी हुई अर्थ-व्यवस्था मे किस प्रकार स्थिरता लाते है इसके विविध कारण है और इस विषय पर पूरी चर्चा हम यहां नही करेंगे। पूरब और पश्चिम दोनों मे पारम्परिक सस्कृति के अनुसार सामाजिक व्यवस्था श्रेणीबद्ध थी और इस धर्म-तन्त्र से व्यापारियो को निम्न स्थान दिया गया था। उत्पादन की विधिया और जीवन की पद्धति एक ढाचे मे ढली थी और भारत मे जाति व्यवस्था ने व्यवसायो को धार्मिक मान्यता दे दी थी। पारम्परिक समाज अपने सदस्यो को कुछ हद तक एक सुरक्षा भी प्रदान करता था जिसके कारण लोगो मे उस सामाजिक व्यवस्था को सुरक्षित रखने की प्रवृत्ति हो जाती थी। इस प्रकार नई बातो और विचारो को लाने मे कई कठिनाइया हो जाती थी जैसे कि एक ओर तो बाजार की कमी, और दूसरी ओर सामान्य जनता की पुरानी लीक पर चलने और

1 सभी प्राचीन समाजो मे सूदखोरी के प्रति रवैया समान रूप से कठोर नही था। उदाहरण के लिए यहूदी धर्म ईसाई धर्म और इस्लाम के प्रभाव मे अन्तर्गत देशो की तुलना मे भारत मे इसके प्रति रवैया कम कठोर था।

पुरानी बातो के प्रति लगाव। इस प्रकार आदिकालीन टेक्नालाजी एक संस्कृति से सम्बद्ध हो जाती थी जो उस टेक्नालाजी में परिवर्तन की अवरोधक हो जाती थी।

एक ज़माना था जब कि इस बात पर जोर दिया जाता था कि पिछड़े देशों के आर्थिक विकास के रुक जाने का मुख्य कारण उपलब्ध बचत का अभाव है। यह बताया जाता था कि दरिद्रता के कारण बचत करना कठिन है और बचत तथा पूजी के न होने के कारण दरिद्रता को समाप्त करने का कोई तरीका नही है। पूजी लगाने के लिए अतिरिक्त धन के अभाव के कारण दरिद्रता के द्वारा दरिद्रता के उत्पन्न होने के दुश्चक्र की व्याख्या का एक तरीका यह है। परतु इस वक्तव्य मे पारम्परिक समाजों के विषय मे सारे तथ्य शामिल नही हो जाते क्योंकि इन समाजो मे कुछ अतिरिक्त धन होना जरूर है। इन समाजो मे से अधिकाश म एक पारम्परिक अभिजात वर्ग होता है जिसमे सुप्रकट रूप मे उपभोग की तीव्र प्रवृत्ति होती है। महत्वपूर्ण मात्रा में बचत या उपभोग न करने की प्रवृत्ति भी होती है जिसको बहरहाल पूजी निवेश नही कह सकते क्योंकि इससे देश की उत्पादक परिसम्पत्ति मे कोई वृद्धि नही होती। उदाहरण के लिए काफी मात्रा मे बचत मूल्यवान धातुओ के रूप मे होती है। स्मारक और मदिर, इस प्रकार के समाजो द्वारा तुरत उपभोग को छोड़कर अन्य कार्यो के लिए ससाधनो को अलग रख देने की क्षमता को प्रमाणित करते है। इस प्रकार, यह स्पष्ट है कि ऐसी अतिरिक्त पूजी तो अवश्य है जिसका निवेश किया जा सकता है परतु जिसे उत्पादक कार्यों मे लगाया नही जाता। आर्थिक *और सास्कृतिक बातो का एक साथ अध्ययन करने से ही इस प्रकार की व्याख्या सम्भव* हो सकती है।

परिशिष्ट

रीतिविधान पर एक सक्षिप्त विषयान्तर

सस्थापित अर्थशास्त्र के उद्भव के बाद अर्थशास्त्र म रीतिविधान के प्रश्न पर एक बहस चल पड़ी। यह बहस जो बहुत अर्से तक चलती रही 19वी शताब्दी के अन्तिम पच्चीस वर्षों के प्रारम्भ मे विशेष तीव्र हो गई थी और उसकी प्रतिध्वनि आज तक भी महसूस की जा सकती है। एडम स्मिथ की पुस्तक 'द वेल्थ आफ नेशन्स' मे जिसे आर्थिक पिछडेपन के कारणो और आर्थिक विकास के सम्बन्ध मे सबसे पहला और अत्यन्त सूक्ष्म विवेचन माना जाना उचित है सिद्धान्त और इतिहास का अद्भुत मेल है। इस प्रकार, तीसरे खण्ड के लिखते समय एडम स्मिथ ने विभिन्न राष्ट्रो मे धन सम्पत्ति की पृथक पृथक् उन्नति वाले अध्याय मे आर्थिक इतिहास को महत्वपूर्ण स्थान दिया है। परतु अन्यत्र खास तौर से प्रथम खण्ड के उन भागो मे जहा वह वस्तुओं के प्राकृतिक और बाजार भाव के बारे मे सिद्धान्त निर्धारित करने की कोशिश करता है, वहा इतिहास का

स्थान गौण हो जाता है और कभी कभी पूर्व कल्पित विचारो को सहारा देने के लिए एक प्रकार के छद्म इतिहास का समावेश किया गया है। उदाहरण के लिए 'वह सामान को एकत्र करने और भूमि के वितरण से पूर्व समाज की आदिम अवस्था मे' शिकारियो के एक राष्ट्र की चर्चा करता है और यह प्रतिपादित करता है कि अगर एक ऊदबिलाव को मारने मे एक हिरन से दुगना श्रम पडता हो तो इस अवस्था म यह 'स्वाभाविक' है कि एक ऊदबिलाव दो हिरनो से बदला जाएगा। परतु यह मान लेना कठिन है कि समाज की उस आदिम अवस्था म इस प्रकार के सगठित बाजार होंगे जिनकी चर्चा स्मिथ ने की है और न दो शिकारियो के बीच म हुए किसी सौद से कोई ऐसा मूल्य निर्धारित हो सकेगा जिसे सामान्यतया लोग स्वीकार करें।

रिकार्डो तक आते आते हम देखते है कि अमूर्त सिद्धान्तीकरण मे बहुत प्रगति हो गई। रिकार्डो की तरह के मूल्य के सिद्धान्त की पुष्टि के लिए बाजारो की सरचना तथा श्रम एव पूजी की गतिशीलता के सम्बन्ध म ही नही, वरन् उत्पादन के विभिन्न क्षेत्रो मे श्रम और पूजी व मिश्रण के अनुपात के सम्बन्ध मे अनेक प्रकार के पूर्वानुमानो की आवश्यकता होती है। यहा पर यह बात महत्त्वपूर्ण नही है कि मूल्य का यह सिद्धान्त कितना गलत या सही है बल्कि महत्व की बात यह है कि इसके परिणामस्वरूप, एक नये प्रकार की बौद्धिक विचारणा तथा इससे सम्बन्धित तर्कपूर्ण चुनौतियो को उत्कर्ष मिला और भविष्य मे अर्थशास्त्र के कतिपय मूर्धन्य विचारकों का ध्यान इसने आकर्षित किया।

कुछ सीमा तक, इस विचार ने, एडम स्मिथ द्वारा आरम्भ किए गए राष्ट्रों के धन के कारणो की जाच के मुख्य विषय से, ध्यान दूसरी तरफ को मोड दिया। फ्रीडरिक लिस्ट (1789- 1846) पहला लेखक था जिसका ध्यान इस प्रवृत्ति की ओर गया था और उसने इसकी भर्त्सना की थी। 'द नेशनल सिस्टम आफ पोलिटिकल इकनामी' के बारहवें अध्याय मे लिस्ट ने बताया है कि एडम स्मिथ की पुस्तक मे श्रम की उत्पादक शक्ति के सिद्धान्त के तत्त्वों के साथ साथ विनिमय के सिद्धान्त की प्रारम्भिक बातें विद्यमान हैं। उसने यह शिकायत की है कि स्मिथ के अनुयायी पहली बात पर कम-कम और दूसरी बात पर ज्यादा ज्यादा ध्यान देते गए जिसका नतीजा यह हुआ कि मूल्य के सिद्धान्त के अलावा और बात एकदम गौण हो गई और 'हाल के कुछ अग्रेज लेखकों' ने अर्थशास्त्र की परिभाषा 'विनिमय के विज्ञान'[1] के रूप मे की है। इन शब्दो से हमें ह्वेटले जैसे लोगो की खास तौर से याद आ जाती है जो अर्थशास्त्र को 'कैटलैक्टिक्स' या विनिमय का विज्ञान कहना चाहते थे। अर्थशास्त्र की प्रमुख विचारधारा मूल्य का सिद्धान्त है, यह बात अग्रेज लेखको तक ही सीमित नहीं रही। फ्रास मे भी कई प्रमुख विद्वानो ने इस विचार का प्रतिपादन किया।

इस प्रवृत्ति के विरुद्ध प्रतिक्रिया ने, 'विशुद्ध सिद्धान्त अथवा 'अमूर्त' सिद्धान्ती-

1 फ्रीडरिक लिस्ट, द नेशनल सिस्टम आफ पोलिटिकल इकनामी, लागमैंस, ग्रीन एण्ड कपनी, लदन 1909 पृ० 109 12

करण के विरोध का रूप लिया। जर्मन ऐतिहासिक मतवादियों ने इस विरोध को कायम रखने में प्रमुख भाग लिया। ऐतिहासिक मतवादी प्राकृतिक और सामाजिक विज्ञानों के बीच एक स्पष्ट अन्तर रखना चाहते थे और इसके द्वारा इस बात पर ज़ोर देना चाहते थे कि समाज निरन्तर परिवर्तन और विकास की स्थिति में है। उनका विचार था कि समाज के इस विकासमान गुण एवं अर्थशास्त्र के एक सामाजिक विज्ञान होने के कारण इसकी अमूर्त संकल्पनाएं तथ्यों से अलग हो जाती हैं और वे इस बात पर ज़ोर देना चाहते थे कि आर्थिक अन्वेषण में सबसे अच्छा यह होता है कि तथ्यों को अपनी बात स्वयं कहने दिया जाए। विशुद्ध सिद्धान्त के समर्थकों ने इस आलोचना का उत्तर यह कहकर दिया कि कोरे तथ्य इतने विविध और विरोधी होते हैं कि अपनी बात स्वयं नहीं कह पाते और चाहे विज्ञान सामाजिक हो या प्राकृतिक अमूर्त विवेचन उसके लिए अनिवार्य है और इस विधि को अपना कर ही अर्थशास्त्र एक विज्ञान के रूप में विकसित हो सकता है।

ऐतिहासिक मतवादियों का इस रूप में अमूर्त विचारों का विरोध करना गलत था। जिन लोगों ने रीतिविधान की बहस में हिस्सा लिया था वे अपने मतभेद के कारणों को आम तौर पर समझ नहीं पाए थे। *सच तो यह है कि अर्थशास्त्र को क्या अध्ययन* करना चाहिए इसके विषय में उनके विचार कुछ और थे। जर्मन ऐतिहासिक मतवादी जिन नव क्लासिकी अर्थशास्त्रियों के साथ व्यर्थ की बहस में पड़ गए थे उनकी आर्थिक *पिछड़ेपन के कारणों के अन्वेषण में वस्तुतः कोई दिलचस्पी नहीं थी। ऐसी बात नहीं है* कि अमूर्त विवेचन करने के कारण उनकी विधियां गलत ही हों परन्तु आर्थिक विकास के सिद्धान्तों के निरूपण में वे विशेष उपयोगी नहीं थीं। जे० एन० केन्स ने विशेष रूप से उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में अपनी रचनाओं में रीतिविधान के विवाद में जो मूल भ्रम उत्पन्न हो गए थे उनका स्पष्ट विवेचन किया है। अपनी पुस्तक द स्कोप एण्ड मथड आफ पोलिटिकल इकनामी में उसने अमूर्त विवेचन के प्रतिपादकों के प्रति अपनी सहानुभूति छिपाई नहीं है परन्तु उसने यह महत्त्वपूर्ण वक्तव्य देना उचित समझा कि आर्थिक प्रगति का सिद्धान्त आर्थिक सिद्धान्त के अन्य अंगों की तुलना में सामान्य समाजशास्त्र के प्रति अधिक आश्रित है। वह आगे कहता है ऐतिहासिक मत के कुछ सदस्य जाने या अनजाने आर्थिक विकास के अध्ययन को पूरे अर्थशास्त्र के अन्तर्गत ही मानते हैं। परिणामतः आर्थिक अन्वेषण में ऐतिहासिक विधि को तुलनात्मक दृष्टि से वे बहुत अधिक महत्त्व देते हैं।[1] इससे रीतिविधान सम्बन्धी विवाद को सही परिप्रेक्ष्य में रखने में मदद मिलती है। आर्थिक विकास का अध्ययन करते समय अक्सर ऐसे प्रश्न सामने आते हैं जिनका इतिहास और समाजशास्त्र की मदद के बिना समाधान नहीं किया जा सकता। ऐसे लोग अब अधिक नहीं हैं जो ऐतिहासिक मतवादियों की धारणा का समर्थन

1 जे० एन० केन्स द स्कोप एण्ड मथड आफ पोलिटिकल इकनामी मैकमिलन लदन चौथा सस्करण 1917 (प्रथम सस्करण 1890) पृ० 147

कर। हाल में आर्थिक विकास के प्रति अभिरुचि बढ़ जाने के कारण इस बात को ज्यादा स्वीकार किया जाने लगा है कि आर्थिक विवेचन में समाजशास्त्रीय पहलुओं का अध्ययन प्रासंगिक है। काल्डोर ने जो इतिहासकार से अधिक सिद्धान्तनिरूपक थे लिखा है कि आर्थिक विकास के सच्चे सिद्धान्त में अर्थशास्त्र और समाजशास्त्र का कुछ न कुछ समन्वय वांछित होगा।[1] ज्यादातर लोग आज इस राय से सहमत हैं।

विश्लेषण की विधियां विज्ञान की अनुगामी हैं जबकि विज्ञान का मुख्य काम किसी शाखा विशेष में ज्ञान को व्यवस्थित रूप देना है। आर्थिक विकास के विज्ञान में अमूर्तकरण और विशेष रूप से गणितीय विश्लेषण विधियों का जहां पर इनके प्रयोग से लाभ हो अवश्य प्रयोग किया जाना चाहिए। आर्थिक विकास की योजनाएं बनाते समय परिमाण सम्बन्धी विश्लेषण अनिवार्य है परन्तु आर्थिक प्रगति के सिद्धान्त का सम्बन्ध योजना बनाने मात्र से नहीं होता। यह सिद्धान्त अतीत में हुए आर्थिक विकास को और गहराई से समझने में हमारी मदद करता है। यहां पर गणितीय और विशेष रूप से सांख्यिकीय विश्लेषण बहुत उपयोगी है। जहां कहीं भी उपलब्ध आंकड़े अथवा जिस ज्ञान को व्यवस्थित करना है उसमें इसके उपयोग की गुंजाइश हो वहां इसका उपयोग किया जाना चाहिए। इसका मतलब यह नहीं है कि जिस सूचना को गणित के आधार पर छानबीन नहीं की जा सकती उसको इसके कारण कम महत्व दिया जाए या महत्व ही न दिया जाए। उदाहरण के लिए हमें यह जानने की जरूरत पड़ सकती है कि धर्म ने आर्थिक विकास पर अच्छा या बुरा क्या प्रभाव डाला ? हमारे पास इस विषय में दिलचस्प सूचना उपलब्ध हो सकती है और यह ऐसी हो सकती है जिसका विशुद्ध रीति से गणित के अनुसार अध्ययन न किया जा सकता हो। अर्थशास्त्र में कुछ कारणों से उत्पन्न होने वाले कतिपय प्रभाव इतने पेचीदा होते हैं और वे इतने धीरे धीरे और इतनी लंबी अवधि में कार्य करते हैं कि इनमें अन्तर्ग्रस्त विविध बातें किस प्रकार सम्बन्धित हैं इसका निदर्शन कई मामलों में स्पष्ट रूप से नहीं किया जा सकता बल्कि मोटे तौर पर ही किया जा सकता है। इस प्रकार का ज्ञान तथा सही तौर पर उपलब्ध ज्ञान अध्येता और नीति निर्माता दोनों के लिए उपयोगी है। आर्थिक विकास की व्यावहारिक समस्याएं किन्हीं दो देशों में एक सी कभी नहीं होतीं। विकास की प्रक्रिया को विशुद्ध रूप से समझ लेने से एक सामान्य भूमिका तैयार होती है जिसमें विशिष्ट समस्याओं को एक परिप्रेक्ष्य में देखा जा सकता है।

कुछ लोग जो यह महसूस करते हैं कि इतिहास और समाजशास्त्र अर्थशास्त्र के अध्ययन के लिए अपरिहार्य है उनका अब भी झुकाव यह होता है कि इस प्रकार के अध्ययन को अर्थशास्त्र का अंग न मानकर उचित रूप से इतिहास अथवा समाजशास्त्र का अंग माना जाए। इस प्रकार हम एक बार फिर उसी विवाद में वापस आ जाते हैं जो

1 एन० काल्डोर इकनामिक इस्टेबिलिटी एण्ड ग्रोथ डकवर्थ लंदन 1960 पृ० 237 238

ऐतिहासिक मतवादियो और 'विशुद्ध' अर्थशास्त्रियो के बीच था। विशुद्ध अर्थशास्त्रियो ने, एक परिधि के अन्तर्गत समस्याओ के अध्ययन मे, जिनका सम्बन्ध प्रमुख रूप से ऐसे देशो से है जिन्होने पारम्परिक अर्थ-व्यवस्था से अपना सक्रमण पूरा कर लिया है, विश्लेषण की कतिपय विधियो का विकास कर लिया है और वे उसके आदी हो गए है। उन विधियो के अनुसार अर्थशास्त्र की परिभाषा करने मे अब उन्हे सुविधा होती है। बाकी को वह 'इतिहासकार' पर छोड देना चाहते है। अगर इतिहासकार और अर्थशास्त्री दोनो आर्थिक इतिहास के विषय मे लिखें तो दोनो के निष्कर्ष एक नही होगे। इसी प्रकार चाहे अर्थ-शास्त्री और समाजशास्त्री एक ही विषय का अध्ययन करे परन्तु उनकी बौद्धिक अभिरुचि एक जैसी नही हो सकती। गहरे आर्थिक महत्व के कुछ सवालो का उत्तर यदि अर्थशास्त्र की सामान्य रीतियो द्वारा न दिया जा सके तो अर्थशास्त्रियो द्वारा, समाज-शास्त्री या इतिहासकार को समस्या का हल खोजने के लिए छोड देने मात्र से वह हल नही हो जाएगी। वह उस हद तक उनके निष्कर्षों का उपयोग कर सकता है जिस हद तक उसे उनकी जरूरत हो, परन्तु, जो रीतिया उसके लिए उपयोगी हो, उनका प्रयोग करके उसे अपने प्रश्नों का उत्तर स्वय निकालना चाहिए।

2

दुश्चक्र से मुक्ति

हम यह देख चुके है कि आर्थिक पिछड़ेपन के लक्षण किस प्रकार एक-दूसरे से सम्बन्धित है और एक-दूसरे को सहारा देते हैं। इनके कारण आर्थिक पिछड़ापन, एक प्रकार से, अपने-आपको बनाए रखता है। इसकी विशेष व्याख्या की आवश्यकता नही। बहुत से देशो मे एक लम्बे अर्से तक दरिद्रता और आर्थिक गतिहीनता क्यो बनी रही ? वास्तव मे विकास और उन्नति को एक विशेष घटना मानना चाहिए। कुछ देश दरिद्रता के दुश्चक्र से निकल पाए। प्रश्न यह है कि आर्थिक पिछड़ेपन की जो प्रक्रिया है उसमे से ये देश कैसे आर्थिक गतिरुद्धता को जीतकर सतत विकास के रास्ते पर आगे बढ सके ?

इस प्रश्न का कुछ उत्तर पाने के लिए पहले सरसरी तौर से इतिहास के कुछ तथ्यो पर निगाह डालनी चाहिए। चूकि इतिहास अपनी पुनरावृत्ति नही करता इसलिए आज के अल्प विकसित देशो के आर्थिक विकास का रास्ता उन देशो से भिन्न होगा जो अतीत मे आर्थिक गतिरोध से बाहर निकले थे। परन्तु इतिहास कुछ शिक्षा तो अवश्य ही देता है और इसके अलावा, यह जानना भी दिलचस्पी का विषय हो सकता है कि आधुनिक युग के आरम्भ मे कुछ देशो ने पारम्परिक और पिछड़ी हुई अर्थ-व्यवस्था को किस प्रकार तोड़ा।

आरम्भ मे हम पश्चिमी योरप के बारे मे कुछ तथ्यो को लेगे क्योकि ससार के इस भाग ने आर्थिक विकास मे महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है।

मध्य युग मे योरप की अर्थ-व्यवस्था ऐसी ही स्थिर अवस्था मे थी जैसी कि पाठ्य पुस्तको मे उदाहरण देने के लिए आवश्यकता होती है। एक जमाने मे कहा जाता था कि योरप का मध्य काल पाचवी से पन्द्रहवी शताब्दी तक फैला हुआ है, जिसके एक सिरे पर रोम की हार और दूसरे सिरे पर कुस्तुन्तुनिया का पतन है। प्रमुख इतिहासकारो का अब ऐसा विचार नही है। परन्तु आर्थिक इतिहासकार के लिए, विशेष दिलचस्पी के विषय को देखने का एक और ढग हो सकता है।

योरप की मध्यकालीन अर्थ-व्यवस्था को अपने प्रमुख गुण, लबी दूरी के व्यापार के ह्रास से प्राप्त हुए थे, और इसी प्रकार मध्य युग का अन्त इस व्यापार के फिर शुरू हो जाने से सम्बन्धित है। एशिया के साथ व्यापार का ह्रास, रोम के वहशियो के हाथ पड जाने से पहले ही शुरू हो गया था। इसके कई कारण थे जिनमे एक कारण यह भी था

कि सोने की पूर्ति कम हो गई थी जिसने अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में रोम के शामिल होने की क्षमता को कम कर दिया था। परन्तु हमारे लिए इस बात से सम्बन्ध रखने वाली सारी परिस्थितियों पर विचार करना आवश्यक नहीं है। योरप में मध्य युग के सम्बन्ध में एक विशेष बात का उल्लेख प्रसिद्ध बेल्जियन इतिहासकार हेनरी पीरेन ने किया था जिस पर ध्यान देना जरूरी है। पीरेन ने लिखा है कि पांचवीं शताब्दी में रोम की हार से पश्चिम योरप के आर्थिक इतिहास में कोई नया मोड़ नहीं आया। पीरेन के अनुसार इससे अधिक महत्वपूर्ण बात तो सातवीं शताब्दी में मुस्लिम आक्रामकों से योरप का मुकाबला है क्योंकि इसके परिणामस्वरूप भूमध्य सागर का व्यापार रुक गया था। अपनी पुस्तक इकनामिक एण्ड सोशल हिस्ट्री ऑफ मडीवल योरप में पीरेन लिखता है

> सातवीं शताब्दी में अचानक इस्लाम के आ जाने और विशाल योरपीय झील के पूर्वी, दक्षिणी और पश्चिमी किनारों के जीत लिए जाने से ही स्थिति में परिवर्तन हुआ। आठवीं शताब्दी के आरम्भ ही से इस समुद्रीय चतुर्भुज में योरप का व्यापार समाप्त हो गया।

स्पष्ट रूप से देखा जाए तो पूरब के कुछ बन्दरगाह जैसे वेनिस और नेपल्स अरबों के साथ थोड़ा बहुत व्यापार करते थे। परन्तु पश्चिमी योरप की अर्थव्यवस्था में समुद्री व्यापार प्रायः नहीं होता था। पीरेन के विचारों को पूरी तरह से स्वीकार करने की आवश्यकता नहीं है। परन्तु उसने इस विचार को उभार कर सामने रखा है कि लंबी दूरी के व्यापार के ह्रास की योरप के मध्य युग के आरम्भ होने में महत्वपूर्ण भूमिका रही है। यह बात हमारे लिए दिलचस्पी की है।

रोम की हार के बाद की शताब्दियों में मुसलमान ही अकेले आक्रामक नहीं थे। कई लोगों ने पश्चिमी योरप को तबाह किया—चाहे पूरब से जहां हंगरी ने एक अवरोध के रूप में काम किया था और चाहे उत्तर से जो कि स्कंडिनेवियन नौसवासियों का घर था। इन्हीं परिस्थितियों के दबाव के कारण योरप की मध्यकालीन अर्थव्यवस्था और समाज के प्रमुख लक्षणों ने अपना स्वरूप ग्रहण किया। एक तरफ तो पेशेवर सैनिक समुदाय का उदय हुआ और दूसरी तरफ योरप की अर्थव्यवस्था को लम्बी दूरी के व्यापार के कम हो जाने से प्रादेशिक आत्मनिर्भरता की आवश्यकता से अपना समायोजन करना पड़ा।

दसवीं शताब्दी के बाद परिस्थितियों का एक नया मेल हुआ जिसने पश्चिमी योरप को आर्थिक गतिरोध से बाहर निकलने में मदद की। हमलावर नौसवासियों को इतिहास ने जोखिम उठाने वाले व्यापारियों में बदल दिया और उन्होंने योरप के पश्चिमी समुद्रतटीय देशों और उनसे भी उत्तर के पड़ोसियों के साथ व्यापार को बढ़ाने में सहायता की। यह बात दसवीं शताब्दी में ही देखने में आ गई थी। अगली शताब्दी में धर्म

1 हेनरी पीरेन, इकनामिक एण्ड सोशल हिस्ट्री आफ मडीवल योरप, रूटलेज एण्ड केगन पाल लंदन 1958 (प्रथम संस्करण 1936) पृ० 2

युद्धों के प्रभाव तो और भी अधिक महत्वपूर्ण हैं। भूमध्य सागर का, खास तौर से उसके पश्चिमी तट का, नियन्त्रण मुसलमानों के हाथ से निकल गया। यद्यपि ईसाई लोग जेरूसलम को न ले सके तथापि इन धर्मयुद्धों के कारण, पीरेन के शब्दों में, पश्चिमी योरप 'बासफोरस से लेकर जिब्राल्टर की खाड़ी तक सारे व्यापार पर एकाधिकार कर सका और वहां उसने आर्थिक और विशुद्ध पूंजीवादी गतिविधि का विकास किया।' इस प्रकार, लंबी दूरी के व्यापार के फिर से जीवित हो जाने के बूते पर, योरप ने आर्थिक गतिरोध के दुश्चक्र से निकलना शुरू कर दिया।

दसवीं शताब्दी की शुरुआत से तीन या चार शताब्दियों तक व्यापार के प्रसार के साथ साथ कृषि का प्रसार और जनसंख्या में वृद्धि होती रही। योरप के बहुत-से भागों में प्रयुक्त, एक नये भारी किस्म के हल ने नई जमीन में खेती करने में मदद की। जनसंख्या का दबाव बढ़ने के कारण योरप के अन्दर ही ऐसे क्षेत्रों में, जहां की आबादी बिखरी हुई थी, खास तौर से जर्मनी के पूर्वी भागों में, नई बस्ती बसाने का काम हुआ।

इस बात में संदेह है कि दसवीं शताब्दी में विस्तारवाद की जो प्रवृत्ति शुरू हुई, वह हमेशा के लिए योरप को आर्थिक गतिरोध से बाहर निकालने के लिए पर्याप्त थी। चौदहवीं शताब्दी के आने तक माल्थस द्वारा बताए गए अवरोधों के कारण चारों तरफ थकान के लक्षण व्याप्त थे। 1315 से 1317 तक भयंकर अकाल पड़ा और 1347 से 1350 के बीच 'ब्लैक डेथ' में योरप की आबादी का काफी हिस्सा नष्ट हो गया। इस प्रकार आर्थिक विकास की विस्तार वाली अवस्था झटके के साथ रुक गई। विद्यमान परिस्थितियों में कृषि के विकास की सीमा भी पूरी हो गई और व्यापार के और प्रसार के भी कोई विशेष लक्षण नहीं रहे। ऐसा मालूम पड़ता था कि योरप की अर्थ-व्यवस्था फिर एक नयी स्थिर अवस्था की ओर बढ़ रही है।

इतिहास के इस बिंदु पर, गतिरोध को तोड़ डालने के लिए एक बहुत बड़े धक्के, या यों कहिए पहले से कहीं अधिक शक्तिशाली, बहुत से धक्कों की जरूरत थी। पन्द्रहवीं शताब्दी के अन्त में कोलम्बस ने अमरीका का पता लगाया। नोर्सवासियों ने शताब्दियों पहले उत्तरी अमरीका के तट का पता लगाया था परंतु उसका व्यापार पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा था और वास्को-द-गामा ने पश्चिमी योरप के राष्ट्रों के लिए भारत जाने के लिए एक नया मार्ग खोज लिया था। योरप अब ऐसे बड़े पैमाने पर व्यापार के प्रसार और उपनिवेश स्थापित करने के लिए उद्यत था, जिसकी कल्पना भी पहले न थी।

अगली तीन शताब्दियों में बौद्धिक अथवा वैज्ञानिक क्रांति भी आई, व्यापार के नये अवसरों के साथ इसके मेल के कारण पश्चिम को इतिहास में विशिष्ट स्थान मिल गया। व्यापारिक और वैज्ञानिक क्रांति का मेल हो जाना एक अनूठी ही बात है। रोमन साम्राज्य के उत्कर्ष के दिनों में व्यापार काफी फैला हुआ था, परंतु सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दियों में जो नया वैज्ञानिक दृष्टिकोण विकसित हुआ उस जैसी कोई चीज रोमनों

के पास नहीं थी। यहां पर आकर अब इस नयी बात पर गौर करना जरूरी है।

फ्रांसिस बेकन में नये वैज्ञानिक दृष्टिकोण के कतिपय तत्व इतने स्पष्ट थे कि इस विषय के प्रतिपादन के निमित्त उसे सदर्भबिंदु मान लेने में आसानी हो जाएगी। बेकन से पहले बहुत अर्से तक और खास तौर से मध्य युग के दौरान योरप के बौद्धिक जीवन में ईश्वर मीमांसा और बौद्धिक वाद विवाद की प्रधानता थी। अरस्तू का तर्क शास्त्र इस प्रकार के वाद विवाद का आधार होता था। यह सही है कि विज्ञान और प्रयोगात्मक रीति का उपयोग करने वाले फ्रांसिस बेकन से पहले भी थे। यह बात याद रखने की है कि रोजर बेकन ने तेरहवीं शताब्दी में गिरजे के दृष्टिकोण से, विज्ञान के महत्व को मान्यता देने के सम्बन्ध में पोप से पैरवी की थी परन्तु बौद्धिक परम्परा के विरुद्ध दार्शनिक अथवा वैचारिक विद्रोह का नेतृत्व फ्रांसिस बेकन ने ही किया था। बेकन के निजी सचिव एवं उसके जीवनी लेखक डा० विलियम रौले ने लिखा है कि बेकन के जीवन के प्रारम्भ से ही किस प्रकार उसमें बौद्धिक विद्रोह घर कर गया था। इस विद्रोह के पीछे मूल भावना क्या थी इसका उल्लेख सुयोग्य जीवनीकार ने इतने अच्छे ढंग से किया है कि हम उन्हीं के शब्दों को उद्धृत करते हैं। रौले ने लिखा है

> जब वह (फ्रांसिस बेकन) विश्वविद्यालय में ही रह कर पढ़ रहा था उसकी उम्र लगभग सोलह वर्ष के आसपास होगी तभी उसे अरस्तू के दर्शन से अरुचि हो गई—वह कहा करता था कि उक्त दर्शन केवल वाद विवाद या बहस के लिए ही उपयोगी है परन्तु मनुष्य के जीवन के हित के लिए किसी काम में इसका उपयोग नहीं है।[1]

इस प्रकार बेकन विज्ञान का औचित्य व्यावहारिक परिणामों के साथ बिठाना चाहता था। इस नये दृष्टिकोण में ज्ञान को, शक्ति रूप समझा गया था और यह शक्ति भौतिक शक्ति थी।

इतिहास पर नजर डाली जाए तो बेकन वैज्ञानिक आविष्कारों के व्यावहारिक प्रभावों से बहुत प्रभावित था। उसने आविष्कारों के बल प्रभाव और परिणामों की बात कही है और इस बात का उदाहरण छपाई बारूद और चुम्बक से देते हुए कहा है कि इन तीन चीजों ने सारे संसार की परिस्थितियों को बदल दिया है—यहां तक कि किसी साम्राज्य किसी पंथ अथवा किसी नक्षत्र ने मानवीय कार्य व्यापार को इतना प्रभावित नहीं किया है जितना इन यांत्रिक आविष्कारों ने (नोवम ओरगेनोन पुस्तक I सूत्र 129)। मार्क्स और उन्नीसवीं शताब्दी के प्रत्यक्षवादियों के बीच कुछ मौलिक मतभेदों के बावजूद विचार का एक सूत्र है जो बेकन को दोनों से जोड़ता है। अपने 'थीसिस आन फ्यूरबाक' में मार्क्स ने लिखा है "व्यवहार से वियुक्त विचार के अस्तित्व अथवा अन

1 बी० फरिंग्टन द्वारा अपनी पुस्तक 'फ्रांसिस बेकन फिलासफर आफ इण्डस्ट्रियल साइंस' में उद्धृत हेनरी शूमन न्यूयार्क 1949 पृ० 23 24

सितत्व का विवाद विशुद्ध रूप से बौद्धिक है।' इसकी तुलना 'द एडवासमेंट ग्राफ लर्निंग' में ग्रभिव्यक्त बेकन के इस विचार से की जा सकती है, 'मनुष्य की समझ और बुद्धि अगर अपने ऊपर ही काम करती रहे, जैसे मकड़ी अपने जाले पर करती है, तो उसका कोई अन्त न होगा और उसमें से ज्ञान के ऐसे जाले निकलेंगे जिनके तार और काम की बारीकी की प्रशंसा तो की जा सकेगी, परंतु उसमें कोई सार या उससे लाभ नहीं होगा।'

इस प्रकार बेकन का शक्तिशाली और व्यापक प्रभाव, बाद की विविध विचार-पद्धतियों पर भी पड़ा और यह पश्चिम के उत्तरकाल में योरपीय बौद्धिक परम्परा का अंग बन गया। इस सम्बन्ध में यह बात ध्यान देने की है कि बेकन के दर्शन ने धर्म पर कोई सीधा आक्रमण नहीं किया वरन् उसमें धार्मिक एवं प्राकृतिक ज्ञान में स्पष्ट अन्तर व्यक्त किया गया है। इससे कदाचित् तीव्र विरोध बचाने में मदद मिली। शनैः शनैः इसका प्रभाव पश्चिम की शिक्षण संस्थाओं पर पड़ा और इसने एक ऐसा वातावरण तैयार करने में मदद की जिसमें लोग उद्देश्य की भावना से प्रेरित होकर विज्ञान और टेक्नालाजी का संवर्धन और योरप के पुनर्निर्माण में सहायता कर सकते थे।

बेकन ने 'अनुभव तथा तर्क की शक्ति के बीच दुर्भाग्यपूर्ण और विरोधी अन्तर' की शिकायत की और उसे दूर करने का निश्चय किया। परंतु प्रश्न यह है कि विचार की तर्कनापरक शक्ति और आनुभविक विधियों के मेल से क्या द्रुत आर्थिक विकास के लिए पर्याप्त बल और मानसिक ऊर्जा उत्पन्न की जा सकती है? ऐसा हो सकता है, इसमें संदेह है। द्रुत औद्योगीकरण प्राप्त करने के लिए काम के प्रति एक नई अभिवृत्ति और कारखाने में अनुशासन के नये नियमों को स्वीकार करना आवश्यक था। जिस प्रक्रिया से इस अनुशासन को लागू किया गया अथवा जिस प्रकार व्यवस्था में इसका समावेश किया गया था, वह पीड़ाजनक थी। जिन्हें औद्योगीकरण का लाभ हुआ वे वह नहीं थे जिन्होंने इसकी नींव डाली अथवा इसके लिए कष्ट उठाए—बल्कि वह समूह उनसे बिल्कुल भिन्न था अथवा वह पीढ़ी ही भिन्न थी। इन परिस्थितियों में पीड़ा और सुख के सम्बन्ध में उपयोगितावादी गणना का निर्णय संशयात्मक और प्रयोगात्मक ही हो सकता था। परंतु जिन लोगों ने आर्थिक विकास में नेतृत्व प्रदान किया उनके लिए दार्शनिक संशय से दूर रहकर दृढ़ निश्चय के साथ काम करना आवश्यक था। संक्षेप में कहा जाए तो वे निष्ठा वाले लोग थे।

पश्चिम में इस प्रकार की निष्ठा के निर्माण में जिन प्रभावों ने सहायता की उनमें मैक्स वेबर के नेतृत्व में समाजशास्त्रियों के एक समूह ने प्रोटेस्टेंट धर्म को ऊंचा स्थान दिया है। यह बात ऐसी है जिस पर कुछ चर्चा की जानी चाहिए।

सोलहवीं शताब्दी में योरप के आर्थिक नेतृत्व में एक बहुत ही महत्वपूर्ण परिवर्तन हुआ। उस शताब्दी के अन्तर्गत कैथोलिक स्पेन, इटली और फ्लैंडर्स जैसे कुछ देश, जो पहले योरप की प्रगति में अग्रणी रहे थे, पिछड़ गए जबकि योरप के महाद्वीप में हालैंड, स्विट्ज़रलैंड और कुछ अन्य प्रदेश जैसे बाल्टिक के नगर और हैम्बर्ग बौद्धिक और व्यापा-

रिक गतिविधि के अत्यन्त गतिशील केन्द्र बन गए। अग्रणी वाणिज्यिक राष्ट्र के रूप मे हालैंड का चामत्कारिक उदय बहुत प्रभावशाली है। सर विलियम पेटी ने, जो इस शताब्दी के घटना-क्रम के बहुत योग्य पर्यवेक्षकों मे से है, गहरी उत्सुकता से इस देश को देखते हुए विचार व्यक्त किया है कि इस अद्भुत सफलता का कारण बहुत हद तक हालैंड मे बडी सख्या मे धार्मिक विरोधियो के समूहो का होना है 'जिनका विश्वास था कि श्रम और उद्योग ईश्वर के प्रति उनका कर्तव्य है।' इन भिन्न मतावलम्बियो के विचारो पर काल्विनवाद का गहरा प्रभाव था।

यहा पर आकर, पश्चिम मे आधुनिक युग के आरम्भ मे धर्म मे सुधारो के कुछ विस्तार मे जाना उपयोगी होगा। इस प्रकार हम उन मूल्यो के सम्बन्ध मे कुछ स्पष्ट विचार बना सकेंगे जो आर्थिक विकास की प्रक्रिया के साथ विकसित हुए और जिन्होने इस प्रक्रिया मे सहायता की। मध्य युग मे इसाई धर्म मठ-विषयक आदर्शों का गुणगान करता था। पुनर्जागरण काल मे धर्मसघ के जीवन के पवित्रीकरण के लिए एक आदोलन चल पडा था। यह विचार फैलने लगा था कि गृहस्थ के धधो और जीवन के सामान्य व्यापार को सही भावना से करने से ईश्वर प्रसन्न होते हैं। इस आदोलन के अनेक प्रवक्ता हुए। उनमे से कुछ तो सयत थे और रोमन कैथोलिक चर्च के विरुद्ध जाने की आवश्यकता नहीं समझते थे परतु कुछ अन्य मे अधिक उग्रता थी। यहा तक कि प्रोटेस्टेंटो मे भी महत्व-पूर्ण मतभेद था। इस प्रकार, उदाहरण के लिए, लूथर और काल्विन दोनो मनुष्य के सासारिक व्यवसाय को बहुत महत्व देते है। काल्विन का कहना था : 'परमात्मा का हम सब को आदेश है कि जीवन के सभी कार्यों मे अपने व्यवसाय को समझे ''प्रत्येक व्यक्ति का जीवन परमात्मा द्वारा उस व्यक्ति के लिए एक निश्चित स्थान के रूप मे है ताकि वह अपने जीवन मे अनिश्चित होकर इधर उधर न भटके। (जान काल्विन, 'इस्टीट्यूट आफ द क्रिश्चियन रिलिजन', पुस्तक III, अध्याय 10, अनुभाग 6)। इस प्रकार उसने, ससार मे जो ईश्वर द्वारा निश्चित किया गया व्यवसाय है, उसके प्रति अथक परिश्रम और समर्पण की शिक्षा दी। व्यवसाय सम्बन्धी विचार का विकास लूथर ने विशेष अर्थ मे किया। उसने कहा कि ईश्वर को सबसे अधिक प्रिय जीवन का मार्ग वह नही है जिसमे कोई व्यक्ति मठ मे प्रवेश करके सन्यास द्वारा सासारिक नैतिकता मे श्रेष्ठ हो जाए, बल्कि वह है जिसमे व्यक्ति भातृप्रेम की अभिव्यक्ति के रूप मे निष्ठापूर्वक अपने सासारिक व्यवसाय का निर्वाह करे। लूथर (1483 से 1546) और काल्विन (1509 से 1564) के बीच निष्ठापूर्वक कार्य करने के विचार के वास्तविक सार मे परिवर्तन हुआ जो बदलती हुई आर्थिक वास्तविकता के प्रति धर्म के समायोजन का प्रतीक था। लूथर के आर्थिक और सामाजिक विचार रूढिवादी थे क्योकि उसने व्यापारिक गतिविधियो के अनेक कार्यों को उचित मानने के योग्य नही समझा। उदाहरण के लिए वह इस विचार को कतई अपना न सका कि *ब्याज के लिए रुपया उधार दिया जाना चाहिए,* जबकि लेन-देन और व्यापार के बढ जाने के कारण ब्याज लेने की इस बढती हुई प्रवृत्ति को कुछ हद तक चर्च ने

अपनी स्वीकृति दे दी थी।[1] काल्विन का विचार इससे बिल्कुल भिन्न था। उसने बाइबिल की प्रतिभा के उपयोग वाली कथा का उदाहरण दिया है, जिसमें एक मालिक अपने उन सेवकों की बहुत प्रशंसा करता है जो प्रतिभा का उपयोग करते हैं और इस प्रकार अपनी निधि (प्रतिभा) को बढ़ाते हैं और उनकी भर्त्सना करता है जो ऐसा नहीं करते।

काल्विन ने कहा कि संसार के भौतिक साधन 'एक प्रकार से हमारी हिफाजत में रखे गए हैं, जिसका हमें एक दिन हिसाब देना होगा ''इसका हिसाब कौन लेगा यह भी हमें याद रखना चाहिए। इसका हिसाब हमें परमात्मा को देना होगा जिसने संयम, गम्भीरता, मितव्ययिता और विनय को इतनी महिमा बताई है।' ('इन्स्टीट्यूट्स', पुस्तक III, अध्याय 10, अनुभाग 5)। उपयोगितावादियों के लिए उपभोग उत्पादन का अन्तिम औचित्य है। दूसरी ओर, काल्विन के अनुयायियों से कहा गया था कि वे व्यापार, निजी लाभ के लिए नहीं वरन् परमात्मा द्वारा सौंपे गए कर्तव्य की समुचित पूर्ति के लिए कर रहे हैं। शरीर की आवश्यकताओं की पूर्ति सावधानी और संयम से की जानी चाहिए और उत्पादक श्रम का अन्तिम औचित्य यह है कि उससे परमात्मा प्रसन्न होते हैं। 'द प्रोटेस्टेंट एथिक एण्ड स्पिरिट ऑफ कैपिटलिज्म' में मैक्स वैबर ने इस प्रवृत्ति को 'सांसारिक सन्यास' कहा है। ख्याल है कि पश्चिम में पूंजीवाद के विकास की प्रारम्भिक अवस्था में व्यापार और उद्योग के नेताओं को इसी से प्रेरणा मिली।

वैबर के विचार के पक्ष में बहुत-से उल्लेखनीय तथ्य हैं, यद्यपि ये निश्चयात्मक नहीं हैं। इसके अलावा कुछ सामान्य बातें भी हैं जिनको महत्व दिया जाना चाहिए। सत्रहवीं शताब्दी में हालैंड के प्रमुख व्यापारियों का बड़ा भाग काल्विन के मतावलम्बियों और बैप्टिस्टों का था। फ्रांस जैसे कैथोलिक देशों में, पूरी जनसंख्या के अनुपात में बहुत अल्पसंख्यक होते हुए भी, प्रोटेस्टेंटों ने उद्योगों के निर्माण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। प्रोटेस्टेंटों ने अध महासागर को पार कर, न्यू इंग्लैंड में एक गतिशील अर्थ-व्यवस्था की नींव डाली। अमरीका महाद्वीप के जिन भागों में कैथोलिक लोग जाकर बसे वे अपेक्षाकृत अल्प विकसित रह गए।

इन तथ्यों की अवहेलना नहीं की जा सकती, यद्यपि इनसे निष्कर्ष निकालने में हमें सावधान रहना होगा। यह सम्भव है कि जिन प्रोटेस्टेंटों ने योरप और अमरीका में उद्योग और व्यापार के विकास में इतना महत्वपूर्ण कार्य किया उनमें कुछ ऐसी अच्छी बातें थीं जिनका उनके अन्दर के अनेक धार्मिक गुटों के धर्म-दर्शन से कोई सम्बन्ध न हो। जिन देशों में उन्होंने कार्य किया, उनमें वे अधिकांश रूप से बाहर के थे। उदाहरण

1 रुपया उधार देने के सम्बन्ध में लूथर ने कहा 'शैतान ने इसका आविष्कार किया और पोप ने इसे अपनी स्वीकृति देकर संसार के लिए बहुत बुरा किया है।' आर० एच० टोनी द्वारा अपनी पुस्तक 'रिलिजन एण्ड द राइज़ ऑफ कैपिटलिज्म' से उद्धृत, जान मरे, लन्दन, 1948, पृ० 95.

के लिए एण्ट्वर्थ के प्रवासियों ने एम्सटर्डम में और अन्यत्र व्यापार की उन्नति में मदद की। सत्रहवीं शताब्दी में उद्योगों के प्रोटेस्टेंट नेताओं में से बहुत से, पूंजीवादी उद्यम के किसी न किसी ऐसे केन्द्र से आए थे जहां विकास का रास्ता पहले खुल चुका था। उनकी उस पृष्ठभूमि से और इस बात से कि वे 'बाहर के' थे, उनको कुछ लाभ हुआ होगा क्योंकि स्थानीय और पारम्परिक समुदाय के साथ घुले-मिले लोगों में एक प्रकार का संकोच होता है जो उद्यम सम्बन्धी गतिविधि में बाधक होता है। एक और बात है, जो इससे भी बारीक है। काल्विन का धर्म दर्शन एक विशेष संदर्भ में उत्पन्न हुआ था और ईसाई धर्म की विचारधारा के इतिहास के बाहर इसकी संगति नहीं बैठती। परंतु 'विशुद्धतावादी' नीति का, औद्योगीकरण की प्रक्रिया से उत्पन्न कतिपय व्यावहारिक विवशताओं के कारण व्यापक महत्व था। इस प्रकार, 'विशुद्धतावाद' ने एक नैतिक आचार का संचार किया जो उन लोगों तक को प्रभावित करता रहा जिनकी इस धर्म दर्शन में विशेष दिलचस्पी न थी।

योरप में पूंजीवादी उद्यम प्रोटेस्टेंटवाद के अभ्युदय से पहले ही आरम्भ हो चुके थे। परंतु उस समय वह ज्यादातर कुछ नगरों या छोटे से क्षेत्रों में सीमित थे। शहरों का जीवन एक भिन्न प्रकार का था और इसी तरह देश के जीवन के साथ चल रहा था। जैसे जैसे पूंजीवादी उद्यमों का दायरा बड़ा हुआ, आधुनिक और पारम्परिक जीवन-प्रणालियों के बीच विरोधाभास अवश्य तीव्र हुआ होगा। और उसका व्यावहारिक प्रभाव बहुत बड़ी जनता पर पड़ा होगा। कारखानों का उत्पादन लाभ हो जाने से पहले ही 'उत्पादक सम्बन्धों' में काफी परिवर्तन आ गया था क्योंकि घरेलू उद्योग के कारीगरों ने व्यापारियों के अनुसार काम करना शुरू कर दिया था। इसका अर्थ यह था कि बाहर से थोप गए विनिर्देशों के अनुरूप काम किया जाए। पूंजीवादी उद्यमों के दैनिक कार्यों में एक नए प्रकार के अनुशासन की आवश्यकता थी। समय को एक दुर्लभ वस्तु मान कर बड़ी मितव्ययिता से उपयोग में लाने का अर्थ था कि काम के घण्टों के दौरान कर्त्तव्यों के सम्बन्ध में एक पूर्णतया नए विचार को स्वीकार किया जाए। अधिक सामान्य भाषा में कहा जाए तो, एक बड़े व्यापारिक समाज को चलाने के लिए वांछित ईमानदारी और व्यवस्थित कार्य की जो आवश्यकताएं थीं, वे पारम्परिक समाज और घरेलू अर्थ-व्यवस्था की आवश्यकताओं से भिन्न थीं।

औद्योगीकरण के लिए समर्पित भाव से कार्य करने के धार्मिक अथवा सैद्धान्तिक औचित्य ने विभिन्न देश और काल में विभिन्न रूप ग्रहण किए हैं। उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ में, संत साइमन ने 'नयी ईसाइयत' का, जो एक अनोखा मत था, प्रतिपादन किया। इसके द्वारा उन्होंने द्रुत औद्योगिक विकास के कार्य के लिए अपनी जनता की आध्यात्मिक शक्ति का उपयोग करने का प्रयत्न किया। इस मत के अनुसार नेतृत्व पारम्परिक पादरियों के बजाय एक नये समुदाय के हाथ में दिया जाना था जिसमें वैज्ञानिक, इंजीनियर और उद्योगपति होते और जो औद्योगीकरण की दिशा में समाज का

नेतृत्व करते। सामान्य जन-समुदाय की दशा में सुधार करने के लिए ऐसा करना अनिवार्य था और इसलिए विज्ञान के युग में, भ्रातृप्रेम की ईसाई शिक्षा को पूरा करने के लिए एकमात्र प्रभावी उपाय था। यहां पर मार्क्स की शिक्षा पर भी चलते-चलते विचार कर लिया जाए। मार्क्स ने वर्ग-संघर्ष के इतिहास को समझने और समाज की उत्पादक शक्तियों को फैलाने की कुंजी ढूंढ निकाली है। विरोधी पक्ष के रूप में साम्यवादी दल वर्ग-संघर्ष को तीव्र करने का प्रयत्न करता है। परन्तु जब सत्ता वास्तविक रूप में दल के हाथ में होती है तो आंतरिक प्रेरणा और इतिहास के प्रयोजन को साकार करने के लिए वह औद्योगीकरण के दृढ़ कार्यक्रम को स्वीकार करता है। इस प्रकार, ईश्वर की इच्छा का स्थान इतिहास की इच्छा ग्रहण कर लेती है और मार्क्सवाद औद्योगीकरण की प्रक्रिया को व्यक्तिगत निजी हितों के समूह से कहीं अधिक महत्व देता है। अन्त में, राष्ट्रवाद भी औद्योगीकरण का एक शक्तिशाली सैद्धान्तिक सहायक है। जिन देशों में औद्योगीकरण अपेक्षाकृत देर से शुरू हुआ उनके लिए यह बात विशेष रूप से सटीक बैठती है। इन देशों के लिए औद्योगिक शक्ति के बिना राष्ट्रीय आत्मरक्षा असम्भव प्रतीत होती थी। इन आर्थिक विकास के लिए वांछित बलिदान और अनुशासन उचित माने जाते थे क्योंकि राष्ट्र को इनकी जरूरत थी। इस प्रकार, औद्योगीकरण के लिए सर्वोपरि औचित्य ने—ऐसे औचित्य ने जो व्यक्तिगत हितों और तात्कालिक सुख और दुःख के सूक्ष्म सतुलन से आगे निकल गया है—कई रूप ग्रहण किए है, और संसार के विभिन्न भागों में विकास के विराट् कार्यक्रमों को आगे बढ़ाने के लिए प्रेरणा और शक्ति को कायम रखने में मदद दी है। आगे बढ़ने का निश्चय करने के बाद, पिछड़े हुए देशों के लिए इस प्रकार के सैद्धान्तिक समर्थन की आवश्यकता विशेष रूप से अधिक रही है।

आर्थिक विकास के सम्बन्ध में सांस्कृतिक कारणों की भूमिका पर विचार करने के कई तरीके हैं और उनमें से कुछ स्पष्टतः असंतोषजनक हैं। उदाहरण के लिए, भारत में आर्थिक उन्नति की बाधाओं की चर्चा करते हुए यह कहा गया है कि भारतीय सामान्यतया, परलोकवादी होते हैं और उनकी भौतिक सम्पदा में पर्याप्त रुचि नहीं होती परन्तु जैसा कि मैक्स वेबर ने ठीक ही लिखा है भारतीय परम्परा, मध्य काल में ईसाई धर्म की अपेक्षा, कई मामलों में निश्चित रूप से धनोपार्जन या धन को संचित करने की दिशा में अधिक प्रवृत्त है। साथ ही अन्य देशों के व्यापारियों की तुलना में भारतीय व्यापारियों में भौतिक लाभ की हविस कम नहीं है। संसार में सब जगह मनुष्य जाति की भौतिक आवश्यकताएं और धन की इच्छा समान है। समझने की मुख्य बात यह है कि सतत आर्थिक विकास के लिए इतना ही होना पर्याप्त नहीं है।

यह सरल विचार कि आर्थिक विकास भौतिक आवश्यकताओं के अनुरूप होता है, पूरी तरह ठीक नहीं है। भौतिक आवश्यकताएं विज्ञान के प्रति उस प्रवृत्ति को पैदा करने के लिए पर्याप्त नहीं है जो कि औद्योगीकरण के लिए अत्यन्त आवश्यक होती

हैं।[1] रोमन साम्राज्य के चरम उत्कर्ष के समय लंबी दूरी के व्यापार का जो जाल बिछ गया था और अपने इतिहास के एक खास दौर में साम्राज्य को जिन गम्भीर आर्थिक समस्याओं का सामना करना पड़ा था इन दोनों ही बातों ने रोमनों के अन्दर विज्ञान और टेक्नालाजी का अनुशीलन करने के लिए कोई विशेष रुचि या योग्यता पैदा नहीं की। यही बात व्यक्ति की धन की इच्छा और एक विशिष्ट प्रकार की नैतिकता के सम्बन्ध में, जो कि राष्ट्रीय पैमाने पर धन के बढ़ते हुए पुनरोत्पादन के लिए आवश्यक है, सच है।

पश्चिम को, औद्योगीकरण के पूर्व गतिरोध के दुश्चक्र से छुटकारा, परिस्थितियों के एक अभूतपूर्व संयोग की शक्ति से मिला था। व्यापार के उत्कर्ष के साथ ही एक नये वैज्ञानिक दृष्टिकोण का उदय हुआ और उसके साथ नैतिक आचार भी ऐसा रहा जो व्यापार और उद्योग की वृद्धि के लिए अनुकूल था। प्रश्न यह है कि यह संयोग सबसे पहले पश्चिमी योरप में ही क्यों हुआ संसार में अन्यत्र क्यों नहीं? इसका कारण यह हो सकता है कि पश्चिमी योरप कट्टर परम्परा और संस्कृति के विशाल वृत्त के केन्द्र में न होकर इसके किनारे पर था जिसके कारण, वहां, पुरानी संस्थाओं के बंधनों को शिथिल करना आसान था। परंतु इसकी पूरी व्याख्या हमें ज्ञात नहीं है।

आर्थिक विकास के अन्तिम निर्धारकों की खोज गड़बड़ा देने वाली हो सकती है। हाल के वर्षों में इस बात पर खासी चर्चा रही है कि कितना आर्थिक विकास पूंजी में वृद्धि के कारण हुआ माना जा सकता है और कितना टेक्नालाजी के ज्ञान में वृद्धि और उद्यमकर्ताओं की योग्यता इत्यादि अन्य कारणों से। वास्तव में दोनों एक साथ चलते रहते हैं, यद्यपि विश्लेषण द्वारा इनको पृथक् करने का प्रयत्न किया जा सकता है और किया भी गया है। पुराने अर्थशास्त्रियों को यह बात स्पष्ट थी कि टेक्नालाजी और ज्ञान की परिधि वही रहे और पूंजी की मात्रा बढ़ जाए तो पूंजी से उत्पादन के घटते रहने का नियम लागू होना शुरू हो जाएगा। बहुत पहले उपनिवेश स्थापित करने वाले देशों ने, बहुत-सा खजाना इकट्ठा कर लिया था परंतु वे विकास की गति को निरंतर कायम न रख सके क्योंकि वे आर्थिक विकास की अन्य पूर्वापेक्षित बातों को नहीं जुटा पाए। इस प्रकार एक ओर तो पूंजी का होना ही पर्याप्त नहीं है परंतु दूसरी ओर व्यापार के प्रसार एवं तकनीकी आविष्कारों को साकार करने के लिए पूंजी की ही आवश्यकता होती है। इससे हमारे सामने दो विकल्प आ जाते हैं एक तो हम यह कह सकते हैं कि आर्थिक विकास उन परिस्थितियों पर निर्भर करता है जिनसे पूंजी जमा हो, दूसरे, यह मानते हुए कि आर्थिक विकास के लिए ज्ञान और उद्यमशीलता दो मूलभूत बातें हैं,

---

1 बर्टेंड रसल ने अपनी पुस्तक 'फ्रीडम एण्ड आर्गनाइजेशन', लंदन एलेन एण्ड अनविन, 1952 (प्रथम संस्करण 1934 पृ० 230) में प्रश्न किया है आर्किमिडीज से लियोनार्डो के समय तक प्रयोगात्मक विज्ञान प्रायः नहीं के बराबर क्यों था? इसका उत्तर निश्चय ही यह नहीं हो सकता कि उस लंबी अवधि में आर्थिक आवश्यकताएं थीं ही नहीं। विज्ञान में रुचि उत्पन्न करने के लिए या दरिद्रता को दूर रखने के उपाय खोजने के लिए दरिद्रता होना पर्याप्त नहीं है।

ऐसी परिस्थितियों की खोज की जानी चाहिए जिनसे उन दोनों की वृद्धि हो। कुछ देशों में, जहां ये बातें पहले से विद्यमान हैं परन्तु विकास का काम, मुख्यतः पूंजी की कमी के कारण रुक गया है, वहां व्यावहारिकता की दृष्टि से पूंजी के महत्व पर जोर देने की आवश्यकता होगी। अन्यत्र इस प्रकार का विवेचन भ्रामक होगा। पश्चिम के देशों के आर्थिक गतिरोध के दुश्चक्र से निकलने के इतिहास को देखने से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि व्यापार और उद्यमशीलता के गुणों के साथ तकनीकी आविष्कारों ने मिल कर ऐसा वातावरण तैयार किया जिसमें पूंजी में वृद्धि करके उत्पादन में वृद्धि की जा सकी और इस प्रकार उन्नति को कायम रखा जा सका।

3
'आदि' पूंजी संचय

'आदि सचय' के विचार को कार्ल मार्क्स (1818–83) ने 'कैपिटल' के पहले खण्ड में इन शब्दों में प्रस्तुत किया है .

> पूजी के सचय मे अपर मूल्य की पूर्व कल्पना है, अपर मूल्य मे पूजीवादी उत्पादन की पूर्व कल्पना है, पूजीवादी उत्पादन मे यह पूर्व कल्पना है कि काफी मात्रा म पूजी पहले से विद्यमान होगी और श्रम की शक्ति वस्तुओं के उत्पादको के हाथ मे होगी । यह सारी प्रक्रिया, इस प्रकार, एक दुश्चक्र का रूप ले लेती है जिससे बाहर निकलने का एक ही तरीका है, पूजीवादी सचय से भी पहले आदि सचय की कल्पना की जाए (एडम स्मिथ के शब्दो म पूर्व सचय), यह सचय पूजीवादी तरीके से हुए उत्पादन का परिणाम नही होगा वरन् उसका आरम्भिक बिंदु होगा ।[1]

यहा पर मार्क्स, पूर्ववर्ती लेखको के सीमित और सरल विचार लेकर उसमे से ऐसी प्रक्रिया द्वारा एक बहुत बडी ऐतिहासिक समस्या को निचोड लेता है जिसकी हम आगे व्याख्या करेंगे । उत्पादन के आरम्भ होने से पहले पूजी उधार देने (बिक्री और उपभोग के लिए अंतिम उत्पाद के उपलब्ध होने से पहले मशीनों और कच्चे माल तथा श्रमिको के निर्वाह की व्यवस्था के लिए) के विचार का उल्लेख अठारहवी शताब्दी के मध्य के प्रसिद्ध फ्रेंच प्रकृतिवादी लेखक क्वेसने की रचनाओ मे मिलते हैं । उसने किसानो द्वारा खेती की फसल के शुरू मे किसानो द्वारा हर साल लगाई जाने वाली रकम की विशेष रूप से चर्चा की है । इस विचार का एडम स्मिथ ने और भी सामान्यीकरण किया और इस बात की व्याख्या की कि किस प्रकार श्रम का विभाजन और पूजी का सचय समरूप आगे बढते हैं । पूजी का पहले से कुछ सचय किए बिना श्रम का विभाजन सम्भव नही है । परतु इससे श्रम की बढी हुई उत्पादकता के द्वारा, अधिक बचत और सचय होता है । 'द वेल्थ आफ नेशन्स', खण्ड 2, की भूमिका मे एडम स्मिथ (1723–90) ने लिखा है : 'श्रम की उत्पादक शक्तियो मे यह सुधार करने के लिए पहले से माल का सचय आवश्यक है ताकि सचय से स्वाभाविक रूप से यह सुधार हो ।'

---

1 कार्ल मार्क्स कैपिटल, खण्ड-1 द माडर्न लाइब्रेरी, न्यूयार्क, पृ० 784

मार्क्स समस्या को समग्र पूजीवादी विकास के सदर्भ मे प्रस्तुत करता है। पूजीवादी उद्यम एक इजन के समान है, जिसे इतिहास ने मजूरी वाले श्रम से अपर मूल्य खीचने के लिए बनाया है। अपर मूल्य के इस प्रकार खिचने से ही पूजी का सचय सम्भव हो पाता है। परतु उसके साथ ही एक पूजीवादी उद्यम तभी काम शुरू कर सकता है जब पहले से पूजी इकट्ठी की गई हो। इस प्रकार पूजीवाद, पूजी के सचय को ही जन्म नही देता बल्कि पूजीवाद के उदय से पहले किसी न किसी रूप मे पूजी का सचय होना चाहिए। मार्क्स ने इसी समस्या को सामने रखा और अपने 'आदि सचय' के सिद्धान्त के रूप मे इसका हल भी पश किया। एडम स्मिथ को इस समस्या से कोई परेशानी नही हुई, कारण शायद यह था कि उसके विचार म पूजी-सचय और श्रम विभाजन बहुत थोडे परिमाण से आगे बढने और समय के साथ एक दूसरे को सहारा देते हुए आगे बढते।

मार्क्सवादियो ने ऐसी कई विधिया और परिस्थितिया की चर्चा की है जिन्होने आदि सचय की प्रक्रिया की सहायता की। इनम स तीन की विशेष रूप से चर्चा की जानी चाहिए। प्रारम्भिक अवस्था म पूजीवाद की स्थापना से पहले, या साथ साथ, बडे पैमाने पर खेती पर आश्रित जनता की सम्पत्ति छीनी गई थी, जिससे एक बहुत बडा समूह बेसहारा हो गया था जो अपना श्रम बच कर जीविका कमाने के लिए मजबूर था। मार्क्स ने इस बात की व्याख्या सालहवी शताब्दी म इग्लैंड के हदबदी आदोलन (एनक्लोजर मूवमट) के विशेष सदभ म की थी। दूसरी बात यह है कि आदि सचय ने 'उपनिवेशी शोषण' का भी रूप लिया। सगठित क्षेत्र द्वारा देश की अर्थ-व्यवस्था के अन्तर्गत दुर्बल अथवा अल्प सगठित क्षेत्र का शोषण, तथा सरकार द्वारा विदेश मे उपनिवेशी शोषण से लाभ कमाना एक-सी ही बाते है। अन्तिम बात यह है कि पूजीवादी विकास की प्रारम्भिक अवस्था म, भूमि के मालिक अभिजातवर्ग के घन के नये बुर्जुआ अथवा व्यापारी वर्ग के पास चले जाने से भी सचय को सहायता मिली। हुआ यह कि जैसे-जैसे सामन्तवाद विच्छिन्न होने लगा वैसे-वैसे जिन लोगो के पास पारम्परिक रूप से भूमि थी उन्हे परेशान होकर अपनी जमीनें बेचनी पडी।

इन बातो मे से प्रत्येक की कुछ विस्तार से चर्चा करना उपयोगी होगा।

शुरू म सोलहवी शताब्दी के हदबदी आदोलन की आर्थिक पृष्ठभूमि की सक्षेप मे चर्चा कर ली जाए। जब सामन्तवादी व्यवस्था ठीक-ठाक थी तब मालिक की जमीन का सारा कामकाज पहले से चली आई प्रथा के अनुसार रैयत को करना होता था। दास या रैयत जमीन के साथ बधे थे। सम्पत्ति की मिल्कियत एक जमीदार से दूसरे के पास जा सकती थी परतु दास अथवा उसके परिवार को यह हक नहीं था कि वह पुराने मालिक का काम छोड दे या दूसरी जगह चला जाए। रैयत के पास अपनी जमीन के टुकडे भी होते थे जिन पर वह अपने खाली समय मे खेती करता था। इग्लैंड मे, बारहवी शताब्दी मे रैयतो को बेगार के बदले रुपया देना शुरू कर दिया गया था। 'जमीदार के गुमाश्तो ने देखा कि

सारे साल मजूरी पर रखे गए लोगों से खेती का कार्य उन लोगों की अपेक्षा ज्यादा अच्छा होता था जिन्हें उनकी जमीनों से उठाकर बेगार में लगाया जाता था।'[1] खेतों में काम के बजाय उजरत देने की व्यवस्था समुचित श्रम से नहीं चल पाई, इस पर बाधाएं आईं और तेरहवीं शताब्दी में कहीं कहीं यह व्यवस्था उलट गई। चौदहवीं शताब्दी में 'ब्लैक डेथ' नामक जनसंहार के बाद जमींदारों के सामने एक नयी और कठिन समस्या आ पड़ी। इस भयंकर महामारी ने जन-संख्या काफी कम कर दी और मजदूरों की कमी हो गई। रैयतों ने पारम्परिक रूप से मालिक का काम करने की जो सामन्तवादी प्रथा थी, उससे छुटकारा पाने के लिए संघर्ष छेड़ दिया और दूसरी ओर स्वतंत्र श्रमिकों ने अधिक मजूरी की मांग की। इस परिस्थिति में बहुत से जमींदारों ने अपनी जमीनें पट्टे पर दे दीं और इस प्रकार किसानों का एक नया वर्ग पैदा हो गया।

'ब्लैक डेथ' (1348–49) से मजूरियों के बढ़ने की जो प्रवृत्ति शुरू हुई वह पन्द्रहवीं शताब्दी तक चलती रही। इस समय इंग्लैंड में, खेती की कठिनाइयों का एक हल यह निकाला गया कि जमीनों पर खेती न करके भेड़ों के चरागाह बना दिए गए। फ्लैंडर्स में बहुत उन्नत, कपड़ा बनाने के उद्योग थे जहां ऊन का निर्यात किया जा सकता था। इसके अलावा वहां के कुछ बुनकर इंग्लैंड आ गए थे। इस प्रकार इंग्लैंड को ऊन का काफी बड़ा बाजार था। खेती की तुलना में चरागाहों पर कम मेहनत की जरूरत होती थी इसलिए बाजार के लिए ऊन पैदा करना खास तौर से लाभकर था। बाजार का ध्यान रख कर कृषि के इस उद्यम को अपनाया गया तो जल्दी ही पता चला कि ज्यादा लाभकर तरीके से इस काम को करने के लिए जितनी भूमि की एक साथ जरूरत है उतनी भूमि उस समय, भूमि के वितरण के कारण, उपलब्ध नहीं हो सकती थी। जहां पर भूमि के अलग अलग मिल्कियत के टुकड़े थे वहां इस नयी कृषि में बाधा पड़ी। अगर इन टुकड़ों को मिलाकर हदबंदी कर दी जाती तो इन नये उद्यमों को संगठित करना आसान हो जाता था। इंग्लैंड में 16वीं शताब्दी के 'हदबंदी आंदोलन' की यही संक्षिप्त भूमिका थी।

जो विवरण हमने ऊपर दिया है उसके ऐतिहासिक महत्त्व के विषय में अब हम मार्क्सवादी व्याख्या का मूल्यांकन करेंगे। मार्क्स के विचार में हदबंदी आंदोलन की प्रमुख बात यह है कि इसने श्रमिकों के एक ऐसे वर्ग को जन्म दिया जिनको जमीनों से बेदखल किया गया था और जिनका पूंजीवादी उद्योग अब मुक्त रूप से शोषण कर सकते थे। उन्होंने बताया कि कथित आदि संचय और कुछ नहीं वरन् उत्पादक क उत्पादन के साधनों से पृथक् करने की ऐतिहासिक प्रक्रिया मात्र है और 'खेती करने वाले किसान अथवा कृषि-उत्पादक से उसकी जमीन छीन लेना इस सारी प्रक्रिया का आधार है।'[2] इसी बात को दूसरी भाषा में भी कहा जा सकता है। पूंजीवादी उद्यमों

1 जी० एम० ट्रेवीलयन, 'इंगलिश सोशल हिस्ट्री' लांगमैन्स, लंदन, तीसरा संस्करण, 1964, पृ० 7

2 कार्ल मार्क्स, उपर्युक्त, 787.

को अपने प्रारम्भिक दौर मे सस्ते मजदूरो की आवश्यकता थी। हदबदी आदोलन ने, काफी बडी सख्या मे लोगो को जमीनो से बेदखल करके ये मजदूर दिए। इसमे एक और तर्क जोडा जा सकता है। बढते हुए पूजीवादी उद्यम को ऐसे मजदूरो का समूह चाहिए जो सस्ता हो और एक स्थान से दूसरे स्थान को आसानी से जा सके। सामन्तवादी समाज मे भूमि के साथ जो पारम्परिक बधन हो जाता था उसके कारण अपनी जगह को छोडकर दूसरी जगह जाने मे सकोच या गतिहीनता आ जाती थी जिसे पूजीवाद के विकास के साथ तोडना आवश्यक था। हदबदी आदोलन ने ऐसा श्रमिक वर्ग तैयार किया जो सस्ता था और एक जगह से दूसरी जगह भी जा सकता था और जिसका बढता हुआ पूजीपति वर्ग खूब शोषण कर सकता था।

प्रश्न यह है कि पूजीवादी उद्यमो को ये श्रमिक क्या साधारण जनवृद्धि से नही मिल सकते थे? अपनी पुस्तक स्टडीज इन डवलपमट आफ कैपिटलिज्म मे मौरिस डाब का कहना है कि ऐसा नही हो सकता था। उसका तर्क है कि औद्योगिक पूजीवाद के एक बार दृढतापूर्वक स्थापित हो जाने के बाद इसके मजदूरो की बढती हुई आवश्यकता मुख्यत मजदूर वर्ग की प्रजनन शक्ति से पूरी हो जाती है। उन्नीसवी शताब्दी म योरप की यही स्थिति थी। परतु इससे पहले की तीन शताब्दियो मे, जबकि पूजीवादी उद्योग अपनी नीव पकड रहे थे, इग्लैंड की जनसख्या की वृद्धि बीस लाख से अधिक नही थी। इस प्रकार, इन देशो मे श्रमिक वर्ग की सख्या मे वृद्धि का कारण जनसख्या मे वृद्धि न होकर कुछ और ही है।

क्या यह तस्वीर सही है कि इग्लैंड मे औद्योगीकरण के प्रारम्भिक दिनो मे श्रमिक एक ऐसे रक्षित समूह से मिलते थे जो पहले से विद्यमान था? और क्या इससे सामान्यीकरण के लिए ऐसा दृढ आधार तैयार होता है जो विविध प्रकार के मामलो पर लागू किया जा सके? पहला प्रश्न इग्लैंड के आर्थिक इतिहास के अध्येताओ के लिए विशेष दिलचस्पी का हो सकता है परतु दूसरा प्रश्न अधिक लोगो की दिलचस्पी का है। सोलहवी और सत्रहवी शताब्दी मे अधिकाश उद्योग घरेलू प्रणाली के आधार पर सगठित किए गए थे जिनमे कारीगर व्यापारी के कहने पर चलते थे। इस प्रकार उद्योग पर, व्यापारी की पूजी का नियत्रण क्रमश बढता गया, परतु इस प्रकार के उत्पादन के विकास के लिए बडी सख्या मे भूमि के बेदखल श्रम समुदाय का पहले से होना आवश्यक नही था। औद्योगिक रूप से अल्प विकसित देश मे वैसी श्रम केवल ऐसे अरक्षित श्रम समुदाय के रूप मे ही नही होता जिसे आप देख सक वरन बडी सख्या मे अशत काम मे लगे हुए लोगो क रूप मे भी होता है जो ज्यादातर कृषि के धधो मे लगे होते है और यह बात बडे महत्व की है। ज्यो ज्यो उद्योगो का विकास होता है मजदूर अशत दृष्टिगोचर इस भडार से अधिक आय वाले रोजगार की तलाश मे निकलने लगता है। मार्क्सवादी उदाहरण मे 'श्रम के अरक्षित समुदाय' के कारण मजूरियो मे जो गिरावट आती है, वास्तव मे, इसपर अधिक दबाव उन गरीब किसान परिवार के सदस्यो की ओर से पडता

है, जो यद्यपि अपनी जमीन से बलपूर्वक निकाले नहीं गए है तथापि अपनी न्यून आय को कुछ हद तक बढ़ाने के लिए नये रोजगार की ओर आकर्षित होते है। नये उद्योग, चाहे वे खान से सम्बन्धित हो अथवा सामान बनाने से, गावो के साथ बहुधा विशेष सम्बन्ध स्थापित कर लेते हैं जिससे उन्हे सस्ते मजदूर मिलते रहते हैं परतु इसके साथ-साथ ऐसा कुछ नही हुआ जिससे बड़े पैमाने पर खेती को प्रोत्साहन मिले अथवा खेती की जमीनो की तेजी से जबरदस्ती चकबन्दी हो। जिन देशों में पूजीवादी उद्यम और औद्योगिक विकास अपेक्षाकृत देर से आरम्भ हुए वहा प्रारम्भिक दौर मे, जनसख्या मे वृद्धि इग्लैंड से ज्यादा तेजी से हुई और यहा तक कि औद्योगिक रोजगार मे काफी तेजी से वृद्धि होने के बावजूद जनसख्या की प्राकृतिक वृद्धि को खपा पाना आसान नही था।

इन सभी बातो मे जापान का उदाहरण शिक्षाप्रद है। 1880 के बाद पचास वर्षों मे जापान ने अपने-आपको पूर्व मे एक बडी पूजीवादी अर्थ व्यवस्था के रूप मे स्थापित कर लिया था। यद्यपि जापान मे कृषि-उत्पादन मे खासी वृद्धि हुई तथापि वहा पर खेती छोटे पैमाने पर होती रही। 1930 मे जापान के फार्म मोटे तौर पर एक 'चो' या उससे भी कम के थे (एक 'चो' लगभग ढाई एकड के बराबर होता है)। 1910 के बाद लगभग पच्चीस वर्षों मे कारखाने के श्रमिको की सख्या दुगुनी से भी अधिक हो गई। इतने पर भी कृषि पर आश्रित परिवारो की सख्या मे कोई विशेष अन्तर नही आया और इनकी सख्या पचपन लाख के आसपास बनी रही। इससे प्रतीत होता है कि व्यापार और उद्योग मे उल्लेखनीय प्रसार के बावजूद बढ़ती हुई जनसख्या को उचित रोजगार न मिल सका।

अब हम इग्लैंड की चर्चा पर वापस जाते है। सोलहवी शताब्दी के आसपास वहा जो कुछ हुआ उसके महत्व को कम करना गलत होगा। मार्क्स इसको एक तरीके से देखता था। उसकी दिलचस्पी इसका सम्बन्ध पूजीवादी शोषण के लिए तैयार मजदूरो की बढी हुई सख्या से जोडने मे थी। परतु इस पर विचार करने के और तरीके भी है। हम इसको एडम स्मिथ के दृष्टिकोण से देखने की कोशिश करें तो हमे इसमे कई बातें मालूम होगी। पहली बात यह है कि घरेलू तथा अन्तर्राष्ट्रीय दोनो क्षेत्रो मे श्रम के विभाजन की दिशा म यह एक बहुत महत्वपूर्ण कदम था। फ्लैंडर्स ऊनी कपडा बनाने के काम मे पहले से ही विशेष कुशलता प्राप्त कर चुका था। इग्लैंड ने ऊन के उत्पादन मे विशेष दक्षता प्राप्त करनी शुरू कर दी थी। शुरू शुरू मे तो इग्लैंड बढ़िया किस्म का कपडा आयात करता था और मोटे किस्म का कपड़ा अपने यहा बनाता था। बाद मे उसने अगला कदम उठाया और बढ़िया कपडा देश मे ही बनाने लगा। इसके अलावा, बाजार को नजर मे रखकर कृषि और उत्पादन का जो पुनर्गठन हुआ उससे देहात मे एक नयी प्रवृत्ति और एक अधिक शक्तिशील सम्पन्नता का प्रादुर्भाव हुआ। कई किसानो का सुधारो की ओर अधिक झुकाव हुआ। सोलहवी शताब्दी के मध्य मे सत्रहवी शताब्दी के मध्य तक कृषि के उत्पादन मे आनुपातिक रूप से इतना अधिक परिवर्तन हुआ कि इसे

अंग्रेजी आर्थिक इतिहास में अत्यन्त महत्वपूर्ण परिवर्तन माना जाना चाहिए। इस अवधि में इंग्लैंड में गेहूं की उपज दुगुनी हो गई तथा कुल जनसंख्या में भी इतनी ही वृद्धि हुई। इसके साथ ही, देश के अन्दर जलमार्गों के उपयोग में सुधार से पता चलता है कि परिवहन-व्यवस्था मजबूत हुई और व्यापार में अधिक सक्रियता आई।

इन सारी बातों से पूंजी के निर्माण में मदद मिली। परन्तु इससे विकास की प्रक्रिया की अनेक बातें सामने उभर कर आती हैं। अल्प विकसित देश में, प्रारम्भ में, अपेक्षाकृत थोड़ी पूंजी होती है। अब प्रश्न यह है कि यहां पूंजी में वृद्धि किस प्रकार होती है? हम चाहें तो उन संस्थागत परिवर्तनों पर, या यों कहिए, नई संस्थाओं के उन पहलुओं पर जोर दे सकते हैं जो पूंजी लगाने वालों के नये वर्ग को, श्रमिक द्वारा किए गए उत्पादन और जीवन-निर्वाह मात्र के लिए उसकी आवश्यकता के अन्तर को विनियोजित करने में सहायक होते हैं। यह बात निश्चय ही महत्वपूर्ण है, क्योंकि परम्परागत अर्थ व्यवस्था में उत्पादन, मुख्यत उपभोग के लिए या जमींदार को 'लगान' (रेंट) पहुंचाने के लिए किया जाता है जो कि प्राय: सारा का सारा उपभोग में आ जाता है। इसके विपरीत, बढ़ती हुई अर्थ-व्यवस्था में अधिकांश उत्पादन का लक्ष्य अधिक बचत करना है, जिसे फिर उत्पादन में लगाया जा सके। परन्तु अगर 'बहुत-सी बातें' श्रमिक की उत्पादन-क्षमता में काफी वृद्धि करने में सहायता न करें तो, सामान्य परिस्थितियों में, श्रमिक द्वारा किया गया उत्पादन, और उसकी निर्वाह की आवश्यकता में बहुत कम अन्तर होता है। एडम स्मिथ ने इन बहुत-सी बातों की व्याख्या श्रम के विभाजन और उत्पादन में विशेष कुशलता के अन्तर्गत की है। एक अल्प विकसित अर्थ-व्यवस्था के अन्तर्गत, संसाधनों की व्यवस्था में हेर-फेर तथा अप्रकट क्षमता के और अधिक उपयोग द्वारा कुल उत्पादित धन में वृद्धि की काफी गुंजाइश है। ऐसे अभिनव उपायों द्वारा, जिनमें अधिक पूंजी लगाने की आवश्यकता नहीं होती, जैसे मल के सावधानी से उपयोग अथवा फसलों के चक्र में नया परिवर्तन करके अक्सर उत्पादिता में काफी वृद्धि की जा सकती है। हम कितना लगा रहे हैं और उनमें से कितनी कमाई हो रही है, इसका हिसाब रखने की आदत मात्र से संसाधनों के उपयोग में बहुत सुधार हो जाते हैं। इन बातों के साथ, विज्ञान और टेक्नालाजी के अधिक सार्थक प्रयोग ने आर्थिक विकास के आरम्भिक इतिहास में पूंजी के निर्माण में महत्वपूर्ण योग दिया होगा।

प्रमुख पूंजीवादी देशों के आरम्भिक विकास में 'उपनिवेशीय शोषण' की भूमिका पर, मार्क्सवादियों ने ही नहीं वरन् उपनिवेशों में स्वतन्त्रता के लिए राष्ट्रवादी संघर्ष के नेताओं ने भी खूब जोर दिया है। दूसरी ओर, साम्राज्यवाद के हिमायतियों का दावा है कि औपनिवेशिक शासन ने पिछड़ी हुई अर्थ-व्यवस्थाओं को औद्योगिक विकास के ऐसे रास्ते पर आगे बढ़ने में काफी मदद की। वास्तव में औपनिवेशिक शोषण का प्रभाव बहुत जटिल रहा है। हम इस समय साम्राज्यवादियों के दावे पर विचार नहीं करेंगे, आधुनिकीकरण के रास्ते में, औपनिवेशिक शासन से जो कठिन बाधाएं आती हैं, उनकी

हम बाद मे चर्चा करेंगे। इस समय हम इस प्रश्न पर विचार करेंगे कि शोषण करने वाले देश मे, पूजी के निर्माण और आर्थिक विकास मे औपनिवेशिक शोषण का कितना महत्वपूर्ण योगदान रहा है।

हम एक ऐसे मामले को लेते है जहा ऊपर से देखने मे सम्बन्ध काफी सीधा मालूम होता है। ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने 1757 मे प्लासी का युद्ध जीता। बगाल की लूटमार और शोषण का जो काम पहले शुरू हो चुका था वह और तेज कर दिया गया जिसकी पराकाष्ठा 1770 के भयकर अकाल मे हुई। औद्योगिक क्राति के नाम से प्रख्यात, इग्लैंड के आर्थिक विकास मे जो तेजी आई, इसके तुरन्त बाद सुस्पष्ट हो गई। यह अनुमान करना क्या गलत होगा कि इग्लैंड की इस द्रुत प्रगति मे बगाल की लूट ने बडा योगदान किया ?

इसमे कोई सदेह नही कि बगाल की अर्थ व्यवस्था ईस्ट इण्डिया कम्पनी के कर्मचारियो के अनैतिक कारनामो के कारण पूरी तरह छिन्न भिन्न हो गई। अठारहवी शताब्दी के प्रारम्भ मे बगाल व्यापार का व्यस्त केन्द्र था और दूर-दूर के बाजारो को सूती और रेशमी कपडा, चीनी और कई दूसरी तरह की चीजें भेजता था। ईस्ट इण्डिया कम्पनी यहा व्यापार के लिए आई, पर इसके व्यापार मे फर्क था। उस जमाने मे, भारत मे व्यापारियो को, जो माल राजमार्गो या नावो द्वारा नदियो से होकर जाता था, कई जगहो पर चुगी देनी पडती थी। विदेशी व्यापारिक सस्था होने के कारण ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने इन शुल्को की अदायगी से इस शत पर मुक्ति प्राप्त कर ली कि कम्पनी को प्राप्त इस सुविधा का देश के अन्दर होने वाले व्यापार के सम्बन्ध मे उपयोग नही किया जाएगा। परतु कम्पनी के कर्मचारी दोनो तरह इसका फायदा उठाते थे। वे शुल्क अदा नही करते थे और देश के अन्दर निजी व्यापार भी करते थे। इस प्रकार देशी व्यापारियो के मुकाबले उन्हे अवैध सुविधा प्राप्त हो गई। बगाल के शासक मीर कासिम ने 1763 मे सभी व्यापारियो के लिए एक सी परिस्थितिया पैदा करने के लिए देश के अन्दर शुल्को को हटा दिया। दुर्भाग्यवश, अब इसके लिए विलम्ब हो चुका था। अब कम्पनी बहुत शक्तिशाली हो चुकी थी और भारतीय व्यापारियो के प्रति न्याय करने के प्रयत्न के दण्ड के रूप मे उसके हाथ से गद्दी जाती रही। 1765 मे कम्पनी को बगाल की दीवानी अर्थात् भारत के मुगल शहशाह की ओर से सूबे मे राजस्व वसूल करने का अधिकार मिल गया। इसके बाद कम्पनी बगाल के राजस्व की बचत से इस देश के निर्यात का सामान खरीद सकती थी और इसका मतलब यह हुआ कि अदायगी के लिए इग्लैंड से सामान या सोना लाने की जरूरत नही रही। बाद के लेखको ने, भारत का शोषण कहकर जिसकी निंदा की है, यह उसकी शुरुआत थी। विक्रय माल प्राप्त करने मे जबरदस्ती आम हो चुकी थी और इससे स्थिति और खराब हो गई। उदाहरण के लिए जो बुनकर अपना कपडा नही देना चाहते थे उनपर, जोर जबरदस्ती से, उनको घाटा होने वाली शर्तों पर अगाऊ सौदे थोप दिए गए। समय के साथ कम्पनी को ही उसके कर्मचारियो ने बडे पैमाने पर ठगना

शुरू कर दिया और वे इतने भ्रष्टाचारी हो गए थे कि उन पर सामान्य अनुशासन लागू नहीं होता था। इसके परिणामस्वरूप बंगाल का व्यापार और उद्योग ही नष्ट नहीं हुए वरन् 'वास्तव में अपने कारिन्दों की लूट-खसोट के कारण कम्पनी ही दिवालिया हो गई '[1]

इस विवरण से एक भूमिका तैयार होती है जिसके आधार पर अधिक सामान्य महत्त्व का प्रतिपादन प्रस्तुत किया जा सकता है। इंग्लैंड की औद्योगिक क्रांति के प्रारम्भिक काल में ईस्ट इण्डिया कम्पनी द्वारा अपनाए गए औपनिवेशिक शोषण' के तरीके ऐसे थे जिनसे बंगाल की अर्थ-व्यवस्था को तो असाधारण क्षति पहुंची परन्तु उसके अनुपात से इंग्लैंड को विशेष लाभ नहीं पहुंचा। ईस्ट इण्डिया कम्पनी के कारिंदा द्वारा बंगाल की लूट से इंग्लैंड को इतना ही लाभ हुआ कि लूट के धन को उत्पादक कार्यों में लगाया गया। परन्तु इस काले धन के अधिकांश भाग को व्यापार में न तो लगाया जा सकता था और न लगाया गया। द एण्ड आफ एम्पायर' में जान स्ट्रैची ने कहा है कि 'लूट-खसोट एक अविश्वसनीय रूप से व्यर्थ प्रक्रिया है। शोषित देश को जो नुकसान हुआ उस पर बहुत से राष्ट्रवादी लेखक क्षुब्ध हैं और उनका कहना है कि शोषक देश को उसी मात्रा में लाभ हुआ होगा, पर यह तर्क जल्दबाजी में दिया गया है। नुकसान और लाभ हमेशा बराबर नहीं होते औपनिवेशिक शोषण एक नकारात्मक उद्यम भी हो सकता है।

एक समय था जब औपनिवेशिक शोषण की कला में स्पेन के बराबर कोई नहीं था। परन्तु स्पेन वालों द्वारा दक्षिण अमरीका में लूट खसोट और धन इकट्ठा करने से स्पेन में व्यापार और उद्योग के विकास में अपेक्षाकृत कम ही सहायता मिली। मार्क्स ने 'जैनेसिस आफ इण्डस्ट्रियल कैपिटलिस्ट शीर्षक अध्याय में लिखा है अमरीका में सोने और चांदी की खोज, आदिवासी जनसंख्या का उन्मूलन उसको दास बनाना और खानों में उनको दफनाना ये निर्बाध कार्य आदि संचय के प्रमुख तत्त्व हैं।[2] तथापि उन राष्ट्रों में से कुछ राष्ट्रों में, जिन्होंने सबसे आगे बढ़कर इस तरह के काम किए, स्थायी प्रकार का पूंजी संचय बहुत कम हुआ और उन्हें पूंजीवादी उद्यमों के विकास में कोई सफलता नहीं मिली। उपनिवेशों से व्यापार में एक हद तक ही सहायता मिलती है। अमरीका के स्वतन्त्र हो जाने के बाद उस देश के साथ इंग्लैंड के व्यापार और अमरीका में लगी हुई इंग्लैंड की पूंजी में बहुत अधिक वृद्धि हुई। डेनमार्क और स्वीडन जैसे कुछ अन्य देश भी हैं जिन्होंने उपनिवेशों का कतई आश्रय लिए बिना व्यापार और उद्योग में ठोस उन्नति की। इस प्रकार 'पूंजीवादी शोषण की चाहे इतिहास में कोई भी भूमिका रही हो परन्तु आर्थिक विकास के मूल कारणों में इसकी गणना नहीं की जा सकती। इसकी गिनती विज्ञान और टेक्नालाजी के प्रति नई प्रवृत्ति, उत्पादक कार्य तथा निवेश की तरह के

1 जान स्ट्रैची द एण्ड आफ एम्पायर, विक्टर गोलज, लंदन 1959, पृ० 41

2 मार्क्स उपर्युक्त, पृ० 823

मूल कारणो में निश्चय ही नही की जा सकती। इस नई प्रवृत्ति को प्रभावी बनाने के लिए, जहा सामाजिक सस्थाओ में समुचित समायोजन कर लिया गया, वहा न तो पूजी के निर्माण में ज्यादा देर लगी और न औद्योगिक विकास मे, चाहे उन देशो के उपनिवेश थे या नही थे। द्वितीय महायुद्ध के पहले जापान के उपनिवेश बनाने के उद्यम की ओर सारे ससार का ध्यान गया और उसकी काफी चर्चा हुई। परतु उसी अवधि में जापान ने चुपचाप और आडम्बर के बिना कुछ अन्य राष्ट्रीय गुण विकसित किए। उसने अप्रासरता का उन्मूलन किया, अपने किसानो में सुधार करने की प्रवृत्ति पैदा की, अपने कामगारो में नई कुशलताओ और कठिन परिश्रम करने की आदतो का विकास किया और अपने यहा पूजी लगाने वालों का एक ऐसा वर्ग तैयार किया जो पूजी निवेश के प्रति बहुत सजग था। द्वितीय महायुद्ध के बाद जब उसका साम्राज्य जाता रहा तब ये गुण रह गए और उसका औद्योगिक विकास उस समय से भी ज्यादा तेजी से हुआ जब उसके उपनिवेश थे। उपनिवेशो के न रहने पर भी जापान के व्यापार का जाल बहुत व्यापक है और उसे जिन विविध स्थानो से कच्चा माल मिलता है उनमें कुछ तो ससार के सर्वाधिक विकसित देश है।

'इस बात की बहुत सम्भावना है कि युद्ध से पूर्व जापानी सरकार के साम्राज्य बनाने के सारे कार्यक्रम का 1938 से पूर्व देश की उत्पादक शक्तियों के दीर्घकालिक विकास मे मामूली-सा योगदान रहा।'[1] जापान के आर्थिक विकास के सम्बन्ध मे एक प्रमुख विशेषज्ञ के इन विचारो से कोई सहमत हो या न हो परतु इस बात मे बहुत कम सन्देह है कि पूजी के निर्माण मे औपनिवेशिक शोषण के योगदान को अक्सर जरूरत से ज्यादा बढाया गया है।

अब अन्त मे हम भूमि के अभिजात वर्ग के पास से धनिक व्यापारी उद्योगपति के पास चले जाने के प्रश्न के साथ इस विषय पर विचार करेंगे कि प्रारम्भिक अवस्था मे पूजी निर्माण मे उसने क्या योगदान दिया होगा। अगर यह मान लिया जाए कि भूमि के मालिक अभिजात वर्ग की बचत और निवेश की प्रवृत्ति व्यापारी और उद्योगपति से कम है तो पहले समूह से दूसरे समूह के पास धन चले जाने से पूजी के निर्माण मे सहायता मिलेगी। ऊपर से देखने मे यह अनुमान अनुचित नही जान पडता। यह अनुमान उचित मालूम होता है कि इतिहास के किसी मोड पर, मुद्रास्फीति के कारण जैसा कि ऊपर बताया गया है, धन का पुनर्वितरण हुआ था। जिस अवधि मे मूल्य बढते है उसमे मुनाफे भी बढते हैं जबकि अनुबध से निर्धारित मुद्रा अवशेष (मनी-रेण्ट) का वास्तविक मूल्य घट जाता है। कुछ इतिहासकारो ने उन विशेष परिस्थितियों की ओर भी ध्यान आकर्षित किया है जिनसे मजबूर होकर भूमि के मालिको को अपनी भूमि व्यापारियो और उद्योगपतियो को बेचनी पडी जो बाद मे इस भूमि को अधिक अनुकूल परिस्थितियो मे बेच सकें।

1 डब्ल्यू० डब्ल्यू० लाकवुड, 'द इकनामिक डेवलपमेंट आफ जापान', प्रिंसटन, 1954, पृ० 538

कुछ समाजो मे भूमिपति और उद्योगपति के बीच विभाजक रेखा, अन्य की अपेक्षा अलग दिखाई पड़ती है। 'एन इकनामिक हिस्ट्री आफ इग्लैंड' मे एस्टन ने लिखा है : 'इग्लैंड मे अभिजात वर्ग और जमीदार मिले हुए थे और जमीदार, मुक्त भूस्वामियो और किसानो मे मिले-जुले थे। जिन लोगो की आय लगान से थी और जिनकी आय उद्योग और वाणिज्य से थी उन दोनो वर्गों मे कोई खास अन्तर नही था। जमीनो के मालिक परिवार के अपने छोटे लडको को व्यापार मे लगाते थे और बडे-बडे मालिक परिवहन का कारोबार और वस्तुओ का निर्माण करते थे।'[1] इसका एक अच्छा उदाहरण सर रावर्ट पील थे, जो इग्लैंड मे औद्योगिक क्राति के जमाने मे कपास के बडे उद्योगपतियो मे से एक थे और स्वय लकाशायर के मध्यवर्ग के किसान-परिवार के थे। भूमिपति अभिजात वर्ग से औद्योगिक वर्ग मे धन के पुनर्वितरण का आर्थिक महत्व उस समाज मे अधिक प्रतीत होगा जिसमे दोनो वर्गों के बीच काम का अन्तर बहुत कठोर हो।

समय के साथ इस प्रकार के अन्तर कम हो जाते है अन्यथा आर्थिक प्रगति मे ये एक महत्वपूर्ण बाधा बन जाते हैं। या तो दोनो वर्ग एक-दूसरे मे घुल जाते हैं अन्यथा जोखिम उठाने की भावना कृषि म प्रवेश नही कर पाती। अगर ऐसा नही होता तो कृषि और उद्योग जैसे दो महत्वपूर्ण क्षेत्रो के बीच निश्चय ही असतुलन की बहुत गम्भीर समस्याए पैदा हो जाती है। इसलिए, कृषि मे गतिरोध तोडने के लिए प्रभावयुक्त उपाय करने आवश्यक होगे और यह पुनर्वितरण के द्वारा उद्योगपति के पास धन चले जाने मात्र से नही हो जाएगा। विज्ञान के प्रति नई प्रवृत्ति और काम के प्रति नई नैतिकता की तरह सामाजिक गतिशीलता, आर्थिक विकास के लिए ऐसी पूर्वापेक्षा है जिसके समान कोई और तत्व खोज पाना कठिन है।

---

1 टी० एस० एस्टन, एन इकनामिक हिस्ट्री आफ इग्लैंड द एटीन्थ सेंच्युरी', मेथ्युइन, लदन, 1955, पृ० 20-21.

4

धन का परिचलन

एल्फ्रड मार्शल ने आर्थिक विकास और शारीरिक क्रम विकास में समानता बताई है। विकास की प्रक्रिया में राष्ट्रीय अर्थ व्यवस्था के विभिन्न अंग अलग अलग हो जाते हैं और आगे का विकास इस पर निर्भर करता है कि विभिन्न अंगों के बीच कितनी अच्छी तालमेल है और कितनी अच्छी तरह वे एक दूसरे को तथा सम्पूर्ण अर्थ व्यवस्था को सहारा देते हैं। यह विषय आगे के अध्यायों में अनेक प्रसंगों में कई प्रकार से आएगा। इस समय कुछ प्रारम्भिक बातों की चर्चा उपयोगी होगी।

औद्योगीकरण से पूर्व के समाज में गाँव का गृहस्थ या ग्रामीण समुदाय जीवन के लिए नितान्त आवश्यक वस्तुओं के मामले में ज्यादातर आत्मनिर्भर होता था। सामान्यतः एक किसान परिवार अपने लिए अन्न ही पैदा नहीं करता था बल्कि घरेलू उपयोग के लिए मोटा कपड़ा भी तैयार करता था। गाँव के अन्दर ही एक प्रकार का श्रम विभाजन हुआ और इसी प्रकार पहले से चली आई प्रथा के अनुसार वस्तुओं के आदान प्रदान की प्रणाली चल पड़ी जैसे किसान और गाँव के लुहार के बीच। आर्थिक विकास के अनेक परिणामों में एक परिणाम यह हुआ कि श्रम के विभाजन को गाँव के बाहर ले जाकर धीरे धीरे गाँव की आत्मनिर्भरता को नुकसान पहुँचा। व्यापार के विकास के साथ जिन नगरों में बाजार थे वे ज्यादा महत्वपूर्ण होने लगे। ये नगर विविध और लम्बे अर्से के विनिमय के केन्द्र बन गए जो कि देहात में होना सम्भव न था और समय के साथ यहाँ नई नई और ज्यादा अच्छे किस्म की चीजें बनाई जाने लगीं। इनमें से कुछ बाजार तो गाँवों में ही बने और आगे जाकर विकसित हो गए और कुछ व्यापार के रास्तों पर या उन स्थानों पर बने जहाँ कई रास्ते आकर मिलते थे। कुछ बाजार ऐसी जगहों पर बने जहाँ प्रशासनिक काम से लोग आते थे या जो राजधानी थी अथवा धार्मिक स्थान थे। रिचर्ड कैण्टिलन ने अठारहवीं शताब्दी के आरम्भ में लिखे गए एसे आन द नेचर आफ ट्रेड इन जनरल में बाजार के नगरों के स्वरूप और कार्यों पर विस्तार और गहराई से चर्चा की है।

उस समय तक प्रमुख रूप से कृषि प्रधान एवं पुरातन विचारों के समाज के बीच योरप में जब ये व्यापारिक केन्द्र अस्तित्व में आए ये नई संस्कृति की उत्पत्ति के स्थान बन गए। पुरानी जमींदारी में दास जमीन से बंधा हुआ हो सकता था परंतु शहर के

व्यापारी के लिए उसकी जीवन-पद्धति के लिए विचरण की स्वतन्त्रता और जब इच्छा हो आने-जाने, बेचने-खरीदने की स्वतन्त्रता बहुत जरूरी थी। दास भी जब गाव से भाग कर शहर मे आ जाता था तब उसे भी ये अधिकार मिल जाते थे और वह स्वतन्त्र हो जाता था बशर्ते कि वह अपने मालिक से छिपा रहे और अक्सर वह छिपा रहता था। एक जर्मन कहावत थी कि 'शहर की हवा आदमी को आजाद कर देती है' और इस ऐतिहासिक अनुभव ने सारे जमाने पर अपना असर डाला। शहरों ने व्यापारिक स्वतन्त्रता की परम्परा डाली और स्वतन्त्रता के इस विचार को स्पष्ट कानूनी स्वरूप दिया। इतना ही नहीं उन्होंने नये विचार दिये, नये-नये प्रयोग करने की भावना और आर्थिक उद्यम करने की क्षमता जगाई जो इससे पहले विद्यमान न थी।

अपने विकास की प्रारम्भिक अवस्था में इन नगरों को पीरेन के शब्दों में 'परम्परा की सीमा के बाहर स्वतन्त्र अधिकार क्षेत्र के द्वीपों के रूप में' अपनी रक्षा करनी पड़ी।[1] परन्तु आर्थिक विकास को आगे बढ़ाने की उनकी क्षमता, लबे अर्से में इस बात पर निर्भर करती थी कि बाकी समाज के साथ आदान प्रदान के सम्बन्धों का विस्तार किस सीमा तक कर सकते हैं। विकास के केन्द्रों के रूप में प्रभावकारी ढग से काम करने के लिए आसपास के प्रदेश से व्यक्तियों और साधनों को ही आकर्षित नहीं करना था बल्कि देहातों को बड़ी मात्रा में बना-बनाया सामान भी भेजना था और इससे भी अधिक आवश्यक, कृषि के क्षेत्र में उद्यम की नई भावना विकसित करना था। अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में आर्थिक विकास के अधिक गम्भीर विवेचक इस बात को स्वीकार करने लगे थे। उनके कुछ विचार इतने महत्वपूर्ण हैं कि उन पर विशेष ध्यान दिया जाना चाहिए।

नगरों में, कृषि की वस्तुओं के साथ बने बनाए सामान के विनिमय की सम्भावना ने कृषि के विकास में किस प्रकार ऐतिहासिक मोड़ लिया इसके सम्बन्ध में 1767 में प्रकाशित 'प्रिंसिपल्स आफ पोलिटिकल इकनामी' में सर जेम्स स्टयुअर्ट ने कई दिलचस्प बातें कही हैं। केवल घरेलू खर्च के लिए पैदा करने वाले किसान-परिवार को अधिक पैदा करने का उत्साह नहीं होता। कृषि की मोटी वस्तुओं के उपभोग की मनुष्य की क्षमता बहुत सीमित है। एक सीमा के बाद, जो बहुत जल्दी पूरी हो जाती है, लोग सीधे उपभोग के लिए अधिक अनाज या अडे पैदा करने के लिए परेशान नहीं होंगे। इस प्रकार विनिमय की सीमित सम्भावना वाले स्वतन्त्र किसानों का समूह प्रायः निर्वाह के स्तर पर आकर टिक जाएगा। इन परिस्थितियों में अधिक उत्पादन या तो दासों द्वारा होगा या बेगार द्वारा, जिसमें एक तो कार्य-कुशलता नहीं होगी और दूसरे ऐसा करना स्वतन्त्रता के आदर्शों के प्रतिकूल होगा। बाजार वाले नगरों तथा रुपये के बढ़ते हुए उपयोग ने एक नया रास्ता दिखाया। स्वतन्त्र किसान उस स्थिति में स्वेच्छा से अपनी

1 हेनरी पीरेन, 'इकनामिक एण्ड सोशल हिस्ट्री आफ मैडीवल योरप', रुटलेज एण्ड केगन पाल, लदन, 1958, पृ० 53

आवश्यकता से अधिक पैदा कर सकते हैं जब उनके सामने अपनी अतिरिक्त भोजन की सामग्री के बदले आराम का सामान मिलने की सम्भावना हो, जो कि शहर में मिलने वाला कई प्रकार का बना-बनाया माल है। स्टुअर्ट के शब्दों में 'फालतू अडा रुपया हैं', जिसे देकर किसान उस आराम के सामान को खरीद सकता है जिसकी उसे बड़ी इच्छा थी। इस प्रकार, देहातों के नजदीक नगरों और बस्तियों का विकास कृषि को गतिरोध से उठाने में एक महत्वपूर्ण कदम रहा है। यह बात स्टुअर्ट के समय में ही नहीं थी वरन् आज भी कई अल्प विकसित देशों में देखने में आती है।

स्टुअर्ट की पुस्तक से लगभग दस वर्ष बाद प्रकाशित एडम स्मिथ की पुस्तक 'द वेल्थ आफ नेशन्स' में एक अध्याय है जिसका महत्वपूर्ण शीर्षक है हाउ द कामर्स आफ द टाउन्स कण्ट्रिब्यूटेड टु द इम्प्रूवमेंट आफ द कंट्री' (नगरों के व्यापार ने किस प्रकार देश के सुधार में योगदान दिया)। इसमें खेती को मिले प्रोत्साहन की चर्चा है जो कि 'देहात में पैदा होने वाली मोटी चीजों के लिए नगरों में बड़ा और तुरन्त बाजार मिल जाने के कारण था।' उसने लिखा है कि 'व्यापारी में सामान्यत: यह महत्वाकांक्षा होती है कि वे देहात में सम्भ्रान्त माने जाएं और अपनी इस इच्छा के कारण वे सबसे अच्छे सुधार करने वाले होते हैं।' इस प्रसंग में स्मिथ ने 'कृषि में ठोस सुधारों' के महत्व पर जोर दिया है और कहा है कि 'कोई देश वाणिज्य और वस्तुओं के निर्माण से जो पूंजी अर्जित करता है अगर उसका कुछ हिस्सा खेती और भूमि के सुधार से नहीं प्राप्त होता तो वह सम्पदा बहुत अनिश्चयात्मक एवं सन्दिग्ध होती है।'[1]

एडम स्मिथ और सर जम्स स्टुअर्ट दोनों स्काटलैंड के थे। जब ये दोनों प्रसिद्ध अर्थशास्त्री अपनी-अपनी पुस्तक लिख रहे थे उसी दौरान वाणिज्य के प्रभाव के कारण स्काटलैंड के लोलैंड्स की खेती में अभूतपूर्व शीघ्रता से सुधार और परिवर्तन किए जा रहे थे। 1707 में स्काटलैंड के इग्लैंड से मिल जाने के बाद वाणिज्यिक केन्द्र के रूप में ग्लासगो का महत्व बहुत तेजी से बढ़ा।

पहले तम्बाकू का व्यापार ग्लासगो की समृद्धि का प्रमुख साधन था। अमरीका के स्वाधीनता युद्ध के दौरान तम्बाकू के व्यापार को बहुत धक्का लगा फिर कपास की बारी आई। परन्तु हमारी सीधी दिलचस्पी ग्लासगो के अनेक व्यापारों से उस पर पड़े प्रभाव में नहीं है। हमारी दिलचस्पी यह जानने में है कि इस वाणिज्यिक विकास का कृषि पर क्या प्रभाव पड़ा। अठारहवीं शताब्दी के आरम्भ में स्काटलैंड की कृषि इंग्लैंड की कृषि से बहुत पीछे थी। शुरू में स्काटलैंड वालों ने इंग्लैंड से कुशलता और तकनीक सीखी। परन्तु कृषि में सुधार करने के आंदोलन ने इतनी विलक्षण तीव्रता से वेग पकड़ा कि उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ होने तक स्काटलैंड के किसान अंग्रेज किसानों को सिखाने लायक हो गए थे। यह उल्लेखनीय उन्नति ग्लासगो और उसके आसपास के व्यापारियों और

1 'द वेल्थ आफ नेशन्स', एव्रीमैंस लाइब्रेरी, खंड 1, पुस्तक 4, अध्याय 3, पृ० 362-373.

उद्योगपतियों की पूजी और उद्यम के द्वारा सम्भव हो सकी, जी० एम० ट्रेवेल्यन ने लिखा है, 'क्लेराइड की औद्योगिक और वाणिज्यिक उन्नति ने कृषि के लिए बाजार पैदा किया और भूमि के और सुधार के लिए पूजी दी। ग्लासगो की जहाजरानी-दुनिया के तम्बाकू के बड़े व्यापारियों ने और उन स्काट लोगों ने, जो ब्रिटिश भारत से बेहद सम्पत्ति कमा करके लौटे थे जमीनें खरीद ली और उनका विकास किया।'[1]

रक्त के परिसंचरण की तरह आर्थिक तन्त्र में 'धन के परिचलन' के विचार को प्रधानता क्वेसने ने दी, जो प्रकृतिवादी था। केण्टिलन ने अपने 'एसे आन द नेचर आफ ट्रेड' में पहले काफी हद तक इसी विचार का प्रतिपादन किया था। केण्टिलन के विवरण के अनुसार धरती की उपज अपने-आपको तीन प्रकार के अधिशेषों में विभाजित कर लेती है। कुल उपज का एक तिहाई जमींदार के पास चला जाता है और एक-तिहाई से किसान द्वारा लगाई गई लागत आ जाती है, और जो तीसरा हिस्सा बच जाता है उसे किसान का लाभ या उसने जो जोखिम उठाई उसका मुआवजा कह सकते हैं। (यह तीसरा हिस्सा, वास्तव में, अनिश्चित है। इसकी स्थिति पहले दो हिस्सों की तरह नहीं है जो निश्चित हैं।) जमीन के मालिक का पूरा हिस्सा और किसान के हिस्से का चौथाई शहर में खर्च हो जाते हैं। इस प्रकार, जमीन की आधी उपज $[\frac{1}{3}+(\frac{1}{4}\times\frac{2}{3})=\frac{1}{2}]$ शहर चली जाती है। वहां से यह उपज व्यापारियों तथा माल बनाने वालों द्वारा खाने-पीने की चीजों में कच्चे माल इत्यादि पर किए गए खर्च के रूप में देहात को वापस आ जाती है। धन के परिचलन की यही प्रक्रिया है। क्वेसने ने परिचलन की इस प्रक्रिया को अबाध रूप से कायम रखने के महत्व पर जोर दिया था। उसका कहना था कि 'आय की कुल राशि को पूर्णतः व्यय के वार्षिक प्रवाह में से हो कर निकलना चाहिए।' इसके लिए कारण यह बताया गया था कि परिचलन के प्रवाह में किसी भी जगह अगर कोई रुकावट आई, जैसे आय को प्राप्त करने वालों में से कुछ अगर उसका कुछ हिस्सा दबा लें तो अगली अवस्था में सबकी आय कम हो जाएगी। उदाहरण के लिए अगर भूमि का मालिक कम खर्च करे तो व्यापारी और वस्तु के निर्माता को उसी अनुपात में कम मिलेगा और इस लिए कच्चे माल पर खर्च करने के लिए उनके पास कम होगा।

क्वेसने ने बढ़ती हुई अर्थ-व्यवस्था के संदर्भ में नहीं सोचा था। उसके विचार में अर्थ-व्यवस्था का प्रवाह ऐसा था जिसे अर्थशास्त्री कभी-कभी 'आवर्ती प्रवाह' कहते हैं, अर्थात् ऐसी अर्थ-व्यवस्था एक अवधि के बाद दूसरी अवधि में केवल अपना पुनरुत्पादन करती है और इसकी उत्पादक गतिविधि के परिमाण में न तो कोई वृद्धि होती है और न ह्रास। अब अगर हम धन के परिचलन के विचार को एक ऐसी अर्थ-व्यवस्था पर लागू करना चाहें जहां गांव और शहर एक दूसरे को सहारा देकर आगे बढ़ रहे हैं तो हमें पुराने सत्र में तदनुसार परिवर्तन करना होगा। खास तौर से हमें 'आय' को ही नहीं

1 जी० एम० ट्रेवेल्यन, 'इंग्लिश सोशल हिस्ट्री', लागमैन्स, लंदन, तीसरा संस्करण, 1946, पृ० 452

वरन् पूंजी को भी ध्यान में रखना होगा। अर्थशास्त्री अक्सर पूंजी की गतिशीलता पर जोर देते हैं। परंतु इस गतिशीलता के एक पहलू पर खास तौर पर जोर देने की जरूरत है। सामान्य रूप से कहा जाए तो सभी देशों में पूंजी श्रम से अधिक गतिशील होती है। व्यापार और उद्योग में अलग-अलग क्षेत्रों में पूंजी गतिशील होती है। परंतु प्रश्न यह है कि क्या पूंजी व्यापार और उद्योग से कृषि की तरफ जाती है और फिर उसी तरह वापस लौट पड़ती है? कुछ देशों में तो ऐसा होता है परन्तु अन्यत्र स्थिति भिन्न है। कुछ अल्प विकसित देशों में व्यापार और संचित पूंजी से लाभ कमाया गया है, परंतु इसमें से बहुत कम कृषि में लगाया गया है। कृषि में सबसे अधिक सुधार करने वाले जिन व्यापारियों की चर्चा एडम स्मिथ ने की है वे सब जगह समान रूप से नहीं होते। आर्थिक विकास के लिए पूंजी का व्यापार के अन्तर्गत होना ही पर्याप्त नहीं है, आर्थिक गतिविधि के विभिन्न क्षेत्रों में भी पूंजी की विशेष प्रकार की गतिशीलता होनी चाहिए जिसके होने पर ही देश के धन का कुछ हिस्सा या काफी हिस्सा खेती और भूमि के सुधार में लगाया और नियोजित किया जा सकता है।

आर्थिक विकास के प्रसंग में 'द्वैध' समाज की समस्याओं के विषय में कुछ अर्से से चर्चा हो रही है। 'गेमीनशाफ्ट एण्ड गेसेलशाफ्ट' के लेखक फर्डिनेंड टोनीज ने (1855--1936) दो प्रकार के समाजों अथवा सामाजिक सम्बन्धों की उलझनों में मौलिक अन्तर बताया। एक तरफ इस प्रकार के सम्बन्ध हैं जो समान रक्त अथवा पड़ोस पर आधारित तथा पुरानी परम्पराओं द्वारा मान्यता प्राप्त हैं, जिन्हें जैसे हो 'प्राकृतिक' समझा जाता है। ये 'गेमीनशाफ्ट' के अन्तर्गत आते हैं। व्यापारी वर्ग के उद्भव और उत्कर्ष से पहले ग्रामीण समुदाय मोटे तौर पर सामाजिक अथवा सामुदायिक सम्बन्धों की इस व्यवस्था के अनुरूप था। वाणिज्य की उन्नति के साथ शहरों में भिन्न प्रकार के सामाजिक सम्बन्ध पैदा हुए जो संविदात्मक दायित्वों एवं इनके अनुरूप कानूनी मान्यताओं तथा युक्ति एवं तर्क सम्बन्धी गणनाओं पर आधारित थे। 'गेसेलशाफ्ट' के अन्तर्गत इसी प्रकार के सम्बन्ध आते हैं। जो समाज पूर्व औद्योगिक से औद्योगिक अवस्था की ओर जा रहा होता है उसमें इन दोनों आदर्श व्यवस्थाओं का बदलता हुआ और विकासमान मेल होता है। साधारण या अधिक प्रचलित भाषा में कहा जाए तो इन दो प्रकारों के बीच जो अन्तर है वह वैसा ही है जैसा अठारहवीं शताब्दी के दौरान, पश्चिम में समुदाय के सम्बन्ध में पूर्व औद्योगिक कल्पना और 'शिष्ट समाज' के विचार के बीच पैदा हो गया था। 'गेसेलशाफ्ट' शब्द का प्रयोग करना हमारे लिए इसलिए अच्छा है कि यह हमें याद दिलाता रहता है कि 'शिष्ट समाज' का विकास वस्तुतः शहर में वाणिज्य के विकास से सम्बन्धित है।

ऊपर प्रस्तुत किए गए विभेद के आधार पर हम विकासमान समाज को 'द्वैध' कह सकते हैं क्योंकि उसमें विभिन्न रूपों एवं अनुपातों में दोनों प्रकार के सामाजिक और आर्थिक सम्बन्धों और जीवन-पद्धतियों का सम्मिश्रण होता है। इन दोनों जीवन-पद्धतियों में सहअस्तित्व ही नहीं है वरन् ये दोनों एक-दूसरे को प्रभावित भी करती हैं। आर्थिक

विकास की प्रक्रिया से इसका गहरा प्रभाव होता है। इस आधार पर इण्डोनेशिया और अधिक सामान्य रूप से एशिया के भूतपूर्व उपनिवेशी देशों की आर्थिक स्थिति का विवेचन कुछ समय पूर्व जे० एच० बोके ने किया था। उसने नगर की आर्थिक और ऐतिहासिक भूमिका के विषय में पश्चिम और पूर्व में बहुत अन्तर स्थापित किया है। पश्चिम में, मध्य काल की समाप्ति की ओर, व्यापार के पुनरुत्थान के काल में, प्रारम्भिक पूंजीवाद के परिणाम के रूप में नगरों का निर्माण हुआ। समय के साथ गांवों की जनसंख्या का अपने में समावेश करके नगरों का विकास ही नहीं हुआ वरन् उन्होंने कृषि का वाणिज्यीकरण करने में सहायता की और वे आर्थिक बुद्धिवाद की भावना को देहात के अन्दर तक ले गए और इस प्रकार, उन्होंने पहले के सामाजिक सम्बन्धों को समाप्त कर सारे देश में आर्थिक विकास को बढ़ावा दिया। बोके का कहना है कि पूर्व में कुछ और ही हुआ। यहां पर, मध्य काल में नगर का अर्थ था अदालत-कचहरी, किला या धार्मिक केन्द्र या उपभोक्ताओं का समूह जो ग्रामीण अर्थ व्यवस्था के अतिरिक्त उत्पादन का उपयोग कर ले। नगर कोई ऐसा केन्द्र न था जहां से नये विचार और उत्पादक सम्बन्धों का प्रसार होता हो। आधुनिक युग में, पश्चिम के साथ व्यापार के प्रभाव के कारण ही वहां कुछ बन्दरगाह, पूंजीवादी उद्यम के केन्द्र और वाणिज्यिक क्षेत्र बन गए हैं परन्तु ये सब कुछ अलग थलग रह जाते है और बाकी देश के जीवन से उनका कोई नाता नहीं रह जाता। सारे समाज को बदल डालने में उनकी कोई भूमिका नहीं होती। पूर्व के उपनिवेशी और भूतपूर्व उपनिवेशी समाज को बोके ने इस विशेष अर्थ में द्वैध समाज कहा है। बोके का कहना है

> द्वैध समाज में वर्तमान दो सामाजिक प्रणालियों में से एक प्रणाली, जो कि हमेशा उन्नत होती है, विदेश से ली गई होती है और वह प्रणाली नये पर्यावरण में अपना अस्तित्व तो कायम कर लेती है परन्तु जो, भिन्न सामाजिक प्रणाली को बेदखल या आत्मसात् नहीं कर पाती। जिसका परिणाम यह होता है कि दोनों में से एक भी प्रणाली सम्पूर्ण समाज में व्याप्त अथवा उसका गुण नहीं बन पाती। सामाजिक द्वैधता आयातित सामाजिक प्रणाली एवं एक भिन्न प्रकार की देशज सामाजिक प्रणाली के बीच संघर्ष से उत्पन्न होती है।[1]

बोके की अवधारणा की कुछ आलोचना हुई है। प्रोफेसर बी० हिगिन्स ने, जो सामान्यतः आर्थिक विकास के अध्ययन के लिए विख्यात हैं और खास तौर से जिन्हें इण्डोनेशिया की अर्थ-व्यवस्था की विशेष जानकारी है, लिखते हैं, 'अल्प विकसित और उन्नत क्षेत्रों के बीच विषमता उतनी तीव्र प्रतीत नहीं होती जितनी बोके ने कही है और वह भी

1 जे० एच० बोके, इकनामिक्स एण्ड इकनामिक पालिसी आफ ड्यूअल सोसायटीज, लीडन विश्वविद्यालय, 1953, पृ० 4

कम होती प्रतीत होती है। मैं यह भी स्वीकार नहीं करता कि यह द्वैधता पूर्व की ही विशिष्टता है।'[1] यह नहीं कहा जा सकता है कि उपनिवेशी देशों में भी 'आधुनिक' क्षेत्र कृषि के वाणिज्यीकरण में पूर्णत: विफल रहा है। उदाहरण के लिए भारत में कुछ व्यापारिक फसलों का विदेशी व्यापार के प्रभाव के कारण विकास हुआ। यह भी कहा जा सकता है कि बोके ने जिस 'द्वैधता' की बात कही है, या देश में आर्थिक गतिरोध के साथ शहरों में पूंजीपति उद्यमों का सहअस्तित्व, 'पूर्व की ही विशिष्टता' नहीं है। दक्षिण अमरीका के कई देशों की तुलना में जापान ने इस पर काफी हद तक काबू पा लिया है। इतना सब कहने के बाद भी यह बात रह जाती है कि कई उपनिवेशी और भूतपूर्व उपनिवेशी देशों में उन्नीसवीं शताब्दी में जो वाणिज्य और आधुनिक उद्यम, कुछ नगरों में, विशेषकर समुद्र-तट पर स्थापित हुए थे उनका प्रभाव देश के अन्दर दूर तक नहीं फैला और इस प्रकार के देशों में एक साथ पाए जाने वाले दोनों युगों के बीच की विषमता काफी तीव्र प्रतीत होती है। आधुनिक युग के आर्थिक इतिहास का यह ऐसा तथ्य है जिसे नकारा नहीं जा सकता और हम केवल यह कह कर इसकी व्याख्या नहीं दे सकते कि यहां पर जो कुछ है उसमें केवल मात्रा का ही अन्तर है।

उदाहरण के लिए भारत को लीजिए। पिछली शताब्दी के मध्य में लिखते समय मार्क्स इस देश में ब्रिटिश साम्राज्यवाद की विनाशक भूमिका से ही नहीं बल्कि उसकी रचनात्मक भूमिका से भी प्रभावित हुआ था। उसे आशा थी कि भारतीय ग्रामों की पुरानी सामाजिक व्यवस्था समाप्त होगी और इंग्लैंड के साथ व्यापार के प्रभाव के परिणामस्वरूप एक सच्ची सामाजिक क्रांति होगी। उसने लिखा

> अंग्रेजी वाष्पशक्ति तथा अंग्रेजी मुक्त व्यापार के कारण सामाजिक संघटना के इन छोटे रूढ़िगत रूपों को काफी हद तक समाप्त कर दिया गया है।
> अंग्रेजी हस्तक्षेप के कारण हिन्दू सुनार और जुलाहे दोनों नष्ट हो गए और उनके आर्थिक आधार को नष्ट करके इन अर्द्ध सस्कृत तथा अर्द्ध सभ्य समुदायों को छिन्न भिन्न कर दिया गया और सच तो यह है कि इस प्रकार एशिया में एक मात्र सामाजिक क्रांति पैदा हुई है।
>
> ('न्यूयार्क डेली ट्रिब्यून', 25 जून 1853)।

मार्क्स का ख्याल था कि भारत में सामाजिक क्रांति तो आ ही चुकी है। उसके अलावा उसे आशा थी कि निकट भविष्य में, विशेषत: रेलवे के प्रारम्भ होने के परिणामस्वरूप, जो कि उसके लिखते समय शुरू की जा रही थी, यहां औद्योगिक क्रांति भी होगी।

---

1 बी० हिगिन्स 'द डुअलिस्टिक थ्योरी आफ अण्डर डेवलप्ड एरियाज इन इकनामिक डेवलपमेंट एण्ड कल्चरल चेंज' शिकागो जनवरी 1956

मैं यह जानता हू कि कारखानो के मालिक अंग्रेज भारत में रेलवे केवल इसलिए बनाना चाहते हैं ताकि वे अपने कारखानो में बनने वाली वस्तुओं के लिए कम से कम खर्च पर कपास और दूसरा कच्चा माल प्राप्त कर सकें। परतु एक ऐसे देश के परिचालन में, जहा लोहा भी है और कोयला भी, अगर आप एक बार मशीन की शुरुआत कर देते हैं तब आप वहा मशीनो के निर्माण को रोक नही सकते। रेलवे के परिचालन के लिए वांछित तात्कालिक और चालू आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए आवश्यक सभी औद्योगिक प्रक्रियाओ को लाए बिना एक विशाल देश में रेलवे के जाल को चलाया नही जा सकता। इसलिए, भारत में रेलें वास्तविक रूप से आधुनिक उद्योग की अग्रदूत होगी।

('न्यूयार्क डली ट्रिब्यून', 8 अगस्त, 1853)।

कोयला और लोहा रखने वाले देश के परिचालन में मशीनो की शुरुआत की चर्चा करते समय कार्ल मार्क्स कदाचित् जर्मनी के उदाहरण की बात सोच रहा था क्योकि वहा भी औद्योगिक क्राति की शुरुआत रेलवे से हुई थी। लेकिन अगर पीछे घूम कर देखा जाए तो इन दोनो देशो के अनुभवो में समानता इतनी आश्चर्यजनक नही है जितनी यह बात कि आधुनिक उद्योगो ने जर्मनी मे इतनी शीघ्रता से उन्नति की जबकि इसकी तुलना में भारत में इनकी प्रगति नगण्य रही। मार्क्स के बाद पूरी एक शताब्दी ने ऊपर दी गई पक्तियों को सही प्रमाणित किया है परतु यह विलक्षण बात है कि भारत के गाव जिक क्राति से अछूते रह गए और भारत की कृषि की अर्थ व्यवस्था तकनीकी परिवर्तन का प्रतिरोध करती रही।

इसके विवेचन में हमसे भूल नही होनी चाहिए। ब्रिटिश प्रभाव से भारत मे, कलकत्ता और बम्बई जैसे समुद्र-तट के नगरो में, उन्नीसवी शताब्दी के नवजागरण की तरह कुछ नये विचार आए और इनके साथ ही व्यापारिक गतिविधियो में काफी वृद्धि हुई। परतु ये विचार अधिकाश रूप में जिन नगरो में पैदा हुए वही तक सीमित रहे। देहातो मे किसान निरक्षरता में ही फसा रहा और भारत की ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था के गति-रोध के समाप्त होने के कोई लक्षण नही थे। हमने पहले देखा था कि ग्लासगो और उसके आसपास के व्यापार की सचित पूजी किस प्रकार काफी मात्रा में लोलैड्स की कृषि में पहुची। ऐसा प्रतीत होता है कि भारत से आने वाले व्यापारियो ने स्काटलैंड के कृषि-सुधार में कुछ योगदान किया। इसकी बगाल के अनुभव के साथ तुलना की जाए तो यहा के धनी व्यापारी कभी-कभी जमीन खरीद लेते थे। परतु कलकत्ता की पूजी और उद्यम ने बगाल की कृषि के सम्बन्ध में वह रचनात्मक भूमिका नहीं निभाई जो लदन या ग्लासगो ने इग्लैंड के स्काटलैंड या लोलैंड्स के सम्बन्ध में निभाई थी। नगरो के व्यापार द्वारा देश के सुधार में योगदान के विषय म जो विवरण एडम स्मिथ ने दिया था वह भारत के मामले में लागू नही होता था। यह सम्भव है कि बोके ने समस्या का निरूपण

समुचित रूप से न किया हो। यह हो सकता है कि यह अन्तर पूर्वी और पश्चिमी मनोवृत्ति के अन्तर के कारण न हो। परतु ऐतिहासिक अनुभव की विषमता को हमें ध्यान में रखना होगा और अगर सम्भव हो सके तो इसके कारण की व्याख्या करनी होगी।

व्याख्या का एक अश तो कम से कम स्पष्ट है। उपनिवेशी देशो मे 'आधुनिक' और पारम्परिक क्षेत्र के बीच विचारो के आदान-प्रदान मे बडी बाधा रहती है। अक्सर भाषा की बाधा रहती है और सस्कृति की दूरी तो काफी बडी होती है। विदेशी व्यापार और राजनीतिक आधिपत्य के कारण जो नगर और व्यापारिक केन्द्र बन जाते हैं वहा का नया विशिष्ट वर्ग विदेशी भाषा को अगीकार कर लेता है। जब सास्कृतिक नवजागरण होता है तब नये आदोलन के आलोचनात्मक सदर्भ के लिए दूसरे देश के इतिहास और साहित्य को देखना होता है। प्रशासक और व्यापारी के रूप मे आने वाले अधिकाश अग्रेज, और खास तौर से जो इस महाद्वीप मे महारानी विक्टोरिया के शासन की उदघोषणा के बाद आए थे, शेष भारतीय समाज से अलग रहते थे और जब वे भारत से वापस जाते थे तो उनके तौर-तरीके मे कोई अन्तर न होता था। परतु व्यापार, प्रशासन और अन्य ऊचे पेशा के अगुवा लोग, जो आसपास के जिलो से कलकत्ता जैसे शहर मे आ गए और जिन्होने शहर की नई सस्कृति को आत्मसात् कर लिया उनकी जल्दी ही एक पृथक 'जाति' बन गई जिनके लिए बाकी देश से रचनात्मक आदान-प्रदान करना बहुत कठिन हो गया। चूकि शहर की सस्कृति नैसर्गिक विकास का परिणाम न होकर बाहर से आरोपित वस्तु थी इसलिए परम्परा से आधुनिकता को सक्रमण का मार्ग प्रशस्त करने के बजाय समाज के अन्दर एक दरार पैदा करती थी। वास्तव मे यह समस्या केवल उपनिवेशी देशा की ही नहीं है। परतु जब विदेशी प्रभाव वाले व्यापारिक केन्द्रो और पारम्परिक समाज का टकराव होता है तब दोनों क्षेत्रो के बीच का सघर्ष और तीव्र हो जाता है।

व्यापार का जो स्वरूप इन केन्द्रो मे विकसित हुआ उसने आधुनिकीकरण के प्रसार वाले प्रभाव को और कमजोर कर दिया। उपनिवेशी अर्थ व्यवस्था, शहर और देहातो के बीच धन का उस प्रकार का परिचलन पैदा न कर सकी जिसके द्वारा कृषि, और शहरो के उद्योग एक-दूसरे पर आश्रित विकास की प्रक्रिया म सम्बद्ध हो जाते। धरती, खानो और कृषि की मोटी उपज इकट्ठी करके समुद्र तट के बन्दरगाहो तक पहुचा दी जाती और वहा से विदेश को निर्यात कर दी जाती। व्यापार की इस व्यवस्था को सहारा देने के लिए सहायक सस्थाए पैदा हो गई। ऋण देने वाली सस्थाए आश्रित देश और राजधानी के बीच के व्यापार की विशेष सहायता करती और इससे एक 'आरोपित द्विपक्षीयता' उत्पन्न हो जाती जिसे गुनार मरडल ने 'एनफोर्स्ड बाइलेटरलिज्म' कहा है। इसके साथ ही उपनिवेशी अर्थ-व्यवस्था मे घरेलू उद्योगो की ऋण-सम्बन्धी आवश्यकताए पूरी नही होती। यहा तक कि परिवहन-प्रणाली का, उदाहरण के लिए

रेलवे का, विकास इस प्रकार किया गया और भाड़ा इस प्रकार निर्धारित किया गया जिससे औद्योगीकरण के प्रसार में सहायता करने के बजाय देश के अन्दर के भागों से बड़ी मात्रा में सामान बन्दरगाहों को ले जाने में मदद मिले।

ये कुछ मुख्य कारण हैं जिनकी वजह से 'जिन स्थानों से उपनिवेशी अर्थ-व्यवस्था शुरू हुई थी वहीं तक रह गई' और '(इन केन्द्रों से) प्रसार का वेग या तो बहुत कमजोर था या बिल्कुल नहीं था।'[1] साम्राज्यवाद के आर्थिक परिणामों के विषय में किसी भी युक्तियुक्त आकलन में इसकी गणना करना आवश्यक है। यह बात विवादास्पद है कि अपनी प्रारम्भिक अवस्था में, साम्राज्यवाद की निश्चयात्मक भूमिका थी जिसमें वह पारम्परिक समाज को एकाकीपन से निकाल कर विश्व की अर्थ-व्यवस्था का अंग बना सकता था। परन्तु इस प्रक्रिया में विश्व व्यापार का एक विकृत रूप सामने आया जिससे कि बाद को विश्व के आर्थिक विकास में साम्राज्यवाद सबसे अच्छा योगदान यह कर सकता था कि अपनी जकड़ को कम करके अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सम्बन्धों को अधिक सहज रूप ग्रहण करने देता। विदेशी व्यापार और विदेशी सम्पर्क का बहुत-से देशों के आर्थिक विकास में महत्वपूर्ण और रचनात्मक स्थान है। पर उपनिवेशी प्रभुत्व का योगदान कुल मिलाकर जटिल, अस्पष्ट और जैसे-जैसे समय बीतता गया अधिक नकारात्मक रहा है।

जहां 'प्रसार सम्बन्धी प्रभाव' कमज़ोर होते हैं वहां 'पीछे को ले आने वाले प्रभाव' हावी होने लगते हैं। जो लोग अधिक उद्यमी होते हैं वे पिछड़े इलाकों से विकसित इलाकों में आ जाते हैं। आधुनिक क्षेत्र में तो उत्पादक गतिविधियों के लिए पर्याप्त साधन सुविधाएं हो जाती हैं जबकि दूर के जिलों की उपेक्षा हो जाती है। पिछड़े हुए क्षेत्रों की अपेक्षा विकसित क्षेत्रों में शिक्षा और प्रशिक्षण की सुविधा अधिक शीघ्रता से बढ़ती है। उद्योगों के स्थानीकरण, कुशल श्रम और अनेक प्रकार की सहायक सेवाओं के कारण अन्य क्षेत्रों की अपेक्षा उसी क्षेत्र में पूंजी लगाना लाभकर हो जाता है। इस प्रकार 'प्रसार सम्बन्धी प्रभाव के कारण जैसा होना है वैसा न होकर पिछड़े क्षेत्रों और विकसित क्षेत्रों की दूरी वास्तव में बढ़ती जाती है।

इस परिस्थिति के एक और पहलू पर विशेष रूप से ध्यान देना आवश्यक है। औद्योगीकरण से पूर्व के समाजों के आर्थिक जीवन में कृषि और ग्रामीण घरेलू उद्योगों के बीच एक विशेष सन्तुलन होता है। ऊपर बताई गई प्रतिकूल परिस्थितियों में जब आधुनिक क्षेत्र पारम्परिक अर्थ-व्यवस्था से टकराता है तो यह आंतरिक सन्तुलन बहुत अधिक अव्यवस्थित हो जाता है। उदाहरण के लिए ऐसा भारत में हुआ। इस प्रकार आधुनिक *उद्योग के प्रभाव से भारत में जापान की अपेक्षा ग्रामीण उद्योग का अधिक शीघ्रता से* ह्रास हुआ था जबकि जपान में औद्योगीकरण का प्रसार विस्तृत रूप से और कहीं अधिक शीघ्रतापूर्वक हुआ। इसके परिणामस्वरूप पारम्परिक क्षेत्र में विघटन हुआ। इसके

1 गुनार मरडल, 'इकनामिक थ्योरी एण्ड अण्डर डेवेलप्ड रीजन्स', (डकवर्थ, लंदन, 1957) मेथ्युइन, लंदन युनिवर्सिटी पेपरबैक, 1963, पृ० 58

दूरगामी प्रभाव हुए। देहातों में दुर्दशा पैदा करने के अलावा इसने आधुनिक क्षेत्र को 'रुग्ण' बना दिया।

रुद्ध आर्थिक विकास के साथ औद्योगिक दृष्टि से अल्प विकसित देश के कुछ लक्षण ये हैं - ऐसे व्यापारिक केन्द्र जिनका बाकी घरेलू अर्थ-व्यवस्था से सम्बन्ध कमजोर हो पिछड़े हुए और असंगठित देहात, आधुनिक क्षेत्र में स्थिर और अनुशासित श्रमिक समुदाय का अभाव और प्रबन्धकों की ओर से किसी उद्देश्य को लेकर तकनीकी सुधार करने की प्रवृत्ति का अभाव, तथा रुग्ण, परिवहन और सचार-व्यवस्था जो राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था की इस रुग्णता की स्थिति के अनुरूप हो। प्रश्न यह है कि ऊपर बताई गई अवबाधित औद्योगिक गति के 'प्रस्थान' की अवस्था में गतिशील अर्थ-व्यवस्था की, चाहे वह पूंजीवादी हो अथवा अन्य प्रकार की, विशिष्टता क्या होती है? जाहिर है कि इस विशिष्टता की खोज श्रम के शोषण की तीव्रता में न होकर इस प्रकार के शोषण के साथ आने वाले निश्चयात्मक लक्षणों में करनी होगी। यह कहा गया है कि पूंजी का निर्माण आर्थिक विकास के अन्तिम उद्देश्य से अधिक उसका लक्षण है। पूंजी एक तरफ तो उद्यम जनित वस्तु है और दूसरी तरफ यह एक तत्व है जिसमें नई कुशलताएं और तकनीकें जमाई जाती हैं और इनके माध्यम से अर्थ व्यवस्था के एक अंग से दूसरे अंग तक नई-नई गतिविधियों का संचार होता है। जब इन निश्चयात्मक कार्यों में से कुछ या अधिकांश से यह वियुक्त हो जाती है तब अर्थ-व्यवस्था असंतुलित हो जाती है, उसके विविध अंग विकृत हो जाते हैं और पूंजी के परिचलन की दोषपूर्ण प्रणाली के कारण इसकी क्रिया शक्ति नष्ट हो जाती है।

5
जनसंख्या में वृद्धि

औद्योगीकरण से पूर्व के समाजो मे जन्म-दर और मृत्यु-दर दोनों अधिक होती हैं परन्तु इसके बावजूद जनसख्या म अनुकूल वद्धि होना सम्भव है। अगर जन्म-दर और मृत्यु-दर को मोटे तौर पर निश्चित मान लिया जाए और दोनों के बीच अनुकूल अन्तर हो तो एक स्थिर घातीय (एक्सपोनेंशल) वृद्धि-दर प्राप्त हो जाएगी। परतु एक लबे अर्से मे साधारण घातीय वृद्धि-दर को भी कायम रखना कठिन हो जाएगा। हेनरी अष्टम से चार्ल्स द्वितीय तक के सौ वर्षो मे इग्लैंड की जनसख्या शायद दुगुनी हो गई। इस हिसाब से कोई सख्या दो हजार वर्ष म दस लाख गुनी बढ जाएगी। ईस्वी सन् के शुरू मे, अनुमान है कि ससार की जनसख्या 25 करोड थी। इससे स्पष्ट है कि वर्तमान समय म स्थिर घातीय वृद्धि-दर की कल्पना छोड देनी होगी।

औद्योगीकरण से पूर्व के समाजो मे, मृत्यु-दर के अधिक होने के कारण की व्याख्या की जा सकती है। खाद्य का उत्पादन सीमित ही नही वरन् मौसम की कृपा पर भी बहुत हद तक निर्भर होता है। देश का आकार कुछ भी हो, वर्षा सामान्यतः सभी क्षेत्रो मे बराबर अच्छी नही हो सकती और परिवहन की सुविधाओ के अभाव के कारण खाद्य का स्थानीय अभाव आसानी से अकाल का रूप ले लेता है। आहार के असन्तुलित होने के कारण—जिसके कारणो की चर्चा हम पहले कर चुके है—रोग का प्रतिरोध करने की शक्ति कम होती है और सार्वजनिक स्वास्थ्य और सफाई का स्तर नीचा होने के कारण महामारियो को रोकना कठिन हो जाता है। अगर ऊची मृत्यु-दर की स्वतत्र रूप से व्याख्या कर दी जाए तो इसके परिणाम के रूप मे ऊची जन्म दर की भी अशत व्याख्या की जा सकती है। जिस जाति अथवा समुदाय मे मृत्यु-दर अधिक हो वह तब तक जीवित नही रह सकता जब तक कि उसकी जन्म-दर अधिक न हो। इस प्रकार ऊची मृत्यु दर ऐसी सस्कृति को जन्म देती है जिसमे जन्म की क्षमता को महिमा प्रदान की जाती है। इस वक्तव्य को कुछ सीमित करने की आवश्यकता है, परतु इसकी अभी अपेक्षा नही है।

चूकि जनसख्या की घातीय वृद्धि-दर को अनन्तकाल तक कायम नही रखा जा सकता इसलिए हमे चक्रो के किसी प्रकार के सिद्धान्त का सहारा लेना पडता है। इस प्रकार के सिद्धान्त के निमित्त तत्व तलाश करने के लिए आर्थिक और राजनीतिक तथ्यों को

मिलाना होगा। जनसंख्या के लंबे चक्रों को स्पष्ट रूप से समझने के लिए हमें संसार के पुराने साम्राज्यों के शासनकाल का अध्ययन करना होगा। एक एकड़ कितने व्यक्तियों के लिए खाद्य पैदा कर सकता है यह मोटे तौर पर उस समय की संस्कृति और टेक्नालाजी पर निर्भर था। राज्य की कुल खेती की जमीन के साथ कुछ अन्य तकनीकी एवं आर्थिक बातों पर यह निर्भर करता था कि अधिक से अधिक कितनी जनसंख्या का पोषण हो सकता है। जब कोई साम्राज्य छिन्न-भिन्न होने की दशा में बढ़ता और राजनीतिक बेचैनी एवं बड़े पैमाने पर अव्यवस्था फैलती तो कुल जमीन के अनुपात में खेती की जमीन काफी कम हो जाती, और ज्यों-ज्यों शांति और व्यवस्था आती और नये साम्राज्य के पांव जमने लगते, खेती के अन्तर्गत जमीन भी बढ़ जाती। इस प्रकार जनसंख्या का आकार एक अनिर्धारित निम्नतम तथा अधिकतम सीमा के बीच घटता बढ़ता रहता और यह घटना-बढ़ना टेक्नालाजी की स्थिति तथा शासकों की सार्वजनिक कार्य कराने और उनको कायम रखने की क्षमता और इच्छा पर निर्भर करता था। यह कोई नयी बात नहीं है। इस सिद्धान्त के कुछ तत्व इब्न खालदून की रचनाओं में पाए जाते हैं तथा कुछ अन्य तत्व बाद के लेखकों की रचनाओं में।

जापान में लंबे अर्से तक हिंसा और गृहयुद्ध के बाद तोकुगावा शासन दृढ़तापूर्वक स्थापित हुआ और सत्रहवीं शताब्दी के आरम्भ से लगभग ढाई सौ वर्षों तक इसने देश में शांति और व्यवस्था कायम रखी। आई० बी० टौबर का कहना है कि परोक्ष प्रमाणों से पता चलता है कि सोलहवीं शताब्दी के अन्त में जापान की जनसंख्या लगभग एक करोड़ अस्सी लाख से बढ़कर सत्रहवीं शताब्दी के अन्त तक शायद ढाई करोड़ हो गई। इसके बाद ऐसा प्रतीत होता है कि ऐसा बिन्दु आ गया जिससे जनसंख्या अधिक नहीं बढ़ी। सरकारी तौर से स्वीइन 'शोगुन' में प्रकाशित 1726 के पहले विवरण एवं 1852 में प्रकाशित अंतिम विवरण में, यानी एक सौ पच्चीस वर्षों में, जन-सामान्य की संख्या में अपेक्षाकृत बहुत कम परिवर्तन हुआ।'[1] उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में जापानी समाज की तकनीकी उपलब्धियों में इतनी वृद्धि हो गई कि उनके लिए बहुत अधिक जनसंख्या का पोषण करना सम्भव हो गया और इसलिए जनसंख्या में वृद्धि की एक लम्बी लहर आई।

जनसंख्या में बढ़ोतरी के इस लंबे चक्र में जो सांस्कृतिक तत्व अधिक प्रजनन को महत्व देते थे, उनका उस अवधि की तुलना में प्रभाव और अधिक हो गया होगा जबकि जनसंख्या की वृद्धि रुकी हुई थी। विद्यमान टेक्नालाजी के सन्दर्भ में जब जनसंख्या की वृद्धि अधिकतम बिन्दु तक पहुंच जाती है तब, ऐसे उदाहरण मिलते हैं, जब समाज जनवृद्धि को रोकने के लिए अनेक उपाय करता है। योरप भर में, मध्य काल में, विवाहित जोड़ों की संख्या गांव में मकानों की संख्या पर निर्भर थी। इसके साथ ही जो लोग किसी रोजगार की तालीम ले रहे थे उन्हें तालीम को पूरा करने से पहले विवाह की अनुमति नहीं होती थी। कभी-कभी सामाजिक प्रथा के अनुसार परिवार का केवल एक

1 आई० बी० टौबर, द पापुलेशन आफ जापान 1958, पृ० 20-21

ही लडका विवाह कर सकता था। कही-कही सख्या को सीमित रखने के लिए, बच्चो की वास्तयदा हत्या जैसे क्रूर उपाय किए जाते थे। इस विचार मे सीमित सत्य है कि सीमित साधनो पर जनसख्या के दबाव से आर्थिक उन्नति को बढावा मिलता है। औद्योगीकरण के लिए निश्चित प्रयत्न करने तो समाज, कदाचित् इस चुनौती का सामना कर सकता है। परन्तु इसके प्रति बहुत पुरानी तरह की प्रतिक्रिया ही सम्भव है और अतीत मे, वास्तव मे ऐसा ही होता रहा है जिसका प्रमाण, इतिहास मे लबे अरसे तक 'निम्न स्तर का सतुलन' है।

स्थिर जनसख्या वाले औद्योगीकरण से पूर्व के समाज मे भी जनसख्या मे अल्पावधि के उतार-चढाव आते थे। ये उतार-चढाव पूर्णतया अनिश्चित नही थे। जनसख्या के उतार-चढाव का सम्बन्ध काफी हद तक कृषि-चक्रो अथवा खेती के अच्छे अथवा बुरे होने से था। इसमे यह बात जरूर है कि मृत्यु-दर मे भारी परिवर्तन देखने मे आते थे। अगर एक फसल और उसके साथ ही दूसरी फसल भी खराब हो जाए तो कुछ अरसे के बाद मृत्यु की सख्या बढ जाती थी। अगर महामारी फैल जाए तो इसका प्रभाव तुरन्त दिखाई पड जाता था। परन्तु जन्म-दरो मे भी परिवर्तन होते थे। अगर लगातार फसल खराब हो जाए तो शादिया रुक जाती थी और कुछ अरसे के बाद जन्म की सख्या कम हो जाती थी। पारम्परिक समाजो म मृत्यु के सम्बन्ध मे अल्पकालिक उतार-चढाव और जन्म के सम्बन्ध मे इससे सीमित उतार-चढाव के विषय मे ये साधारण तथ्य हैं।

हमारे लिए अधिक दिलचस्पी का विषय यह है कि इस परिस्थिति मे 'आधुनिकीकरण' की शक्तियो का क्या प्रभाव रहता है। इसका प्रभाव मृत्यु दर और जन्म-दर दोनो पर पडता है परन्तु यह प्रभाव एक समान नही होता। पहली अवस्था मे मृत्यु-दर पर इसका प्रभाव अधिक स्पष्ट होता है। मृत्यु-दर मे काफी कमी आ जाती है जबकि पहले जन्म-दर पर इसका प्रभाव कम होता है। 'आधुनिकीकरण' की बहुत आगे की अवस्था मे जन्म-दर अपेक्षाकृत तेजी से कम होती जाती है जबकि मृत्यु दर की गिरावट धीमी हो जाती है। इन दोनो प्रकार की गतियो का परिणाम यह होता है कि आर्थिक विकास की पहली अवस्था मे जनसख्या की जो तेजी से वृद्धि होती है वह अगली अवस्था मे धीमी पड जाती है। जनसख्या के बढने-घटने की कदाचित् एक तीसरी अवस्था भी होती है जबकि जन्म-दर मे गिरावट रुक जाती है और वह फिर बढने लगती है, परन्तु हमारी दिलचस्पी पहली अवस्था की समस्याओ मे ज्यादा है, दूसरी अवस्था की समस्याओ मे हमारी दिलचस्पी इससे कम और अन्तिम अवस्था की समस्याओ मे बहुत कम है।

पहली दो अवस्थाओ मे क्या होता है, इसके लिए हम एक उदाहरण देंगे। हम इस प्रयोजन के लिए स्वीडन के कुछ आकडे लेंगे क्योकि अन्य अनेक देशो की अपेक्षा स्वीडन के जन्म-मृत्यु के आकडे बहुत सही हैं। अठारहवी शताब्दी के उत्तरार्द्ध मे स्वीडन मे औसत जन्म-दर वहा के प्रति हजार निवासियो पर 33 6 थी जबकि उसी अवधि मे जन्म-दर 27 4 थी। इस प्रकार प्रति हजार पर जन्म की सख्या मृत्यु की तुलना मे 6

अधिक थी। हम इन आकडो की तुलना उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध और बीसवी शताब्दी के पहले चतुर्थांश से करेंगे। पच्चीस पच्चीस वर्षों के अन्तर पर पाच पाच वर्षों के औसत का एक विवरण नीचे दिया जा रहा है।[1]

वर्ष	प्रति हजार जन्म	प्रति हजार मृत्यु	मृत्यु की तुलना मे जन्म का आधिक्य
1851--55	31 8	21 7	10 1
1876 80	30 3	18 3	12 0
1901--05	26 1	15 5	10 6
1926--30	15 9	12 1	3 8

इस प्रकार उन्नीसवी शताब्दी मे 1875 के आसपास तक जन्म दर काफी स्थिर थी जबकि मृत्यु-दर प्रति हजार 27 से घटकर 18 रह गई। परिणामस्वरूप जनसख्या पहले काफी तेजी से बढ़ी। इसके बाद अगले पचास वर्षों तक जन्म दर म जो गिरावट आई वह मृत्यु दर की गिरावट से अधिक थी। इसके फलस्वरूप जनसख्या की वृद्धि की गति म काफी कमी आ गई।

अब प्रश्न यह है कि मृत्यु दर के कम होने के क्या कारण है क्योकि यह ऊपर बताए जनसख्या के चक्र की पहली अवस्था का प्रमुख तथ्य है।

हम इस विषय पर बहुत विस्तृत परिप्रेक्ष्य म विचार करेंगे। औद्योगिक क्रांति सामान्यतया कृषि क्रांति से पहले या उसके साथ-साथ होती है। इसके कारण खाद्यपूर्ति की मात्रा और इसकी किस्म (अथवा उसके अन्तगत विविध वस्तुओं) म बहुत सुधार हो जाता है। मृत्यु दर के घट जाने का यह एक प्रमुख कारण है। आर्थिक विकास की गति के तीव्र हो जाने के साथ दूसरी बात यह है कि परिवहन म क्रांति ने चीजो को तेजी से लाना ले जाना सम्भव कर दिया है और इस प्रकार स्थानीय अकालो की तीव्रता को कम कर दिया है। एक तीसरी बात और है जो बहुत महत्वपूर्ण है। आधुनिकीकरण के कारण सावजनिक सफाई म सुधार हुए है और डाक्टरी सेवाओ म काफी उन्नति और प्रसार हुआ है। इसके फलस्वरूप शिशु मृत्यु तथा प्रसूति क दौरान मृत्यु बहुत कम हो गई है। महामारी और छूत क रोगो को रोकने और उनक उन्मूलन मे इसकी बडी क्षमता है। इस प्रकार आधुनिक चिकित्सा और सावजनिक सफाई क उपायो ने मृत्यु दर को कम करने म बडी भूमिका निभायी है। प्रसूति की अच्छी सुविधाओ क विकास और अच्छे आहार क कारण गर्भपात अथवा मृत प्रसव क बन्द हो जाने से इस अवस्था म जन्म दर क बढ जाने की सम्भावना है। कई परस्पर प्रभावित करने वाली

1 देखिए ई० एफ० हेक्शर की एन इकनामिक हिस्ट्री आफ स्वीडन हारवर्ड विश्वविद्यालय प्रेस कम्ब्रिज मसेच्युसेट्स 1954

शक्तियो की कार्यशीलता के कारण यह बताना कठिन होगा कि जन्म-दर वास्तव में घटेगी या बढ़ेगी।

सोलहवी शताब्दी की समाप्ति के आसपास इग्लैंड मे हुए खाद्य उत्पादन में महत्वपूर्ण सुधारो और इस अवधि में हुई जनसख्या की पर्याप्त वृद्धि की ओर हम पहले सकेत कर चुके है। कृषि मे सुधारो का दूसरा महत्वपूर्ण काल अठारहवी शताब्दी में आया। इसका सबसे अच्छा उदाहरण नया फसल चक्र है जो उस जमाने मे शुरू किया गया था। उससे पहले खेती का नियम यह था कि भूमि के लगातार उपयोग से भूमि की शक्ति का जो ह्रास हो जाता था उससे बचाने के लिए खेती की कम से कम एक-तिहाई जमीन हर साल खाली छोड दी जाती थी। हरी फसलो और सर्दियो मे जड वाली फसलो के नये चक्र को शुरू करने के कारण कई महत्वपूर्ण परिणाम निकले। इसमे, चूकि जमीन को खाली छोडना जरूरी नही था इसलिए भूमि की बचत तो हुई ही साथ ही इससे चारे मे बडी वृद्धि हुई जिसका नतीजा यह हुआ कि ढोर बहुत अच्छे हो गए। इस प्रकार अब इग्लैंड के लोगो का भोजन अधिक सतुलित हो गया और खाद्य की मात्रा पहले से कही अधिक हो गई। इग्लैंड और वेल्स की जनसख्या जो ग्रेगोरी किग के अनुमान के अनुसार 1695 मे 55 लाख के आसपास थी 1801 मे 90 लाख हो गई। चौदहवी शताब्दी के मध्य में ब्लैक डेथ से पहले इग्लैंड मे अनुमानत लगभग 40 लाख लोग रहते थे। इस बात को ध्यान मे रखते हुए यह कहा जा सकता है कि भूमि के सदर्भ मे, इग्लैंड की जनसख्या अठारहवी शताब्दी मे ही निश्चयात्मक रूप से अपने अधिकतम बिन्दु से काफी आगे बढी थी। इसमे कोई सदेह नही कि यह अठारहवी शताब्दी की कृषि क्राति के कारण ही सम्भव हो सका था।

भारत के विषय मे विशेष विचार की आवश्यकता है जिसके कारण, जैसे-जैसे हम आगे बढेगे, स्पष्ट होते जाएगे। यहा के उन्नीसवी शताब्दी की जनसख्या के आकडो मे गलती की बडी गुजाइश है और जितना पीछे को जाएगे उतनी ही गलती की सम्भावना भी अधिक हो जाती है परन्तु इन आकडो से कुछ स्थूल निष्कर्ष निकलते हैं।

उन्नीसवी शताब्दी के शुरू मे ही भारत अग्रेजी साम्राज्य की अधीनता मे आ गया था। भारत मे अग्रेजी साम्राज्य के लिए मराठे ही प्रमुख विरोधी शक्ति थे और 1818 मे उन्हे अन्तिम रूप से हरा दिया गया था। वर्षो की लगातार हिंसा और दूर तक फैली अव्यवस्था के पश्चात् धीरे-धीरे कानून और व्यवस्था कायम होने लगी। भूमि की पट्टेदारी की नई व्यवस्था अमल मे आने लगी और अठारहवी शताब्दी के दूसरे और पाचवे दशक के बीच सार्वजनिक निर्माण कार्य तथा विशेष रूप से सिंचाई की योजनाए शुरू की जाने लगी। परम्परागत समाजो के जनसख्या चक्रो के विषय मे हमारी जो जानकारी है, उसके आधार पर हमे यह आशा करनी चाहिए थी कि कृषि मे कोई विशेष तकनीकी परिवर्तन हुए बिना भी, भारत की जनसख्या बढने लगेगी। यह बात उपलब्ध आकडो से ठीक बैठ जाती है। अनुमान है कि भारत की

जनसंख्या (जिसमे बर्मा को छोडकर देशी रियासतें शामिल हैं) 1800 मे 12 करोड, 1834 मे 13 करोड और 1871 मे 25 5 करोड थी।[1] किंग्सले डेविस ने लिखा है कि पहले जो अनुमान किए गए थे वे वास्तविकता से काफी कम थे। इस चेतावनी को ध्यान म रखते हुए भी यह मुनासिब जान पडता है कि 1871 से पहले आधी शताब्दी मे जनसंख्या मे काफी वृद्धि हुई। परंतु ऐसा प्रतीत होता है कि 1870 मे, विद्यमान टेक्नालाजी के स दम मे, भारत शीघ्रतापूर्वक आर्थिक दृष्टि से जनसंख्या की अधिकतम क्षमता पर पहुंच रहा था। शताब्दी के समाप्त होते होते व्यापक क्षेत्रो मे अकाल पडे और 1891 तथा 1921 के बीच जनसंख्या मे वृद्धि निश्चित रूप से धीमी थी। इन दो अवधियो के बीच, भारत की वतमान सीमाओ के अन्तगत, जनसंख्या 23 5 करोड से लेकर लगभग 25 करोड के आसपास तक हो गई। दूसरे शब्दो मे, तीन दशको मे यह वृद्धि छ प्रतिशत से कुछ अधिक रही।

उसके बाद भारत की जनसंख्या क्रमिक रूप से बढती चली गई, जिसमे द्वितीय महायुद्ध तथा भारत के विभाजन वाले दशको मे मामूली सा फर्क पडा। निम्न तालिका मे इस प्रवृत्ति का चित्रण होता है। 1971 मे यह संख्या 55 करोड से कुछ ही कम है और

वर्ष	कुल जनसंख्या (करोडों मे)	दशवार्षिक वृद्धि (प्रतिशत)
1921	25 14	
1931	27 90	11 00
1941	31 87	14 20
1951	36 11	13 30
1961	43 92	21 60

1961 की तुलना मे दशवार्षिक वृद्धि 25 प्रतिशत क आसपास है।

1921 मे जो स्थिति पैदा हुई उसके विषय मे एक खास बात ध्यान देने की है। इस अवधि तक भारतीय कृषि मे कोई नया रास्ता नही मिला था। वास्तव मे अनेक विशेषज्ञ इस बात को मानते हैं कि इस शताब्दी के चौथे और पाचवें दशक तक भारतीय कृषि की स्थिति बहुत ही स्थिर थी।[2] बहुत हाल मे, यानी 1960--70 वाले दशक के अन्त

1 किंग्सले डविस द पापुलेशन आफ इण्डिया एण्ड पाकिस्तान प्रिंसटन, 1951

2 जाज ब्लाइन के 1951 के अध्ययन के अनुसार सारे भारत की खाद्य की फसलो के औसत वार्षिक उत्पादन के सूचकांक 1916 17 से 1925-26 वाले दशक मे 98 और 1936 37 से 1945 –46 वाले दशक मे 93 हैं (1893 94—1895-96=100)। कुल कृषि उत्पादन के समानुरूप आकड 106 और 110 हैं। ये आकड जाहिर है ठीक ठीक नही हैं और शायद इनमे वृद्धि की गति को कम व्यक्त किया गया है। इन्हें ब्लाइन की पुस्तक एग्रीकल्चरल ट्रेंडस इन इण्डिया, 1891-1947, पेन्सिलवेनिया विश्वविद्यालय प्रस फिलाडेल्फिया 1966 पृ० 29 से उद्धृत किया गया है।

और 1970 के आरम्भ मे भारत के कुछ भागो मे हरित क्रांति की बात सुनने में आई है। तथापि इस पूरी अवधि मे मृत्यु-दर काफी कम हो गई। 1921 से पहले भारत मे मृत्यु-दर लगातार प्रति हजार 40 रही है। 1960 से यह 20 से कम हो गई।

स्पष्ट है कि मृत्यु-दर के कम होने का कारण भारत मे खाद्य उत्पादन मे सुधार नही है। इसके प्रमुख कारण कुछ और ही हैं। यद्यपि भारत कृषि के गतिरोध को तोड नही सका था तथापि यहा परिवहन के क्षेत्र में एक प्रकार की क्रांति हुई। 1921 तक यहा रेलो की व्यवस्था एशिया के बहुत-से देशो से अच्छी हो गई थी। परिवहन की व्यवस्था अच्छी हो जाने से स्थानीय अभावों के प्रभाव कम हो गए थे। एकमात्र अपवाद 1942–43 है, जबकि देश की सरकार अभाव को दूर नही करना चाहती थी। हाल के वर्षों मे, विशेष रूप से, परिवहन का प्रभाव, देश के अन्दर खाद्य के परिवहन से कही अधिक रहा है क्योंकि खाद्यान्न के स्थानीय अभाव को पूरा करने के लिए ससार के अन्य भागो से अनाज लाया गया है। मृत्यु-दर को कम करने में दूसरी महत्वपूर्ण बात है आधुनिक चिकित्सा सेवाओं का प्रभाव। इनके कारण मृत्यु दर काफी कम हो गई है। इस प्रकार, इस देश की परिस्थिति मे आज के ससार के अल्प-विकास की समस्या का एक नया पहलू सामने आता है। ऐसा सम्भव है कि कोई देश औद्योगिक अथवा आर्थिक दृष्टि से विकास की ओर प्रस्थान करने की स्थिति में चाहे न आया हो और कृषि के उत्पादन में उसने चाहे कोई निरन्तरात्मक प्रगति न की हो फिर भी उसकी जनसख्या में उसी प्रकार की वृद्धि हो सकती है जैसी आर्थिक प्रगति के प्रस्थान के दौर में होती है। यह सम्भव है कि चिकित्सा और परिवहन की आधुनिक सुविधाए एक पिछडी हुई अर्थ-व्यवस्था को भूमि और जनसख्या के पुराने सतुलन से बाहर निकाल दें। इस प्रकार पुराने जमाने में माल्थस द्वारा प्रतिपादित क्रूर अवरोधो के प्रभावी होने के बजाय सम्भावना यह है कि इस स्थिति मे देश खाद्यान्न के लिए औद्योगिक दृष्टि से विकसित देशो पर कही अधिक निर्भर हो जाएगे। जनसख्या के इस असाधारण दवाब के कारण किसी दिन क्रांति की स्थिति उत्पन्न हो जाएगी।

अब प्रश्न आता है कि जनसख्या की द्रुत गति से वृद्धि आर्थिक विकास के लिए बाधक होती है या सहायक ? इस प्रश्न का कोई स्पष्ट उत्तर नही है क्योंकि यह कई बातो पर निर्भर करता है। इस समस्या के कई पहलू है जिन पर अलग-अलग चर्चा की जा सकती है।

हमने यह देखा है कि जनसख्या का द्रुत विकास, मृत्यु-दर के कम हो जाने का परिणाम है। इसका प्रभाव कुल जनसख्या की वृद्धि-दर पर ही नही पडता वरन् जनसख्या की आयु सम्बन्धी सरचना पर भी पडता है। अधिक मृत्यु-दर के साथ-साथ आर्थिक दृष्टि से पिछडे हुए समुदाय में एक खामी यह होती है कि अधिक मृत्यु-दर के कारण इसकी कम आयु की जनसख्या का अपेक्षाकृत अधिक भाग अल्पायु मे ही समाप्त हो जाता है।

प्रोफेसर डी० घोष ने अपनी पुस्तक 'प्रेशर आफ पापुलेशन एण्ड इक्नामिक

एफीशिएसी इन इण्डिया' (आक्सफार्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1946) में कुछ प्रभावी आकडे दिए हैं। उदाहरण के तौर पर कुछ आकडे यहा नीचे दिए जा रहे हैं।

	प्रत्येक 1,000 बच्चो मे से जीवित बचने वालो की सख्या			
आयु	भारत (1931)		इग्लैंड और वेल्स (1930-32)	
	लडके	लडकिया	लडके	लडकिया
1	751	768	928	945
5	602	628	901	902
10	565	593	890	911
15	541	568	883	904
30	439	427	844	868

इस प्रकार, भारत मे पैदा हुए बच्चो मे से केवल आधे से कुछ अधिक 15 वर्ष की आयु के बाद उत्पादक काम करने के लिए जीवित रहे जबकि इग्लैंड और वेल्स में उनकी सख्या 90 प्रतिशत थी। जो बच्चे अपने पालन-पोषण का खर्च कभी अदा न कर सकेगे, उनकी इतनी बड़ी सख्या को पालना समाज पर एक बड़ा बोझ है। कम आयु के समूह मे मृत्यु-दर के कम हो जाने से यह बोझ कम हो जाता है। वास्तव मे कम आयु के समूह में ही मृत्यु-दर में सुधार अधिक लक्षित हुआ।

एक और बात है जो ऊपर के विवरण से निकट सम्बन्ध रखती है। युवा जनसख्या अधिक गतिशील होती है, नये वातावरण के मुताबिक अपने को मोड सकती है और उसे सिखाया जा सकता है। तेज़ी से औद्योगिक विकास की अवधि मे इसमे बहुत लाभ होता है।

बिखरी आबादी वाले देश मे, जनसख्या के तेज़ी से बढने के पक्ष मे एक और ठोस तर्क है। बड़ी आबादी बड़े परिमाण मे, और आर्थिक गतिविधि के विस्तृत क्षेत्र मे हिस्सा ले सकती है। इससे देश के अन्दर बाजारो का क्षेत्र व्यापक होता है, श्रम का विभाजन अधिक मात्रा मे हो सकता है और इस प्रकार की मितव्ययिता की जा सकती है जो कम जनसख्या की स्थिति मे नही की जा सकती। कुछ अफ्रीकी देशो मे शहरो मे तो काफी घनी आबादी है परन्तु दूर के देहातो की आबादी बहुत कम है। इसके कारण, शहरो और गावो के बीच परिवहन के साधनो की व्यवस्था आर्थिक दृष्टि से अलाभकर हो जाती है। सर विलियम पेटी ने हालैंड के सन्दर्भ मे इसी तर्क का उपयोग उल्टे अर्थ मे किया था। उसका कहना था कि हालैंड मे जनसख्या का घनत्व अधिक होने से वहा परिवहन की लागत कम हो जाती है जिससे अन्य प्रतिद्वद्वियो की तुलना मे उसे लाभ हो जाता है।

तेजी से बढती हुई जनसख्या के कारण कुछ परिस्थितियो मे होने वाली असुविधाए भी स्पष्ट हैं। भारत जैसे घनी आबादी वाले कुछ देशो मे बेरोजगारो की सख्या दिन पर दिन बढती चली जाती है। जनसख्या मे तेजी से वृद्धि के साथ काम की आयु के अन्तर्गत लोगो की सख्या मे उतनी तेजी से वृद्धि होगी जितनो के लिए देश उत्पादक रोज-गार के अवसर पैदा नही कर सकता। बडे परिवार का अर्थ यह होता है कि औसत परिवार मे बचत करने की क्षमता कम होती है। परिवार छोटा होने पर प्रत्येक परिवार बच्चो की शिक्षा पर अधिक खर्च कर सकेगा। जहा औसत परिवार इतना बडा हो कि बच्चो की ठीक तरह परवरिश न हो पाए वहा उदासीनता और भाग्य को दोष देने की प्रवृत्ति पैदा हो जाती है। बहुधा, जनसख्या को सीमित रखने या निर्णय मात्र, दरिद्रता को दूर करने और रहन सहन के स्तर को ऊचा करने के सम्बन्ध मे, सुनियोजित ढग से प्रयत्न करने की नई प्रवृत्ति का द्योतक होता है। शहरो मे रहने वाले उन्नत समाजो मे, सामान्यतया जन्म-दर का कम होना, बहुत हद तक परिवार के स्तर पर आर्थिक दृष्टि से युक्तिसगत ढग से विचार करने का परिणाम है। परतु यह नई भावना समाज के अधिक शिक्षित और समृद्ध वर्ग मे पहले और सबसे अधिक आती है, यह उस वर्ग मे नही आती जो सास्कृतिक और आर्थिक रूप से असुविधाग्रस्त है, और जहा वास्तव मे इसकी सबसे अधिक आवश्यकता है। जनसख्या के नियत्रण के राष्ट्रीय कार्यक्रम का लक्ष्य इन असमानताओ को दूर करना होना चाहिए।

बडी सख्या मे और कम मजूरी पर श्रमिक उपलब्ध होने से, उत्पादन की विधियो के आधुनिकीकरण के प्रति उत्साह कम हो जाता है। इस प्रकार तकनीकी गतिरोध से निकलना और भी कठिन हो जाता है। दो महायुद्धो के बीच की अवधि मे केन्स के समर्थक अर्थशास्त्रियो ने एक उल्टे प्रकार के 'गतिरोध' के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था। उनका कहना था कि शीघ्रतापूर्वक जनसख्या मे वृद्धि होने से नये मकानो की माग और कुछ अन्य प्रकार के निवेशो की माग कायम रहती है। उनका विचार था कि औद्योगिक दृष्टि से विकसित देशो मे जनवृद्धि रुक जाने से निवेश के अवसर कम हो गए थे और इस प्रकार इन देशो की वृद्धि की दर कुल मिलाकर कम हो गई थी। युद्ध के बाद इस सिद्धान्त की ओर अधिक ध्यान नही दिया गया। जो भी हो, आज के विकासशील देशो के लिए इसकी कोई प्रासगिकता नही है। औद्योगिक दृष्टि से विकसित देशो मे, कुछ ऐतिहासिक कारणो तथा कतिपय सस्थाओ के विकास के द्वारा बचत करने की प्रवृत्ति बडे पैमाने पर पैदा की गई थी और युद्धो के बीच की अवधि मे, निवेश के अवसर उतने अधिक नही थे जितनी कि बचत करने की प्रवृत्ति थी। अल्प विकसित देशो मे परिस्थिति बिल्कुल भिन्न है। इनमे से बहुत-से देशो मे बचत की प्रवृत्ति कमजोर है। परतु विकास की योजनाओ को आगे बढाने के लिए, अर्थात आधुनिक अर्थ-व्यवस्था का ढाचा तैयार करने तथा सीधे उत्पादक कार्यों के लिए बहुत-से रुपये की जरूरत होती है। पुराने किसानो को समझाना होता है कि कृषि के आधुनिकीकरण और निवेश के नये अवसरो के क्या

फायदे है। इसके साथ, देहातो मे बडी सख्या मे लोगों के पास पूरा रोजगार नही होता जो शहरो मे आकर लगातार बेरोजगारी की शक्ल लेता रहता है। लोग इतने बडे पैमाने पर देहातो से निकल कर विकासशील शहरी केन्द्रो की ओर जाते हैं जितनो को उत्पादक रोजगार में नहो लगाया जा सकता। आज ससार के विकासशील देशो मे से बहुतो की जनसख्या नियत्रण की योजनाओ और दूसरी बातो पर इसी पृष्ठभूमि मे विचार करना होगा।

अधिकाश अर्थशास्त्रियो का विचार है कि चौदहवी और पन्द्रहवी शताब्दी मे, जब योरप आर्थिक पिछडेपन के दुश्चक्र को तोड निकलने को तत्पर था, पर अभी तोड नही पाया था, वहा की जनसख्या अधिक थी। विदेशो मे उपनिवेश बसा कर उसने अपनी फालतू जनसख्या का हल निकाल लिया। आर्थिक दृष्टि से आज के अल्प विकसित देशो की परिस्थिति बिल्कुल भिन्न है। नये उपनिवेश बसा कर अब समस्या का हल नही खोजा जा सकता यद्यपि कुछ काले वर्ण के लोग अधिक विकसित देशो मे बसने की कोशिश करते हैं जहा उनके प्रवेश पर पाबन्दी होती है या बहुत कठिनाई होती है और इसके अलावा वहा की सरकार और जनता की ओर से उनके प्रति प्रकट विद्वेष होता है। इन परिस्थितियों में जनसख्या पर नियन्त्रण रखने की नीति से अन्तर्राष्ट्रीय तनाव कम करने म मदद मिल सकती है। इससे गरीब देशो में जनसख्या का दबाव कम होगा और यह उनके आर्थिक विकास के भी अनुकूल होगा।

6
आर्थिक विकास की प्रावस्थाएं

फ्रीडरिक लिस्ट (1789--1846) ने ग्रार्थिक विकास की पाच प्रावस्थाए बताई है। इनमे पहली दो प्रावस्थाए, अर्थात् प्राकृतावस्था और पशुचारण अवस्था मे हमारी ज्यादा दिलचस्पी नही है। अगली तीन प्रावस्थाए जो नीचे से ऊपर की ग्रोर हैं इस प्रकार हैं : पहली कृषि प्रधान, उसके बाद कृषि और वस्तु निर्माण और अन्तिम कृषि तथा वस्तु-निर्माण और व्यापार। लिस्ट से पहले एडम स्मिथ ने विकास के इस क्रम पर गौर किया था और उसने इस विषय पर अपने वक्तव्य मे एक महत्वपूर्ण शर्त को जोड दिया था। एडम स्मिथ ने लिखा है :

> यद्यपि यह प्राकृतिक क्रम, किसी न किसी मात्रा मे प्रत्येक समाज मे हुआ होगा तथापि योरप के सभी आधुनिक राज्यो मे यह क्रम कई बातो मे बिलकुल उलट गया है। इनके कुछ नगरो के विदेशी व्यापार ने अथवा ऐसी वस्तुओ ने जिन्हे दूर देशो मे बेचा जा सकता था, वहा बढिया किस्म के वस्तु-निर्माण की शुरुआत की, तथा वस्तुओ के निर्माण एव विदेशी व्यापार दोनो ने मिलकर कृषि मे प्रमुख सुधारो को जन्म दिया।[1]

एडम स्मिथ राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था के तीनो प्रमुख क्षेत्रो के बीच अन्त क्रिया पर जोर देना चाहते थे और यह बताना चाहते थे कि भिन्न भिन्न परिस्थितियो म किस प्रकार ग्रार्थिक विकास को आगे बढाने मे, तीनो क्षेत्रो मे से कभी किसीने और कभी किसीने महत्वपूर्ण कार्य किया है। इस शर्त को छोड कर, विभिन्न क्षेत्रो के विकास-क्रम के विषय मे स्मिथ और लिस्ट के विचारो मे बडी समानता है। उसने कहा है कि 'अगर चीजें सामान्य ढग से चलें तो प्रत्येक विकासशील समाज की पूजी का अधिकाश भाग कृषि मे चला जाता है। उसके बाद निर्मित वस्तुओ की बारी आती है और अन्तिम स्थान विदेशी व्यापार का है।'

कुछ आधुनिक अर्थशास्त्रियो ने इस विचार का धीरे-धीरे परिष्कार किया है। इस अध्याय के अधिकाश भाग मे हम यह प्रयत्न करेंगे कि इस क्षेत्र मे प्रारम्भिक स्तर पर हुए कार्य से पाठक का परिचय कराया जाए।

---

1 एडम स्मिथ, 'द वैल्थ आफ नेशन्स', एवरीमैन्स लाइब्रेरी, लदन खण्ड 1, पृ० 340

कोलिन क्लार्क ने अपने महत्वपूर्ण अध्ययन, 'द कडीशस आफ इकनामिक प्रोग्रेस' मे कुछ ऐसे विचार प्रस्तुत किए हैं जिन्होंने, कम से कम इस विषय पर नई दिलचस्पी पैदा की, हालाकि उसके मूल विचारो में बाद मे परिवर्तन करना पडा। हम इन सुधारो पर बाद मे विचार करेंगे। मूल विचार काफी सरल थे। क्लार्क का कहना था कि आर्थिक विकास के साथ साथ श्रम-शक्ति का क्रमशः पुनर्वितरण होता है। पहले श्रम प्राथमिक क्षेत्र से द्वितीय क्षेत्र की ओर जाता है और विकास की अगली स्थिति मे इन दोनो क्षेत्रो से तीसरे क्षेत्र की ओर। यह बात युक्तियुक्त मालूम होती थी क्योकि यह कुछ सामान्य बातो से मेल खाती थी कि आर्थिक प्रगति के साथ रहन-सहन के स्तर मे जो वृद्धि होती है उसमे चीजो की माग बढती है। जब प्रति व्यक्ति आय कम होती है तो कुल आय का बहुत बडा अश आम तौर पर खाने-पीने की चीजो मे खर्च होता है। आय मे वृद्धि के साथ एक ऐसा बिन्दु आता है जब खाद्य की माग कम हो जाती है। इस स्थिति मे निर्मित वस्तुओ पर उपभोक्ता का खर्च तेजी से बढ जाता है अथवा दूसरे शब्दो मे द्वितीय क्षेत्र की वस्तुओ की माग बढ जाती है। इससे भी ऊचे रहन-सहन के स्तर पर, शिक्षा स्वास्थ्य और मनोरजन जैसी विविध प्रकार की सेवाओ की माग तेजी से बढती है जिससे, इस अवस्था मे आशा की जाएगी कि तृतीय क्षेत्र द्वितीय क्षेत्र की अपेक्षा तेजी से बढेगा।

क्लार्क की परिकल्पना मे काफी चुनौती थी और आकडो के आधार पर इसकी जाच की जा सकती थी। क्लार्क तथा अन्य अर्थशास्त्रियो ने इस दिशा मे आगे छानबीन की जिसके परिणामस्वरूप मूल विचार मे कई सुधार किए गए। अन्य अर्थशास्त्रियों मे, अग्रेजीभाषी जगत् मे, सिमोन कूजनेट्स का नाम उल्लेखनीय है और अब इस क्षेत्र मे उनके योगदान का हम उल्लेख करेंगे।

अर्थ-व्यवस्था के तीन क्षेत्र हैं। क--क्षेत्र कृषि, मछली-पालन और जगलात से सम्बन्धित है, ख--क्षेत्र का अर्थ है खान, वस्तुओ का निर्माण और भवनो आदि का निर्माण और ग--क्षेत्र के अन्तर्गत विविध सेवाए आ जाती है। लबी अवधि के अन्दर इन तीनो क्षेत्रो के अन्तर्गत श्रम और राष्ट्रीय उत्पादन के वितरण की प्रवृत्ति का अध्ययन करने के लिए बहुत-से सांख्यिकीय आकडो का विश्लेषण किया जाता है।[1] इसमे एक प्रारम्भिक कठिनाई यह आती है कि इस विषय पर, लबे अरसे के प्रामाणिक आकडे बहुत थोडे देश दे सकते है। इतिहास में पीछे की ओर जाए तो अधिकाश देशो के आकडे कम और अविश्वसनीय हो जाते है। इस कठिनाई को दूर करने के लिए कूजनेट्स ने एक विशेष तरकीब निकाली। हमे यह पता लगाना है कि आर्थिक विकास के साथ, तीनो क्षेत्रो के बीच राष्ट्रीय उत्पादन और श्रम बल का वितरण किस प्रकार बदलता है। इसका आशय यह है कि प्रति व्यक्ति आय मे वृद्धि के साथ, लबी अवधि मे विभिन्न आय स्तरो

1 देखिए 'इण्डस्ट्रियल डिस्ट्रीब्यूशन आफ नेशनल प्रोडक्ट एण्ड लेबर फोर्स' 'इकनामिक डेवलपमेंट एण्ड कल्चरल चेंज', जुलाई 1957 इसका पर्याप्त साराश कूजनेट्स के सिक्स लेक्चर्स आन इकनामिक ग्रोथ' मे देखा जा सकता है, फ्री प्रेस आफ ग्लेनको, न्यूयार्क, 1959

वाले बहुत-से देशों पर विचार करके अभीप्सित परिणामों तक पहुंचा जा सकता है और यह पता लगाया जा सकता है कि यह वितरण अन्य देशों के आय स्तर से किस प्रकार सम्बन्धित है। विश्लेषण के प्रयोजन के लिए देशों को I से VII तक अलग-अलग श्रेणियों में बांट दिया गया है जिसमें अधिकतम आय वाले देशों को I के अन्तर्गत और सबसे कम आय वालों को VII के अन्तर्गत रखा गया है। इस प्रकार के विश्लेषण की तुलना उन कम संख्या के देशों के विश्लेषण में प्राप्त सीधे साक्ष्य के साथ की जाती है जिनके सम्बन्ध में लंबी अवधि के आंकड़े उपलब्ध हैं।

इस अध्ययन के कुछ निष्कर्षों पर अब संक्षेप में विचार किया जा सकता है।

पहले श्रम शक्ति के वितरण पर विचार करें। कुल श्रमिकों में से क-क्षेत्र में काम में लगाए जाने वाले श्रमिकों का अनुपात सभी धनी देशों में एक नहीं है। इनमें काफी अन्तर है। 1950 के आसपास इस सम्बन्ध में स्थिति इस प्रकार थी: युनाइटेड किंगडम में श्रम बल का केवल 5 प्रतिशत कृषि में लगा हुआ था, अमरीका में यह प्रतिशत 12 था, स्वीडन और न्यूज़ीलैंड में ये आंकड़े 20 प्रतिशत के आसपास थे। इन भिन्नताओं के बावजूद एक प्रवृत्ति साफ है जो हमारी आशा के अनुरूप है। क-क्षेत्र में श्रम बल का अंश अवैतनिक पारिवारिक श्रम सहित (रहित) श्रेणी I के देशों में औसतन 15(14) प्रतिशत होता है जो श्रेणी VII के देशों में बढ़कर 80(61)प्रतिशत हो जाता है। ख-क्षेत्र में प्रवृत्ति इससे बिल्कुल उल्टी होती है। ख-क्षेत्र में श्रम बल का अंश अवैतनिक पारिवारिक श्रम सहित (रहित) श्रेणी I में अधिक और श्रेणी VII में कम अर्थात् यह 40 (40) से घटकर 7 (15) प्रतिशत हो जाता है। अधिक आय वाली श्रेणी में, जैसे ब्रिटेन में, जहां सघन उद्योग हैं और जहां खाद्य आयात किया जाता है, यह अंश औसत से अधिक होता है परंतु खाद्य का निर्यात करने वाले देशों में यह इससे कुछ कम होता है। एक लंबे अर्से तक कुछ देशों के आंकड़ों को देखने से पता चलता है कि ख-क्षेत्र के अंश में वृद्धि कुछ मामलों में उतनी नहीं है जितनी कि पहले वाले विस्तृत विश्लेषण के आधार पर आशा हो सकती थी। इस प्रकार 1841 में इंग्लैंड और वेल्स में यह 45 प्रतिशत थी। ग-क्षेत्र की प्रवृत्ति भिन्न है: प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय उत्पादन जितना कम होगा कुल श्रम बल में ग-क्षेत्र का अंश भी उसी प्रकार कम होगा जो अवैतनिक पारिवारिक श्रम सहित अथवा रहित हो सकता है।

अब हम राष्ट्रीय उत्पादन के इन क्षेत्रों में परस्पर वितरण पर आते हैं। इसके कुछ निष्कर्ष वैसे ही हैं जैसे की आशा थी। जैसे-जैसे प्रति व्यक्ति आय का औसत स्तर कम हो जाता है, कृषि में राष्ट्रीय उत्पादन का अंश बढ़ जाता है और ख-क्षेत्र का अंश कम हो जाता है। ग-क्षेत्र के विषय में कुछ आश्चर्य की बात अवश्य है। पहली चार श्रेणियों में कम से कम आशा के अनुसार प्रवृत्ति दिखाई नहीं पड़ती। ग-क्षेत्र का अंश श्रेणी I से IV में मोटे तौर पर वही रहता है परन्तु उससे नीचे की तीन श्रेणियों में कुछ गिरावट आ जाती है। कुछ देशों के आंकड़ों का अध्ययन करने से जो निष्कर्ष हाथ लगते

हैं, वे इस विश्लेषण के अनुरूप हैं। ग–क्षेत्र के अंश के विषय में लंबे अरसे की प्रवृत्ति के आधार पर कोई सामान्य सिद्धान्त नहीं बनाया जा सकता—कुछ देशों के सम्बन्ध में यह अंश कम हो जाता है और कुछ देशों के सम्बन्ध में यह अंश बढ जाता है। कई देशों के मामलों में इस प्रकार की वृद्धि या कमी कुछ विशेष नहीं है। इस प्रकार ग–क्षेत्र विश्लेषक के लिए एक प्रकार की चुनौती बन जाता है। इस प्रश्न पर कुछ गहरे जाकर इस चुनौती का कुछ तो समाधान किया जा सकता है। वास्तव में ग–क्षेत्र के अन्तर्गत अनेक और विविध प्रकार की गतिविधियां आ जाती हैं जिनकी लंबी अवधि में एक सी प्रवृत्ति नहीं हो सकती। सामान्य सिद्धान्त निर्धारित करने के लिए इस समूह का और विभाजन करना होगा।

ग–क्षेत्र में अनेक प्रकार की सेवाएं होती हैं। उदाहरण के लिए इसके अन्तर्गत व्यापार तथा परिवहन और विविध प्रकार की पेशेवर सेवाएं आ जाती हैं। कुज़्नेत्स ने बताया है कि राष्ट्रीय उत्पादन में परिवहन और संचार का अंश तो प्रति व्यक्ति आय के साथ बढ जाता है परन्तु 'कुल उत्पादन में व्यापार का अंश, प्रति व्यक्ति उत्पादन के स्तर के अनुसार बदलता रहता है।' अन्य सेवाओं की स्थिति कुछ अजीब तरह से मिली जुली है। इसमें अध्यापकों, डाक्टरों, वकीलों, पुरोहितों और घरेलू कर्मचारियों की तथा सूद पर रुपया देने वालों की सेवाएं शामिल हैं। प्रति व्यक्ति आय में वृद्धि होने पर इनमें से कुछ सेवाओं की मांग बढ जाती है और कुछ की कम हो जाती है।

इन अध्ययनों से पता चलता है कि अलग-अलग क्षेत्रों में प्रति व्यक्ति उत्पादन कितना-कितना है। यह भिन्नता बडी दिलचस्प है। कुछ देशों में (जैसे आस्ट्रेलिया और न्यूजीलैंड में) क–क्षेत्र में प्रति व्यक्ति उत्पादन अन्य क्षेत्रों की तुलना में ठीक है, परन्तु सामान्यतया यह अन्य दो क्षेत्रों में औसत से कम ही बैठता है। ग–क्षेत्र में प्रति व्यक्ति आय सामान्यतया ख-क्षेत्र से अधिक होती है। इसके अलावा अलग-अलग क्षत्र में प्रति व्यक्ति उत्पादन में भिन्नता, धनी देशों की अपेक्षा गरीब देशों में अधिक है। वास्तव में, अगर अमरीका के अन्दर ही अधिक और अल्प विकसित प्रदेशों की तुलना की जाए तो यह अन्तर देखने को मिल जाएगा। हैन्स डब्ल्यू० सिंगर ने अपने 'बैलेंस्ड ग्रोथ इन इकनामिक डेवलपमेंट : थ्योरी एण्ड प्रैक्टिस'[1] शीर्षक लेख में एक छोटा-सा सूत्र बनाया है जो तथ्यों के एकदम पास आ जाता है। वह सूत्र इस प्रकार है $a=2/3\,n$ यहां पर a कृषि में काम करने वाले प्रति व्यक्ति का उत्पादन है और n समग्र राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था में काम करने वाले प्रति व्यक्ति का उत्पादन। मान लीजिए किसी देश में श्रम बल का 75 प्रतिशत कृषि में कार्य करता है। इस सूत्र के अनुसार यह क्षेत्र राष्ट्रीय उत्पादन का 50 प्रतिशत पैदा करेगा। यह मोटा अनुमान है परन्तु मुनासिब तौर से तथ्यों के अनुरूप है।

इस सूत्र से कुछ और दिलचस्प अनुमान लगाए जा सकते हैं। मान लीजिए, कृषि

1 यह लेख उनकी पुस्तक 'इण्टरनेशनल डेवलपमेंट ग्रोथ एण्ड चेंज', मेक्ग्रा हिल, न्यूयार्क, 1964, में शामिल हो गया है।

मे लगे हुए कुल श्रम बल का प्रतिशत y है। इसका मतलब यह हुआ कि राष्ट्रीय उत्पादन का 2/3 y प्रतिशत उस क्षेत्र से प्राप्त होता है। इससे जाहिर है कि बाकी अर्थ-व्यवस्था म श्रमिक बल का जो (100—y) प्रतिशत भाग काम कर रहा है उसने 'राष्ट्रीय उत्पादन का (100—2/3 y) पैदा किया। इससे कृषि क्षेत्र मे काम करने वाले श्रमिकों का प्रति व्यक्ति उत्पादन तथा बाकी राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था मे इस प्रकार के उत्पादन के बीच अनुपात निर्धारित करना सम्भव हो सकता है। यदि इस अनुपात को x मान लिया जाए तो यह कहा जा सकता है कि x = 100 — y/150 — y। इससे यह स्पष्ट है कि y का मूल्य जितना अधिक होगा, x का मूल्य उतना कम होगा। उदाहरण के लिए अगर y 75 प्रतिशत हो तो x एक-तिहाई के बराबर होगा, और जब y 15 प्रतिशत हो (जो कि कूजनेत्स के अनुसार I श्रेणी का अनुमानित औसत है) तो x 2/3 के आसपास पहुच जाता है। इससे पता चलता है कि आर्थिक प्रगति तथा क-क्षेत्र से अन्य क्षेत्रो को श्रम के स्थानान्तरित हो जाने के साथ साथ किस प्रकार एक ओर तो कृषि मे और दूसरी ओर उद्योगो और सेवाओ म श्रम की उत्पादिता का अन्तराल कम होता चला जाता है। उत्पादिता के अन्तरो का कम हो जाना अधिक विकसित देशो मे एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र म ससाधनो की गतिशीलता का द्योतक है।

हम इस विषय को एक और प्रकार से प्रस्तुत कर सकते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय रूप से देखा जाए तो विकसित और अल्प विकसित देशो मे प्रति व्यक्ति उत्पादन का अन्तर क-क्षेत्र म सबसे अधिक और ग-क्षत्र मे सबसे कम होता है। आर्थिक विकास के साथ श्रम की उत्पादिता सभी तरफ बढ जाती है परतु कृषि के क्षेत्र मे यह वृद्धि सबसे अधिक देखने मे आती है। आर्थिक विकास के साथ क-क्षेत्र मे काम करने वाले श्रम का जो अनुपात कम हो जाता है यह दो कारणो से होता है। एक तो माग के प्रभाव के कारण, जिनकी हम पहले चर्चा कर चुके है, और दूसरे कृषि मे श्रम की उत्पादिता के बढ जाने के कारण है, जिसकी कूजनेत्स द्वारा प्रस्तुत अन्तर्क्षेत्रीय तुलनाओ मे विशेष चर्चा की गई थी। आर्थिक विकास के विषय मे यह समझना गलत होगा कि इसमे कृषि को महत्वहीन स्थान दिया जाता है। आर्थिक विकास का मुख्य लक्षण यह है कि विकास के दौरान कृषि मे श्रम की उत्पादिता मे पर्याप्त वृद्धि होती है।

विभिन्न क्षेत्रो के अन्तर्गत ससाधनो के वितरण के विषय को समाप्त करने से पहले हम भारत की विशेष स्थिति पर सक्षेप मे चर्चा करेंगे। कोलिन क्लार्क और अन्य लोगो न जो सामान्य तस्वीर पेश की है उसमे भारत ठीक नही बैठता। कोलिन क्लार्क ने लिखा है कि 'भारत मे प्रवृत्ति अन्य देशो की अपेक्षा बहुत भिन्न है। 1881 और 1911 के बीच कृषि मे काम करने वाले लोगो के अनुपात मे वास्तव मे काफी वृद्धि हुई थी और तब से यह प्राय स्थिर है।'[1] क्लार्क इसको विरोधाभास समझते हैं और इसका एक स्पष्टीकरण देते हैं

1 कोलिन क्लार्क द कंडीशन्स आफ इकनामिक प्रोग्रेस मैकमिलन लदन तीसरा सस्करण, (पहला सस्करण 1940) पृ० 499

1881 में भी देश के बहुत बड़े भाग में परिवहन और संचार के पुराने तरीके चल रहे थे। परिवहन की लागत इतनी अधिक थी कि अधिकांश जिलों को मजबूरन आर्थिक दृष्टि से आत्मनिर्भर बनना पड़ता था जिसके कारण बड़ी संख्या में विभिन्न प्रकार के दस्तकार काम में लगाने पड़ते थे। ज्यों-ज्यों परिवहन और संचार के आधुनिक साधन देश में फैलने लगे देश में तेज़ी से आर्थिक परिवर्तन हुए। बने बनाए सस्ते सामान के बाज़ार में आ जाने के कारण बड़ी संख्या में दस्तकार अपने रोजगार से बेदखल हो गए।

1881 के बाद आधी शताब्दी तक भारत में रेलों का निर्माण हो रहा था और कुछ लोगों को आशा बंध रही थी कि औद्योगिक क्रांति आने वाली है और यह प्रतीत हो रहा था कि देश के कुछ भागों में आधुनिक उद्योगों की नींव डाली जा रही है। इसी दौरान दसवार्षिक जनगणना के आकड़ों से पता चला कि कृषि के इतर पेशों में काम करने वाले लोगों की संख्या कम हो रही है जिससे एक विचार यह आया कि भारत वास्तव में औद्योगीकरण को छोड़ने के दौर से गुजर रहा है। इस विचार के आलोचकों ने इस विचार का इस आधार पर विरोध किया है कि जिन जनगणना के आकड़ों के आधार पर यह मान्यता है वे आकड़े ही अविश्वसनीय हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि ये आकड़े गलत हैं। इन जनगणनाओं में महिला श्रमिकों के पेशों के बारे में जो आकड़े हैं, वे इतने गलत हैं कि इनका उपयोग नहीं किया जा सकता। इसके अलावा पिछड़ी हुई अर्थ व्यवस्था में जैसा कि उस समय भारत था, पेशों के वर्गीकरण में वास्तविक कठिनाई होती है। उदाहरण के लिए, एक ही व्यक्ति अगर मछुवा हो तो वह प्राथमिक क्षेत्र में आएगा और अगर वह मछली का व्यापार करे तो वह तृतीय क्षेत्र के अन्तर्गत आएगा और ध्यान रखने की बात है कि इन दोनों कार्यों से होने वाली उसकी आय को अलग अलग करना आसान नहीं है। इन दोषों को सामने रखकर डेनियल और एलिस थौर्नर ने जनगणना के आकड़ों का पुन: वर्गीकरण करने का प्रयत्न किया। वे लोग भी इस नतीजे पर पहुंचे कि 1881–1931 के दौरान हमारे आकड़ों से एक युक्तियुक्त अनुमान यह किया जा सकता है कि आधुनिक औद्योगिक प्रतिष्ठानों में जो भी नये रोजगार के अवसर पैदा हुए उनका लाभ, दस्तकारी के क्षेत्र में लगभग उतनी ही गिरावट आ जाने के कारण बराबर हो गया।'[1] इस अवधि में कृषि में गतिरोध एक ऐसी बात थी जिसके कारण बने बनाए उपभोक्ता माल का व्यापार देश के अन्दर इतनी तेज़ी से नहीं बढ़ पाया जो उद्योग में बढ़ते हुए रोज़गार को कायम रख सकता। यहां पर यह भी ध्यान रखना चाहिए कि तृतीय क्षेत्र में काम करने वाले लोगों के अनुपात का बढ़ जाना हमेशा आर्थिक विकास को प्रकट नहीं करता। खास तौर से तेज़ी से शहरीकरण की आरम्भिक अवस्था में वह

1 एलिस तथा डेनियल थौर्नर, 'लैण्ड एण्ड लेबर इन इण्डिया', एशिया पब्लिशिंग हाउस, बम्बई 1962 पृ॰ 77

क्षेत्र ऐसा होता है जहां एक प्रकार से बचे-खुचे लोगों को रोजगार मिल जाता है। श्रम बल में हर साल जो वृद्धि होती है उसका बड़ा हिस्सा तृतीय क्षेत्र के पेशों की ओर आकर्षित होता है। और वहां पर, 'छिपी हुई बेरोजगारी' की स्थिति में पड़ा रहता है क्योंकि कृषि और उद्योग में उत्पादक रोजगार के अवसरों की कमी होती है।[1]

हमने देखा कि राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था को प्राथमिक, माध्यमिक एवं तृतीय क्षेत्र में विभाजित किया जा सकता है और सम्पूर्ण अर्थ-व्यवस्था के विकास के सन्दर्भ में इन क्षेत्रों के अन्तर्गत राष्ट्रीय उत्पादन और श्रम बल का अध्ययन किया जा सकता है। इसी प्रकार इनमें से प्रत्येक क्षेत्र को कई भागों में विभाजित किया जा सकता है और इन भागों तथा इनके पारस्परिक सम्बन्धों के सन्दर्भ में विकास की सामान्य दिशा का अध्ययन किया जा सकता है। उदाहरण के लिए औद्योगिक क्षेत्र को, उपभोक्ता माल उद्योग और पूंजीगत माल उद्योग, इन दो मुख्य भागों में विभाजित किया जा सकता है और इन दोनों के सन्दर्भ में औद्योगिक विकास की स्थूल प्रवृत्तियों का अध्ययन किया जा सकता है। इस प्रसंग में डब्ल्यू० जी० हौफमैन के कार्य की हम संक्षेप में चर्चा करेंगे।[2]

हौफमैन के अध्ययन में उपभोक्ता वस्तु उद्योग के चार वर्ग हैं: (1) खाद्य, पेय तथा तम्बाकू, (2) कपड़ा और पहनने के कपड़े जिसमें जूते भी शामिल हैं, (3) चमड़े का सामान, और (4) फर्नीचर। इसी प्रकार पूंजीगत माल के उद्योग चार प्रमुख श्रेणी की वस्तुएं बनाते हैं (1) लौह और अलौह धातुएं, (2) मशीनें, (3) गाड़िया, और (4) रसायन। ये उद्योग सारे उद्योगों के कुल उत्पादन का दो-तिहाई उत्पादन करते हैं। उद्योगों के इस प्रकार के वर्गीकरण के सम्बन्ध में एक सैद्धान्तिक आपत्ति उठाई जा सकती है। उदाहरण के लिए गाड़ियों को उपभोक्ता माल के अन्तर्गत भी रखा जा सकता है और पूंजीगत माल के अन्तर्गत भी। प्रश्न यह है कि गाड़ियों के उत्पादन को पूंजीगत माल उद्योग की संज्ञा देना क्या उचित है? एक वस्तु का क्या उपयोग हो रहा है उसके अनुसार उसे पूंजीगत माल अथवा उपभोक्ता माल कहा जाना चाहिए। हौफमैन ने औद्योगिक गतिविधियों की जो स्थूल श्रेणियां बताई हैं, उनके लिए हल्के उद्योग और भारी उद्योग पदों का उपयोग उचित होगा। परंतु इस प्रकार की आपत्तियों का कोई विशेष महत्व नहीं है। अगर हौफमैन द्वारा की गई परिभाषा स्पष्ट रूप से ज्ञात हो तो उसने चाहे किसी भी पद का प्रयोग किया हो, कोई ज्यादा फर्क नहीं पड़ेगा।

1 'छठे दशक में जबकि अर्जेन्टीना, चिली, युरुगुए, वेनजुएला और कोलंबिया में शहरी विकास तेज़ी से हो रहा था, इन देशों ने सेवाओं में—मूल सेवाओं को छोड़कर—नये रोज़गार का क्रमश 71, 71, 71 तथा 57 और 49 प्रतिशत खपा लिया।' ('इकनामिक बुलेटिन फार लैटिन अमरीका,' युनाइटेड नेशन्स अक्तूबर, 1965)

2 डब्ल्यू० जी० हौफमैन, 'द ग्रोथ आफ इण्डस्ट्रियल इकनामीज़', मैनचेस्टर विश्वविद्यालय प्रेस, 1958

हौफमैन यह पता लगाना चाहता था कि आर्थिक विकास की एक अवस्था मे किस तरह एक प्रकार के उद्योग महत्वपूर्ण हो जाते हैं और दूसरी अवस्था मे कुछ अन्य प्रकार के। उसका मुख्य विचार था कि औद्योगीकरण की प्रारम्भिक अवस्था मे औद्योगिक उत्पादन का बडा हिस्सा उपभोक्ता वस्तुओ का होता है। पर बाद की अवस्था मे पूँजीगत माल का उत्पादन करने वाले उद्योगो का उत्पादन अधिक हो जाता है। यह बात भी है कि विभिन्न प्रकार की अर्थ-व्यवस्थाओ की विशेषताए भी भिन्न होती है। उदाहरण के लिए विकास की एक अवस्था मे, एक श्रेणी के अन्तर्गत आने वाले उद्योगो मे से कोई एक उद्योग आगे बढ जाए या एक अवस्था से दूसरी अवस्था मे उनके विकास की गति भिन्न हो।

हौफमैन की परिभाषा के अनुसार अगर उपभोक्ता माल के उद्योगो तथा पूँजीगत माल के उद्योगो के निवल उत्पादन के बीच अनुपात 5 : 1 के आसपास हो तो अर्थ-व्यवस्था औद्योगीकरण की पहली अवस्था मे होगी। इसी प्रकार, निवल उत्पादन का अनुपात 2 5 1 के नजदीक हो तो अर्थ-व्यवस्था विकास की दूसरी अवस्था मे होगी। तीसरी अवस्था मे यह अनुपात लगभग 1 : 1 हो जाएगा।

औद्योगीकरण की पहली अवस्था मे, विभिन्न अर्थ-व्यवस्थाओ मे दो तस्वीरे उभरती हैं। कुछ अर्थ-व्यवस्थाओ मे पहली अवस्था मे कपडा और पहनने के कपडो के उद्योग की प्रधानता होती है और कुछ मे खाद्य और पेय उद्योग उभर जाते हैं। उदाहरण के लिए ब्रिटेन फ्रास, जापान और भारत मे औद्योगीकरण की प्रारम्भिक अवस्था मे कपडा उद्योगो ने मुख्य रूप से उन्नति की। ब्रिटेन मे सूती उद्योग आगे बढा, फ्रास मे ऊनी उद्योग और जापान मे रेशम उद्योग। बेल्जियम, अर्जेन्टीना और न्यूजीलैंड की श्रेणी के देशो मे औद्योगीकरण की पहली अवस्था मे खाद्य और पेय उद्योगो की प्रधानता थी। इन उद्योगो का भी और विभाजन हो सकता है, कुछ उद्योगो का कच्चा माल सब्जी है तथा कुछ का कच्चा माल पशुओ का मास। उदाहरण के लिए आटे की पिसाई, बेल्जियम का महत्वपूर्ण उद्योग था जबकि न्यूजीलैंड मे मक्खन और पनीर के उद्योग आगे बढे हुए थे।

औद्योगीकरण की दूसरी अवस्था मे, हौफमैन की परिभाषा के अनुसार, उपभोक्ता सामान के उद्योग ही कुल औद्योगिक उत्पादन का बडा अश तैयार करते है। परन्तु कभी-कभी ऐसा देखा गया है कि विभिन्न उपभोक्ता उद्योगो की आपसी स्थिति बदल जाती है। उदाहरण के लिए जापान मे, दूसरी अवस्था तक पहुचने तक, सूती कपडा उद्योग आगे बढ गए थे और बेल्जियम मे चीनी साफ करने के उद्योग की प्रधानता हो गई थी।

अब हमे औद्योगीकरण की तीसरी अवस्था के अन्तर्गत कुछ अर्थ व्यवस्थाओ का अध्ययन करना चाहिए। ग्रेट ब्रिटेन, स्वीडन जर्मनी और सयुक्त राज्य अमरीका—ये सभी देश बीसवी शताब्दी के शुरू मे ही तीसरी अवस्था मे पहुच गए थे। वास्तव मे, सयुक्त राज्य अमरीका तीसरी अवस्था मे औरो से पहले पहुच गया था। इसका एक विशेष कारण है, जो दिलचस्प है। इगलैंड मे औद्योगिक क्राति की शुरूआत स्वीडन, अमरीका और जर्मनी से बहुत पहले हो गई थी। फिर भी ये सारे देश तीसरी अवस्था पर

लगभग एक ही समय पर पहुंचे। इससे जाहिर है कि बाद के तीनों देशों के पूंजीगत माल से सम्बन्धित उद्योगों की प्रगति ग्रेट ब्रिटेन की अपेक्षा अधिक शीघ्रतापूर्वक हुई। इसके कुछ कारणों की खोज-बीन करना दिलचस्प हो सकता है।

औद्योगीकरण की तीसरी अवस्था में दो पूंजीगत माल के उद्योगों का, लोहा और इस्पात तथा इंजीनियरिंग का प्रमुख स्थान रहा है। लोहे और इस्पात के मामलों में कुछ देशों को प्राकृतिक श्रेष्ठता प्राप्त है। उदाहरण के लिए स्वीडन में, इस्पात उद्योग का आधार बहुत पहले निर्धारित हो चुका था। औद्योगीकरण की गति तेज होते ही अन्य बातें प्रासंगिक हो गई। अमरीका में भूमि की तुलना में श्रमिकों की कमी के कारण कृषि के क्षेत्र में तेजी से मशीनीकरण को बढ़ावा मिला। कृषि में मशीनों के उपयोग से इंजीनियरी उद्योगों के बने हुए सामान के लिए और इसलिए लोहे और इस्पात के लिए भी घर में ही एक बड़ा बाज़ार पैदा हो गया। स्वीडन का देश के अन्दर बाजार अपेक्षाकृत बहुत छोटा था। प्रथम महायुद्ध के बाद स्वीडन में बनी करीब आधी मशीनें निर्यात हो गई। इस क्षेत्र में अपने अनुभव और कुशलता के कारण अन्तर्राष्ट्रीय बाजार में उसकी स्थिति औरों की तुलना में बहुत अच्छी हो गई।

प्रश्न यह है कि औद्योगीकरण की आगे की स्थिति में ही अक्सर पूंजीगत माल के उद्योगों का प्राधान्य क्यों हो जाता है? इसकी एक सरल-सी व्याख्या इस प्रकार की जा सकती है। पूंजीगत माल की मांग एक प्रकार से व्युत्पन्न मांग है। कहने का आशय यह है कि उपभोक्ता वस्तुओं की मांग तो उपभोग के लिए होती है परन्तु पूंजीगत माल उपभोक्ता वस्तुओं के उत्पादन में (अथवा दूसरे पूंजीगत माल के उत्पादन में) सहायक होता है। जब तक अर्थ-व्यवस्था विकास की आरम्भिक अवस्था में होती है तब तक पूंजीगत माल के लिए कुल घरेलू मांग कम होती है। इसके साथ ही ध्यान देने की बात यह है कि पूंजीगत माल को बड़े पैमाने पर बनाने पर ही किफायत हो सकती है। अगर उनकी मांग कम हो तो अल्प विकसित अर्थ-व्यवस्था के लिए उन्हें औद्योगिक दृष्टि से अधिक विकसित देशों से मंगाना ज्यादा लाभकर होगा।

आर्थिक विकास के लिए वांछित मुख्य बातें पूरी हो जाएं तो जो देश देरी से विकास के मार्ग पर अग्रसर होते है वे पुरानी अर्थ-व्यवस्थाओं की तुलना में ज्यादा तेजी से उन्नति करते हैं। इसके कई कारण है, जिनमें से सब पर विचार करना हमारे लिए आवश्यक नहीं है। जो देश विकास कार्यक्रम बाद में आरम्भ करते है वे अधिक विकसित देशों से सीख सकते हैं और टेक्नालाजी उधार ले सकते है। इस प्रकार जापान और रूस ने पश्चिम से सीखा और नकल की। पश्चिमी देशों में से कुछ ने दूसरों से सीखा और अन्ततः जिनसे सीखा उनसे भी आगे बढ़ गए। विकास कार्यक्रमों को देर से आरम्भ करने वाले देशों का उन्नत देशों से अक्सर आगे निकल जाना इस बात की व्याख्या करता है कि किस प्रकार कुछ देश औद्योगीकरण की पहली अवस्था से, हौफमैन के शब्दों में, अन्य देशों की अपेक्षा कम समय में, तीसरी अवस्था में पहुंच गए। इस सामान्य व्याख्या में कुछ

विशेष बातें आसानी से जोड़ी जा सकती हैं। इंग्लैंड की औद्योगिक उन्नति के आरम्भ में, सूती कपड़े की क्रांति की महत्वपूर्ण भूमिका थी। जर्मनी, और विकास को देर से शुरू करने वाले देशों में विकास को आगे बढ़ाने में रेलों के निर्माण का स्थान विशेष महत्वपूर्ण है। रेलों का भारी उद्योगों पर बहुत प्रभाव पड़ता है। बहुत-से देशों ने राष्ट्रीय रक्षा को विशेष रूप से ध्यान में रखकर विशाल कार्यक्रम लागू किए। 'रक्षा' को ध्यान में रखकर जो औद्योगीकरण होता है, उसमें भारी उद्योगों अथवा हौफमैन के शब्दों में पूंजीगत माल के उद्योगों को विशेष स्थान दिया जाता है।

हमने औद्योगिक विकास में 'प्रस्थान' की अवस्था (टेकआफ) पद का प्रयोग पहले किया है। 'टेकआफ' पद का प्रचार रोस्टोव के आर्थिक विकास की अवस्थाओं के सिद्धान्त से हुआ। 1960 के बाद के दस वर्षों में इस सिद्धान्त की काफी चर्चा रही है। इस प्रसग में हम भी इस पर सक्षेप में विचार करेंगे।

रोस्टोव के अनुसार विकास की पांच अवस्थाएं है। इस दृष्टि से विचार करने पर प्रत्येक समाज निम्न पांच श्रेणियों में से किसी न किसी श्रेणी में आएगा। ये हैं: पारम्परिक समाज, आर्थिक प्रस्थान से पहले की स्थिति, प्रस्थान, परिपक्वता के लिए प्रयत्न और *अधिक सामूहिक उपभोग की अवस्था*। हमारी दिलचस्पी विशेष रूप से प्रस्थान वाली अवस्था में है। रोस्टोव का कहना है कि प्रस्थान की स्थिति में निम्नलिखित तीनों बातें होनी चाहिए जो परस्पर सम्बद्ध है:

> (1) उत्पादक निवेश की दर में राष्ट्रीय आय (या निवल राष्ट्रीय उत्पादन) के 5 प्रतिशत से 10 प्रतिशत तक की (अथवा उससे कुछ अधिक, की वृद्धि, (2) बड़ी मात्रा में वस्तुओं का निर्माण करने वाले एक या अधिक उद्योग समूहों का विकास, जिनकी वृद्धि की दर बहुत अधिक हो, (3) ऐसा राजनीतिक, सामाजिक और सस्थागत ढांचा विद्यमान हो या जल्दी से पैदा हो जाए जो आधुनिक क्षेत्र में प्रसार के सकेतों तथा प्रस्थान के समय सम्भावित बाह्य अर्थ-व्यवस्था के प्रभावों का फायदा उठा सके और विकास को आगे बढ़ते चलने की प्रवृत्ति प्रदान करे।[1]

अनेक अल्प विकसित देशों में, अच्छे और बुरे वर्षों में निवल निवेश के औसत का हिसाब लगाने पर पता चला कि यह राष्ट्रीय आय के 5 प्रतिशत के आसपास होता है। सक्रमण काल में निवेश की यह दर काफी बढ़ जाती है परंतु एक समय आता है जब औद्योगिक दृष्टि से विकसित देशों में थोड़े-बहुत व्यापारिक उतार-चढ़ाव को छोड़ कर, यह एक स्थिर ऊंची दर पर पहुंच जाती है। रोस्टोव के 'प्रस्थान' के सिद्धान्त में केवल

1. डब्ल्यू० डब्ल्यू० रोस्टोव, 'द स्टेजेज आफ इकनामिक ग्रोथ', कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय प्रेस, 1960 पृ० 39, 40.

यही नहीं कहा गया है कि आर्थिक प्रगति की प्रक्रिया में निवेश की औसत दर राष्ट्रीय आय के 5 प्रतिशत या उससे कम से बढ़कर 10 प्रतिशत से भी अधिक हो जाती है। उसने, जिस प्रकार यह वृद्धि होती है उस पर भी विशेष जोर दिया है। रोस्टोव का कहना है कि जब अर्थ-व्यवस्था धीरे धीरे आगे के काम की तैयारी करती है, उस शनैः शनैः संक्रमण की आरम्भिक अवधि के बाद, वृद्धि की दर में निश्चयात्मक तेजी आती है। यहा पर आकर विमान के प्रस्थान या 'टेकआफ' से इसकी समानता बैठती है अर्थ-व्यवस्था मे पहले गति आती है और वह कुछ अरसे तक जमीन पर ही चलती है। इसके बाद वह वायु मे उड़ान भरती है और ऊपर को उठती चली जाती है जब तक कि वह एक खास ऊंचाई प्राप्त नही कर लेती और इस स्तर पर आकर वह स्थिर होकर उडती है। रोस्टोव ने बताया है कि प्रस्थान करने अथवा उड़ान भरने की परिभाषा मे उसने 'उस काफी बडी आर्थिक प्रगति को नही रखा है जो वास्तविक रूप से अपने को दृढ और संगठित करने वाली विकास की प्रक्रिया के आरम्भ होने से पहले ही कुछ अर्थ-व्यवस्थाओ मे देखने मे आ सकती है।' वह आगे कहता है कि हम 'उस अवधि को पृथक् रखना चाहते है जबकि उत्पादक आर्थिक गतिविधियो का परिमाण एक ऊंचे स्तर पर पहुच जाता है और ऐसे परिवर्तन पैदा करता है जिनसे, जिन अर्थ-व्यवस्थाओ और समाज का वह अग होता है उसकी संरचना में बडे पैमाने पर कोई गुणिक रूप से आमूल परिवर्तन आ जाता है और इस परिवर्तन का स्वरूप उसके परिमाण से कही अधिक महत्त्वपूर्ण होता है।'[1]

रोस्टोव के प्रस्थान के सिद्धान्त की काफी आलोचना की गई है। निवेश और विकास की गति मे जिस अवधि मे निश्चयात्मक रूप से जो तेजी आती है, उसका पता कुछ देशो के आर्थिक इतिहास को देखने से आसानी से चल जाता है परंतु कुछ अन्य देशो में नही चलता। उदाहरण के लिए कुछ देशो मे, जैसे जर्मनी मे औद्योगिक गतिविधि का प्रस्थान जितना चामत्कारिक हुआ उतना डेनमार्क जैसे कुछ अन्य देशो मे नहीं हुआ जबकि इसमे कोई संदेह नही कि दोनो देशो मे विकास प्रचुर हुआ है। इसके अलावा ऐसा ज्ञात होता है कि कुछ अर्थ व्यवस्थाएं विकास की गति को तीव्र करते समय एक से अधिक प्रावस्थाओ से होकर गुजरी है जिसकी वजह से एक समस्या यह खडी होती है कि वास्तविक रूप से प्रस्थान की स्थिति क्या थी और क्या कोई देश एक से अधिक बार 'प्रस्थान' कर सकता है? उदाहरण के लिए रूस मे, प्रथम महायुद्ध से पहले, शताब्दी के आरम्भ मे तेजी से औद्योगीकरण हुआ। महायुद्ध तथा 1917 की क्रांति के बाद जो गृह युद्ध हुआ उनके कारण इस औद्योगीकरण को बहुत धक्का लगा। इसके बाद औद्योगीकरण की गति मे तेजी 1920 के अन्त मे आई। रोस्टोव के अनुसार, प्रथम महायुद्ध से पहले विकास मे जो तेजी आई वह प्रस्थान की अवस्था कहलाएगी परंतु अन्य लोगो का तर्क है कि क्रांति के बाद जो नियोजित ढंग से औद्योगीकरण हुआ केवल उसी को प्रस्थान की अवस्था कहा जा सकता है।

1 वही।

परतु इस प्रकार की आलोचना इस विषय की जड तक नही पहुचती। हम इसकी कुछ गहराई मे जाने का प्रयत्न करेंगे। रोस्टोव ने यह सिद्धान्त, मार्क्स के सिद्धान्त के विकल्प के रूप में रखा था। इस दृष्टि से यह देखना उचित होगा कि दोनो मे क्या समानताएं और क्या भिन्नताए हैं। मार्क्स के सिद्धान्त के अनुसार पूजीवाद के अभ्युदय के लिए पूर्व स्थितिया सामन्तवाद के अन्तर्गत ही पैदा हो जाती हैं। फिर एक अवधि ऐसी होती है जब विकास-क्रम धीरे-धीरे होता है और जो परिवर्तन होते हैं वे *मात्रात्मक* होते हैं। परतु एक बिन्दु के बाद एक ऐसी मजिल आती है जब परिवर्तन 'गुणात्मक' होते हैं और तब समाज मे और अर्थ-व्यवस्था मे क्रातिकारी परिवर्तन होते हैं। यहा तक मार्क्स और रोस्टोव के सिद्धान्तो मे समानता है। एक प्रारम्भिक अवस्था होती है जब अर्थ-व्यवस्था अपनी पारम्परिक अवस्था से निकलती है और आर्थिक विकास की ओर प्रस्थान करने के पूर्व की स्थितिया धीरे-धीरे परिपक्व होती है। रोस्टोव की सामान्य योजना मे जो पाच अवस्थाए हैं उनमे से यह दूसरी अवस्था है। इसके बाद एक चरम अवस्था आती है जब अर्थ-व्यवस्था तेजी से आगे को बढती है और उस समय 'मात्रा' के बजाय 'स्वरूपगत' परिवर्तन होते है। विकास के सम्बन्ध मे इन दोनो विचारो मे समानता यह है कि दोनो अनिवार्यता और मन्थरता के कायम रहने को अस्वीकार करते हैं। परतु *जिस संस्थागत* संरचना के अन्तर्गत औद्योगिक क्राति होती है उसके, तथा सामन्तवाद पर होने वाले *आक्रमण की रहनुमाई करने वाले रहनुमाओ के नये समूह के 'वर्ग'* के सम्बन्ध मे मार्क्स के कुछ खास विचार थे। रोस्टोव, दूसरी तरफ, प्रस्थान की अवस्था मे उपस्थित अनेक परिस्थितियो से प्रभावित था। उसका कहना है कि आर्थिक विकास की दिशा में प्रस्थान 'अनेक तकनीकी और आर्थिक मार्गों से, अनेक राजनैतिक, सामाजिक और सास्कृतिक परिवेश के माध्यम से हो सकता है।'[1]

इस दृष्टिकोण को अपनाते समय रोस्टोव के पक्ष मे बहुत सा ऐतिहासिक प्रमाण था। मार्क्स, फ्रेंच क्राति के उदाहरण से बहुत प्रभावित था जिसने चामत्कारिक ढग से सामन्तवाद की समाप्ति की घोषणा की थी। परतु अन्य देशो का घटनाक्रम इससे भिन्न रहा। जापान मे 1867 मे मेजी के पुन स्थापन मे बुर्जुआ के हाथो सामन्त वर्ग अथवा भूमि के मालिक अभिजात वर्ग के पराभव का सकेत नही था। शक्ति अभिजात वर्ग के एक विशेष अधिकारयुक्त समूह से कम अधिकारयुक्त समूह के हाथ मे आ गई। इन्हे भी कुछ व्यापारिक हितो का समर्थन प्राप्त था। जर्मनी मे आर्थिक विकास के प्रस्थान से पहले क्राति की हार हो चुकी थी। रूस मे पुराने शासन के उजडने से पहले ही *औद्योगीकरण की गति मे महत्वपूर्ण तेजी आ चुकी थी।* बहुत-से मामलो मे, जिनमे इग्लैंड का उदाहरण भी शामिल है, समाज के निर्णायक परिवर्तन के काल मे, सामाजिक और राजनैतिक नेतृत्व भूमिपतियो, व्यापारियो और औद्योगिक वर्ग के मिले-जुले समूह के हाथ मे था। यह बताना सम्भव प्रतीत नही होता कि द्रुत आर्थिक विकास के लिए

1. वही, पृ० 46

नेतृत्व प्रदान करने वाले लोगों की सामाजिक भूमिका अथवा सैद्धान्तिक विश्वास क्या होंगे। केवल यही कहा जा सकता है कि नीति-निर्धारकों की विज्ञान और टेक्नालाजी में इतनी आस्था होनी चाहिए कि वे राष्ट्र को शक्तिशाली बनाने के लिए इनको व्यवहार में लाने और उन्हें लागू करने के काम में दृढ़तापूर्वक जुटे रहें। पूंजी निर्माण और विकास के लिए वांछित परिस्थितियों को साफ तौर पर अलग-अलग करके यह बताना भी सम्भव प्रतीत नहीं होता कि उत्पादन के साधनों के स्वामित्व के अमुक प्रकार का होने से पूंजी निर्माण हो सकेगा। अलग-अलग देशों में, कृषि और औद्योगिक विकास की संस्थागत संरचना और परिस्थितियों में बड़ी भिन्नता रही है। पूंजी निर्माण के सम्बन्ध में सामान्य भाषा में केवल इतना ही कहा जा सकता है कि 'यह आवश्यक है कि समाज के उपभोग के बाद समुदाय के पास जो कुछ बच जाए वह ऐसे लोगों के हाथ नहीं पड़ना चाहिए जो उसे अपने पास जमा करके कैद कर लें, या उसे विलासिता की वस्तुओं के उपभोग में लाएं अथवा उसे ऐसे क्षेत्र में लगाएं जहां की उत्पादिता कम हो।' दूसरे शब्दों में कहा जाए तो ऐसे विकास के सिद्धान्तों के प्रतिपादन में, जिसमें कि काफी हद तक सचाई हो और जिसमें पिछले सौ वर्ष में जो विविध ऐतिहासिक अनुभव रहे हैं उनका भी समावेश हो तो उसमें आर्थिक परिवर्तन की पूर्वावस्थाओं के निरूपण में बहुत लचीलापन होना चाहिए जिसे अपने समय में मार्क्स ने जरूरी नहीं समझा।

इस सबके बावजूद रोस्टोव का सिद्धान्त कुछ दृष्टियों से सतोषजनक नहीं है। यह ठीक है कि आर्थिक विकास का एक मात्र अथवा दो ही रास्ते नहीं है। वास्तव में इसके लिए कई रास्ते हैं परंतु कई रास्तों की सम्भावना मान लेना मात्र पर्याप्त नहीं है। कुछ ऐतिहासिक परिस्थितियां और प्राकृतिक साधन विकास के एक विशेष स्वरूप के लिए अनुकूल होते हैं। इन बातों का अध्ययन करके यह पता लगाना आवश्यक है कि हाल के इतिहास में विकास की प्रक्रियाओं में जो विविधताएं देखने में आई हैं उनमें कहीं कोई व्यवस्था है या नहीं। गर्सचेन्क्रोन की पुस्तक 'इकनामिक बैकवर्डनेस इन हिस्टारिकल पर्सपेक्टिव' (हार्वर्ड विश्वविद्यालय प्रेस) इस क्षेत्र में एक महत्वपूर्ण शोध कार्य है। इस पुस्तक के परिणामस्वरूप अब हमें इस विषय में अधिक जानकारी है कि किसी देश के औद्योगिक विकास का स्वरूप औद्योगीकरण से एकदम पहले उस देश के अपेक्षाकृत पिछड़ेपन की मात्रा पर निर्भर करता है। विकास के रास्ते पर पहले रवाना होने के कारण इंग्लैंड के औद्योगिक स्वरूप और तकनीकों का अपेक्षाकृत धीरे-धीरे विकास हुआ। इसके कारण विकास के लिए रुपया निकालने का एक तरीका निकाला जा सका जो देर से विकास कार्यक्रम शुरू करने वालों के लिए उपयोगी न था। इंग्लैंड और स्काटलैण्ड के अनुभव की तुलना करने से ही यह बात साफ हो जाती है। एक लेखक का कहना है कि औद्योगिक विकास की प्रारम्भिक अवस्था में 'स्काटलैण्ड के पास पूंजी का अभाव था जिसके कारण इसे इंग्लैंड की अपेक्षा पूंजी पैदा करने तथा उसका वितरण करने के लिए अधिक

कारगर उपाय करने पड़े और साथ ही बचत की प्रवृत्ति को भी बढ़ाने के लिए प्रयत्न करने पड़े।'[1] योरप मे विकास को देर से शुरू करने वाले देशों की विशेष आवश्यकताओं के अनुसार बैंकिंग और विकास के लिए धन जुटाने की अन्य संस्थाओं का विकास हुआ जो इंग्लैंड में नहीं हुआ था। सामान्यतया इन देशों को, विकास की दिशा मे प्रस्थान की अवस्था मे पूजी एकत्र करने तथा वितरित करने के लिए अधिक केन्द्रित प्रणाली का आसरा लेना पड़ा था। इन देशो में सरकारों की भूमिका तथा औद्योगीकरण का स्वरूप भी इसी प्रकार भिन्न थे।

आर्थिक विकास के विविध रूप संसाधनों की स्थिति से भी बहुत प्रभावित होते हैं, जैसे, किसी देश के विकास का स्वरूप वहा की जनसंख्या और भूमि के अनुपात से प्रभावित होगा। जापान जैसे घनी आबादी वाले देश के लिए आवश्यक है कि वहा उद्योगो की भी सघनता हो। इस प्रकार के देशों में कृषि विकास की समस्या को बड़ी संख्या में लोगों को औद्योगिक क्षेत्र मे रोजगार दिए बिना हल नहीं किया जा सकता। 19वी शताब्दी में प्रमुख रूप से कृषि अर्थ-व्यवस्था होने के बावजूद अमरीका की जनता का एक खास रहन-सहन का स्तर था परंतु जापान के सामने एक ही विकल्प था अर्थात् दरिद्रता को दूर करने के लिए औद्योगीकरण उसके लिए परम आवश्यक था। जापान के औद्योगीकरण के स्वरूप और तकनीकों पर भी वहा की जनसंख्या के दबाव का असर पड़ा है। अनेक विकासशील देशो को, विशेषकर दक्षिण और दक्षिण-पूर्व के देशो को, इसी प्रकार की समस्या का सामना करना पड रहा है। इन देशों में से कुछ देशों में जनसंख्या का घनत्व ही अधिक नहीं है वरन जिन कारणो की हम पहले चर्चा कर चुके है, उनके कारण आज के विकसित देशों की उस अवधि की तुलना मे वहा जनसंख्या मे वृद्धि की दर भी अधिक है जो उन देशो के विकास की अवस्था के दौरान थी। उससे एक बात स्पष्ट है कि पश्चिम के उपायो को ग्रहण करने में साथ-साथ उन्हें नई तकनीकों को अपने संसाधनों के अनुरूप बनाना होगा अन्यथा उन्हें बढती हुई बेरोजगारी के विघटनकारी दबाव का सामना करना पड़ेगा। ये देश जिस हद तक इस प्रकार का समायोजन कर सकेंगे उसी हद तक उनके विकास के स्वरूप मे उनकी विशेष ऐतिहासिक एवं अन्य परिस्थितियों की विशिष्ट छाप होगी। आर्थिक विकास की अवस्थाओं का सिद्धान्त आर्थिक विकास के अध्येता को एक दिशा देने का प्रयत्न करता है। इसको अधिक सीमित और सकीर्ण बनाना सिद्धान्त मे गलत तथा व्यवहार मे हानिकारक होगा। एक बार आपके विचारों का विस्तार हो जाए जिससे आप विभिन्न प्रकार की सम्भावनाओं का समावेश कर सकें तब आपको अधिक स्पष्ट निर्देशक सिद्धान्तों की आवश्यकता होगी जिससे आप इन विकल्पों का विभिन्न ऐतिहासिक परिस्थितियों के साथ मेल बिठा सकें। रोस्टोव के सिद्धान्त मे ऐसी गुजाइश है कि उसे और विकसित कर इस प्रकार से निर्देशक सिद्धान्तों का समावेश किया जा सकता है।

1 ई० ज० हाब्सबाम 'इण्डस्ट्री एण्ड एम्पायर', वीडनफील्ड एण्ड निकल्सन, लंदन, 1969 पृ० 258

बात यही खत्म नही हो जाती। रोस्टोव के आर्थिक विकास की अवस्था विषयक सिद्धान्त की और मौलिक आलोचना की जा सकती है। पूजीवादी विकास के मार्क्सवादी सिद्धान्त मे आन्तरिक 'अन्तर्विरोध' का प्रमुख स्थान है। आन्तरिक अन्तर्विरोध के कारण ही अर्थ-व्यवस्था एक अवस्था से दूसरी अवस्था में जाती है। मार्क्सवादी चितन के अनुसार पूजीवादी समाज के अन्तर्गत जो अन्तविरोध होता है वह मुख्य रूप से परस्पर विरोधी दो वर्गों के बीच सघर्ष से प्रकट होता है जिनमे से एक वर्ग उत्पादन के साधनो का स्वामी है और दूसरा वर्ग उत्पादन करता है। 'डास कैपिटल' के प्रकाशन के एक सौ वर्ष बाद पूजीवादी सकट के सम्बन्ध मे मार्क्स के विचारो की आलोचना करना आसान है। मार्क्स ने उन्नीसवी शताब्दी के पूजीवाद के प्रसिद्ध विश्लेषण के अन्तर्गत जिस प्रकार के आर्थिक सकट की चर्चा की थी, आज के विकसित पूजीवादी समाज मे उसकी महत्ता कम हो गई है। 1930 के बाद जो बडी खराब मदी आई उसके बाद पूजीवाद ने व्यापारिक चक्रो से निपटने की नई विधिया निकाल ली जिसके कारण इस प्रकार के सकट के तीव्र होने के विषय मे जो भविष्यवाणिया थी, वे गलत हो गई। इन सौ वर्षों मे मार्क्स के देश मे तथा अन्य पश्चिमी देशो मे मजदूर वर्ग के रहन-सहन का स्तर काफी सुधर गया है। पिछले पच्चीस वर्षों मे जापान और पश्चिमी जर्मनी की अर्थ-व्यवस्थाओं की प्रगति अभूतपूर्व दर से हुई और इसम कोई विशेष व्यतिक्रम भी नही हुआ। इस प्रगति ने सैनिक व्यय का सहारा भी नही लिया जिसे मार्क्सवादी, पूजीवाद की विकसित अवस्था मे अनिवार्य मानते हैं। इस प्रकार, मार्क्स की अन्तर्विरोध सम्बन्धी मान्यताओ मे विशद रूप में सशोधन की आवश्यकता है। परतु मार्क्स ने एक बहुत बडा काम यह किया कि उसने सतुलन की तरफ सहज प्रवृत्ति की जो कल्पना थी और पुराने अर्थशास्त्री जिसके पोषक थे, उसके विषय मे शक पैदा कर दिए। पूजीवाद के अन्तर्गत मार्क्स के अन्तर्विरोध के सिद्धान्त के प्रति असतोष के कई कारण है। परतु आन्तरिक सतुलनहीनता के सिद्धान्त का स्थान कोई दूसरा सतुलनहीनता वाला सिद्धान्त ही ले सकता है पर हम यह नही कर सकते कि हम उसे एक तरफ कर दें। रोस्टोव अपने गैर साम्यवादी घोषणा पत्र के अश के रूप मे कोई ऐसा सन्तुलनहीनता का सिद्धान्त नही प्रस्तुत कर सका है जिसमे काफी गहराई हो।

परिशिष्ट—क

ऋण देने वाली सस्थाएं और आर्थिक विकास

हम पहले इस बात की चर्चा कर चुके है कि विभिन्न परिस्थितियो मे किस प्रकार भिन्न-भिन्न प्रकार की ऋण देने वाली सस्थाए विकसित हुई और उन्होने किस प्रकार काफी हद तक औद्योगीकरण के स्वरूप को प्रभावित किया। इस दृष्टि से इग्लैंड, जिसने

सबसे पहले विकास आरम्भ किया और योरप के कुछ अन्य देशो मे, जो इसमे अपेक्षाकृत बाद मे आए, काफी अन्तर है।

इग्लैंड मे औद्योगिक विकास अपेक्षाकृत लबी अवधि मे हुआ। औद्योगिक तकनीको को धीरे-धीरे विकसित करके उत्कृष्ट रूप दिया गया और छोटे पैमाने के घरेलू उद्योगो से वास्तविक रूप से बडे पैमाने पर कारखानो के उत्पादन मे सक्रमण अचानक या तेजी से नही हुआ। इस प्रकार, बहुत-से व्यक्तियो और परिवारो के लिए यह सम्भव था कि वे छोटे उत्पादको के रूप मे काम शुरू करते और मुनाफे को कारोबार मे लगा कर धीरे धीरे उसे बढा लेते।

जो देश पहले पीछे रह गए थे और जिन्होने बाद मे तेजी से उन्नति करने की कोशिश की वहा परिवर्तन क्रमबद्ध रूप से नही हुए। पुराने से नये मे परिवर्तन बहुत झटके से हुआ। इन परिस्थितियो मे किसी व्यक्ति के लिए औद्योगीकरण की प्रक्रिया मे शामिल होकर, बाहर के साधनो की सहायता के बिना, अपने ही साधनो के बूते पर सफलता प्राप्त करना कठिन हो गया। इसलिए ऐसी नई सस्थाओ का निर्माण आवश्यक हो गया जो बडे पैमाने पर ससाधनो को एकत्र करें और उन्हे महत्वाकाक्षी उद्यमकर्ताओ को औद्योगिक विकास के लिए उपलब्ध कराए।

इग्लैंड के व्यापारिक बैको का मुख्य काम थोडे अरसे के लिए ऋण देना था। परतु योरप के महाद्वीप मे औद्योगिक विकास की ओर प्रवृत्त देशो को, उन्नीसवी शताब्दी मे, औद्योगिक विकास के लिए लबे अरसे के ऋणो की आवश्यकता थी। 1848 की राजनैतिक क्रान्ति के समाप्त हो जाने के बाद फ्रास आर्थिक क्षेत्र मे तेजी से आगे बढने के लिए तैयार हो गया। फ्रास की सरकार ने रेलो के निर्माण के काम को तेजी से बढाने का फैसला किया जिसमे पहले ही कई वर्षों का विलम्ब हो गया था। इस समय सरकार ने दो बडी वित्तीय सस्थाओ को मजूरी दी जिनके नाम 'क्रेडिट फ्रोसिये तथा 'क्रेडिट मोबिलिये' थे। पहली सस्था जमीन बन्धक रखकर ऋण देती थी। हमारी दिलचस्पी दूसरी सस्था मे अधिक है। फ्रास की 'क्रेडिट मोबिलिये' स्वय तो बहुत अरसे नही चली परतु इससे पहले भी और बाद भी इसी प्रकार की सस्थाए विद्यमान थी। इससे पहले 'बेल्जियम सोसायटी जेनेराल' नाम की सस्था थी जो 1822 मे बनी थी। कर्लपहैम ने लिखा है कि 'पश्चिमी योरप के आर्थिक इतिहास मे इस दृष्टि से बेल्जियम का महत्वपूर्ण स्थान है क्योकि इस शक्तिशाली समाज न, 1850 के बाद फ्रेंच क्रेडिट मोबिलिये तथा साम्राज्यवादी जर्मनी के विशेष प्रकार के अर्द्ध औद्योगिक बैंक की तरह की सस्थाओ की कल्पना पहले से की और इनका बेल्जियम मे, काफी पहले विकास किया।'[1]

आइजेक परियर और उसके भाई ने 'फ्रेंच क्रेडिट मोबिलिये' की योजना बनाई और उसका निर्देशन किया। ये लोग कदाचित् सट साइमन के औद्योगीकरण के सिद्धान्त से

1 ज० एच० क्लैपहैम, 'इकनामिक डवलपमट आफ फास एण्ड जर्मनी, 1815–1914', कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय प्रस, 1936, पृ० 127–8

प्रभावित थे। अपने संक्षिप्त और उलझन भरे कार्यकाल में इसने कई महत्वपूर्ण और विशाल परियोजनाओं को धन दिया जिनमें फ्रांस तथा स्पेन की रेलवे, बन्दरगाहों के प्रसार और एटलांटिक पार की जहाजरानी की योजनाएं शामिल हैं। 'क्रेडिट मोबिलियेर' का शुरू से ही 'रोथ्सचाइल्ड्स' के साथ संघर्ष शुरू हो गया जो कि 'पुराने धन' अथवा पुराने ढंग से रुपये के लेन-देन प्रतिनिधि थे। यह संघर्ष, पेरियर बन्धुओं की इस बहुत ही अच्छी योजना के पतन का कारण हुआ। परन्तु समाप्त होने से पहले इसने योरप में बैंकिंग की व्यवस्था को एक निश्चयात्मक मोड़ दे दिया। गर्शेन्क्रोन ने अपनी पुस्तक में लिखा है :

> रोथ्सचाइल्ड्स पेरियर को 'आस्ट्रियन क्रेडिट-अन्सटाल्ट' खोलने न देने में तब सफल हुए जब वे इस बात के लिए तैयार हो गए कि वे स्वयं एक बैंक बनाएंगे और उसे चलाएंगे, और वह बैंक पुराने तरीके का न होकर 'मोबिलियेर' की तरह का होगा यानी वह बैंक देश में रेलों का जाल बिछाने और औद्योगीकरण में पूरी मदद करेगा।[1]

जर्मन बैंकों ने 'क्रेडिट मोबिलियेर' के मूल विचार तथा इंग्लैंड के व्यापारिक बैंकों की थोड़े अरसे के लिए ऋण देने की पद्धति को मिला दिया। इसके कारण वित्तीय संस्था के रूप में उनकी स्थिति 'क्रेडिट मोबिलियेर' से ज्यादा सुरक्षित हो गई और व्यापारिक उद्यमों की सहायता करने के उनके कार्य में भी कोई कमी नहीं आई।

इन बैंकों ने जर्मनी में औद्योगिक संयोजन को तेज करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। अलग-अलग कम्पनियां को आपस में एक-दूसरे का गला काटने की प्रतियोगिता में अथवा एक-दूसरे को व्यापार से निकाल फेंकने में लाभ हो सकता है, परन्तु जिस बैंक ने इस प्रकार की बहुत-सी कम्पनियों को रुपया उधार दे रखा हो वह इस प्रकार की हरकतों को बेकार समझता है। एक-दूसरे से प्रतियोगिता करने वाली कम्पनियों पर, बैंक के प्रभाव के कारण उनके लिए कम्पनियों की नीतियों को अपनी दिशा में प्रभावित करना सम्भव हो सका। इस प्रकार, औद्योगिक बैंक, मार्क्स के शब्दों में, पूंजी के केन्द्रीकरण में सहायक हुए। एक बात और ध्यान देने की है कि जर्मन औद्योगिक बैंकों के प्रभाव के कारण उद्योगों की कुछ शाखाओं की, जिनमें उनकी विशेष दिलचस्पी थी, विकास की गति तेज हो गई। उदाहरण के लिए ये उद्योग थे कोयले की खानें, लोहा और इस्पात, इंजीनियरिंग और भारी उद्योग। जिनमें बैंकों की दिलचस्पी नहीं थी वे उद्योग पिछड़ गए। यहां पर एक और कारण हमारे सामने आया जिससे पता चला कि विलम्ब से विकास-कार्य शुरू करने वाले कुछ देशों में पूंजीगत माल उद्योगों का अपेक्षाकृत तेजी से प्रसार क्यों होता है।

रूस में, जहां औद्योगीकरण का दौर जर्मनी के बाद तेज हुआ, पूंजी को पैदा

1 ए० गर्शेन्क्रोन, 'इकनामिक बैकवर्डनेस इन हिस्टारिकल पर्सपेक्टिव', हार्वर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस 1962, पृ० 13.

करने की समस्या जर्मनी की अपेक्षा कठिन थी। वहां पर सरकार ने अधिक उपयोगी भूमिका निभाई और वहां पर सरकार का कार्य वही था जो जर्मनी के औद्योगिक बैंको ने किया था। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में रेलवे के विकास में तथा औद्योगिक विकास में, जो कि उस शताब्दी के अन्त में खास तौर से तेज हो गया था, और उसके बाद फिर 1907 और 1914 के बीच, औद्योगीकरण के नाटक में सरकार की प्रमुख भूमिका थी। गर्शेन्क्रोन ने कहा है :

> 1890 के बाद रूसी सरकार की नीतियों और उनके प्रभाव में केन्द्रीय योरप में बैंको द्वारा किए गए कार्य में बड़ी समानता थी। रूसी सरकार ने उपभोक्ता उद्योग में कोई दिलचस्पी नहीं दिखाई। उसका सारा ध्यान मूल औद्योगिक सामान तथा मशीनों के उत्पादन में केन्द्रित था।[1]

परिशिष्ट–ख

विकास के माप के विषय में संक्षिप्त टिप्पणी

सामान्यतया निवल राष्ट्रीय उत्पादन अथवा राष्ट्रीय आय में वृद्धि की दर को आर्थिक वृद्धि या विकास का माप मान लिया जाता है। अगर कोई चाहे तो विकास के इस केन्द्रीय माप के साथ अनेक प्रकार की तालिकाएं जोड़ी जा सकती हैं जिनमें शिक्षा में वृद्धि अथवा औसत जीवन की अवधि आदि बताई गई हो। परंतु राष्ट्रीय उत्पादन की वृद्धि की दर को ही, बहुत पहले से, आर्थिक वृद्धि का सूचक माना गया है।

प्रश्न यह है कि राष्ट्रीय उत्पादन अथवा उसकी वृद्धि को कितना सही-सही नापा जा सकता है? हम समय के दो बिन्दुओं की कल्पना करें t_0 और t_1 और यह मान लें कि इन दो बिन्दुओं के बीच समय का काफी फासला है। जिस राष्ट्रीय आय की माप करनी है उसके अन्तर्गत, अगर इन दो तारीखों के बीच माल और सेवाएं वही रहें तथा सभी माल और सेवाओं की वृद्धि की दर भी वही रहे तथा उनकी किस्म में भी कोई परिवर्तन न हो तो वृद्धि के माप की समस्या बहुत आसान हो जाती है। परंतु वास्तविक वृद्धि तो इस प्रकार नहीं होती। अगर विभिन्न वस्तुओं की वृद्धि की दर भिन्न हो, परंतु समय t_0 से t_1 के बीच उनके सापेक्ष मूल्य वही रहें तो भी इस परिवर्तन को मापने में ज्यादा परेशानी नहीं होगी। परंतु यह स्थिति भी सम्भावित नहीं है। ऐसा क्यों नहीं हो सकता? हम इसको समझने की चेष्टा करेंगे।

हम पहले इस बात पर विचार कर चुके हैं कि आर्थिक विकास के साथ संरचनात्मक परिवर्तन भी होते हैं। अगर किसी एक वस्तु अथवा सम्पूर्ण एकक में कई संघटक तत्व

1 ए० गर्शेन्क्रोन, वही, पृ० 20.

हों और ये संघटक तत्व एक खास तरह से एक-दूसरे से सम्बद्ध हो और इन पारस्परिक सम्बन्धों के स्वरूप में किसी प्रकार की स्थिरता हो तो हम इस स्वरूप को एक संरचना की संज्ञा देंगे। इस अर्थ में देखें तो आर्थिक विकास के साथ संरचनात्मक परिवर्तन होना अनिवार्य है। अर्थ-व्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रों का विकास एक ही दर से नहीं होता और इसके क्या कारण हैं, यह हम जानते हैं। इसके अलावा एक ही क्षेत्र के अन्तर्गत भी विभिन्न उद्योगों की वृद्धि एक नहीं होती। इस प्रकार अगर लंबी अवधि के अन्तर्गत हम वृद्धि को मापना चाहें तो यह निश्चय है कि इस अवधि के अन्तर्गत उसके संघटकों में महत्वपूर्ण परिवर्तन हो गया होगा।

जिस प्रकार विभिन्न उद्योग अलग-अलग दरों से बढ़ते है या उनमें से कुछ घट रहे होते हैं, उसी प्रकार सभी उद्योगों को अर्थ-व्यवस्था से लाभ या हानि एक समान नहीं होती। कुछ हो सकता है उत्पादन के क्रमशः घटने के नियम के अन्तर्गत चल रहे हों और कुछ को हो सकता है कुछ बाह्य 'मितव्ययिता' का लाभ हो रहा हो। इसका अर्थ यह हुआ कि विभिन्न वस्तुओं की प्रति इकाई लागत असमान दरों पर और शायद अलग-अलग दिशाओं में बदल रही होगी। जैसे-जैसे वस्तु के उत्पादन की संरचना में परिवर्तन होता जाता है, वैसे वैसे मूल्यों की संरचना में भी परिवर्तन होता जाता है।

इसके अलावा और भी पेचीदगियां है। आर्थिक विकास की प्रक्रिया में वस्तुएं और उनकी कीमतें ही अलग-अलग दरों पर नहीं बढ़ती बल्कि एकदम नयी वस्तुएं सामने आने लगती है अर्थात् जो मूल्य पहले नहीं थे वे सामने आने लगते है। ऐसा होना अनिवार्य है क्योंकि आर्थिक विकास के दौरान उत्पादन की नयी नयी तकनीकें सामने आती रहती है। नयी तकनीकों के साथ नयी कुशलता आती है जिसमें नयी चीजें लगती है, नया माल बनता है अथवा दूसरे शब्दों में नयी सेवाएं और नयी वस्तुएं सामने आती है। इस प्रकार, बात वही है जो हम पहले कह आए है अर्थात् पुरानी वस्तुओं की किस्म और गुण में विशेष परिवर्तन आ जाता है।

इन सारी बातों के कारण लंबे अरसे में विकास की दर का हिसाब लगाने में बड़ी कठिनाई होती है और इससे हमारे अनुमान में एक प्रकार का मनमानापन आ जाता है। हम इस समस्या का निरूपण एक साधारण काल्पनिक उदाहरण से करेंगे।

कल्पना कीजिए कि एक अर्थ व्यवस्था में दो उद्योग है और ये X और Y वस्तुएं बनाते हैं। मान लीजिए की t_0 t_1 समय के बीच इन दो वस्तुओं का उत्पादन निम्न प्रकार से बदल जाता है X, x_0 से x_1 हो जाता है Y, y_0 से y_1 हो जाता है। मान लीजिए कि उसी अवधि में मूल्य भी बदल जाते है अर्थात् p^x_0 से p^x_1 और p^y_0 से p^y_1 हो जाते है। अब हम कुल उत्पादन के इस परिवर्तन को कई तरह से नाप सकते है। t_1 समय मे उत्पादित वस्तुओं अर्थात् x_1 और y_1 को हम t_0 समय में इन वस्तुओं के पृथक् पृथक् मूल्यों से गुणा करके जोड सकते है, इस प्रकार जो समीकरण बनेगी वह यह होगी—$p^x_0 x_1 + p^y_0 y_1$. हम इसी प्रकार t_0 में उत्पादित दोनों वस्तुओं की मात्रा

को गुणा करके जोड सकते हैं, जो इस प्रकार होगा $p^x{}_0 \cdot x_0 + p^y{}_0 y_0$. इन दो योगो के बीच अनुपात का हम अब पता लगा सकते हैं जिससे हमे एक अवधि के अन्तर्गत कुल उत्पादन मे हुई वृद्धि का कुछ हद तक अनुमान हो जाता है। परतु सवाल यह है कि वस्तुओ की मात्रा को t_1 समय म मूल्यो से गुणा क्यो किया जाए ? हम समय t_1 म मूल्यो से गुणा करने का निर्णय भी तो कर सकते हैं। कुल उत्पादन (भौतिक अर्थ मे) को नापने के लिए निश्चित मूल्यो से गुणा करने की आवश्यकता होती है। निश्चित मूल्य t_0 समय अथवा t_1 समय अथवा इन दोनो के किसी प्रकार के औसत समय मे हो सकते हैं। इसका निर्णय कैसे किया जाए ? हम इसके लिए एक उदाहरण ले सकते है। मान लीजिए कि हमने एककों का चुनाव इस प्रकार किया कि इस अवधि के आरम्भ म X एकक का मूल्य और Y एकक का मूल्य समान है। यह भी मान लीजिए कि t_0 t_1 समय के बीच से X का उत्पादन *1 से बढकर 5 हो गया और तकनीकी सुधारो अथवा मितव्ययिता अथवा* बड पैमाने के उत्पादन के कारण X की कीमत घट कर आधी रह गई। Y का उत्पादन मान लिया कम बढा और 1 से 1.5 हो गया और उसका मूल्य दुगुना हो गया। यह सम्भव हो सकता है कि विकास की जिस अवधि पर हम विचार कर रहे हैं, उस दौरान स्फीति का दबाव बढ रहा हो जिससे मूल्य और लागत की सरचना पर दो प्रकार की शक्तिया एक साथ अपना प्रभाव दिखा रही हो, अर्थात् तकनीकी सुधारो तथा बडे पैमाने के उत्पादन से होने वाली मितव्ययिता से तो लागत के घटने की प्रवृत्ति हो जाए परतु स्फीतिकारी दबाव उनको बढाने की कोशिश करे। मान लिया कि पहले प्रकार की शक्तिया X वस्तुओ के मामले म अधिक प्रभावी थी और दूसरे प्रकार की शक्तिया Y वस्तुओ के मामलो म। जिस अवधि पर हम विचार कर रहे हैं, उस अवधि के आरम्भ मे निश्चित मूल्यो के आधार पर, अर्थात् t_0 मे जो मूल्य थे उनके आधार पर हिसाब लगाए तो हम *देखगे कि उत्पादन तिगुने से अधिक हो गया है* ($5 \times 1 + 1\ 5 \times 1 = 6\ 5$, $1 \times 1 + 1 \times 1 = 2$ $6\ 5/2 = 3\ 25$)। परतु अगर अवधि के अन्त के मूल्यो के हिसाब से देख तो कुल उत्पादन दुगुने से थोडा अधिक प्रतीत होगा ($5 \times 1/2 + 1\ 5 \times 2 = 5\ 5$, $1 \times 1/2 + 1 \times 2 = 2\ 5$, $5\ 5/2\ 5 = 2\ 2$)। पहले हिसाब से दूसरे की तुलना मे वृद्धि की दर बहुत ऊची आती है। अब X को प्रतिनिधि पूजीगत उद्योग का द्योतक मान लीजिए और Y को प्रतिनिधि पूजीगत उपभोक्ता माल के उद्योग का, हमारे उदाहरण से सोवियत सघ के औद्योगिक उत्पादन की वृद्धि को नापने के सम्बन्ध म विशेष रूप से इस शताब्दी के द्वितीय चतुर्थाश म जो बहस चल पडी थी उसका बहुत ही सामान्य रूप मे निरूपण हो जाता है।

द्रुत विकास की प्रावस्था के लबे अरसे के दौरान जब हम राष्ट्रीय आय की तुलना करते हैं अथवा ऐसे दो देशो के बीच तुलना करते हैं जो विकास की *बिल्कुल अलग अलग* प्रावस्थाओ मे हो तो ऊपर बताई कठिनाइयो से भी अधिक गम्भीर कठिनाइया सामने आती हैं। ये कठिनाइया खास तौर से राष्ट्रीय आय का हिसाब करने के लिए अपनाई गई सांख्यिकीय रीतियो की सीमाओ के कारण पैदा होती हैं, तथा विशेष रूप से तब पैदा

होती है जब दो ऐसी अर्थ-व्यवस्थाओं की तुलना करने का प्रयत्न किया जाता है जो औद्योगिक विकास के परिणामस्वरूप संरचनात्मक रूप से भिन्न हो जाती है। विकसित अर्थ-व्यवस्था के अन्तर्गत बाजार में बहुत-सी सेवाएं खरीदी-बेची जाती हैं जिनका कि कम विकसित देशों मे घरेलू विकल्प विद्यमान होता है। जब बाजार में उनके दाम लगते हैं तब राष्ट्रीय आय में उनका हिसाब लगने लगता है, अगर वे बाजार के माध्यम से न बिकें तो उनका राष्ट्रीय आय मे हिसाब नही लगेगा। शहर मे उपभोक्ता जो डबल रोटी खरीदता है उसमें रोटी को बनाने, लपेटने और उसके परिवहन का खर्च शामिल होता है। ग्रामीण समाज मे यह रोटी घर पर ही बनती है और उसे कागज मे लपेटना या उसका परिवहन अनावश्यक होता है। प्रश्न यह उठता है कि अन्तिम उपभोक्ता को जब रोटी कागज मे लिपटी हुई पहुचाई जाती है तब अधिक तुष्टि होती है अथवा जब उसे घर पर ही भट्टी से गरम-गरम परोसा जाता है तब ? यदि नही तो इन मूल्य वाली बीच की सेवाओं के अनुरूप राष्ट्रीय आय के संघटक के रूप मे उपयोगिता की समवस्तु क्या है ? जब तक हम एक विकसित अर्थ-व्यवस्था पर अन्दर से विचार करते है तब तक इन सेवाओं के मूल्यों में कोई सन्देह नही होता। परंतु जब हम दो ऐसी अर्थ-व्यवस्थाओं की राष्ट्रीय आय की तुलना करते हैं जो संरचनात्मक दृष्टि से भिन्न हो गई है तो उस समय यह प्रश्न उठता है कि हमने एक अर्थ-व्यवस्था के सम्बन्ध मे जो हिसाब लगाया है उसके अनुरूप दूसरी अर्थ-व्यवस्था मे वास्तविक रूप से क्या-क्या चीजें होंगी। गाव मे लोग अपने कार्य के स्थान के पास ही रहते है जबकि महानगर मे अधिकाश लोगों को मजबूरन अपने काम के स्थान से दूर रहना पड़ता है। महानगर की अर्थ व्यवस्था के कारण काम की जगह और रहने के स्थान मे दूरी होती है जिसे वहा की परिवहन सेवा पूरी करती है। इस प्रक्रिया मे परिवहन सेवा द्वारा अर्जित आय के बराबर राष्ट्रीय आय बढ जाती है। फिर वही प्रश्न हमारे सामने आता है कि इस वृद्धि की वास्तविक समवस्तु क्या है ?

यह समस्या जटिल है। मार्क्सवादी अर्थशास्त्रियो सहित कुछ अर्थशास्त्री वस्तुओं और सामान के उत्पादन को राष्ट्रीय आय के आकलन में शामिल करना चाहते हैं और अनेक प्रकार की सेवाओं को, जिसमे व्यापारियों की सेवाएं भी शामिल है, छोड़ देना चाहते है। आर्थिक विकास की दृष्टि से विचार करने पर इस प्रक्रिया मे कुछ औचित्य नजर आता है। आत्मनिर्भर गृहस्थ अथवा ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था से हर सेवा को अलग-अलग करने वाली तथा प्रधान रूप से शहरी अर्थ व्यवस्था के क्रम विकास पर विचार कीजिए जहा श्रम का विभाजन और विनिमय बहुत ऊंचे पैमाने पर हो गया है। जिस हद तक श्रम के विभाजन से कुशलता और वास्तविक उत्पादन मे वृद्धि होती है, उस हद तक राष्ट्रीय उत्पादन मे वृद्धि की सुस्पष्ट चर्चा की जा सकती है परंतु जहा उत्पादक और उपभोक्ता के रूप म एक व्यक्ति को आपने उसकी जरूरत की वस्तुओं से अलग कर दिया और बाद मे व्यापार और विनिमय की विस्तृत प्रक्रिया से गुजर कर ये वस्तुएं उसे फिर मिल गई तो व्यापार और विनिमय की प्रक्रियाओं मे जो लागत लगेगी उनसे

समुदाय की वास्तविक आय मे कोई वृद्धि नही होगी। परतु यह बात साफ है कि व्यापार और परिवहन ने, जो माल उपलब्ध है, उसकी वास्तविक उपयोगिता मे बहुत वृद्धि कर दी है क्योंकि इस माल को जब और जहा इनकी कम जरूरत है वहा से, जब और जहा इनकी अधिक आवश्यकता हो, ले जाना सम्भव हो गया है। उदाहरण के लिए एक गरीब और पिछडी हुई अर्थ-व्यवस्था मे, देश के एक भाग मे तगी और अकाल की स्थिति हो सकती थी जबकि उसके दूसरे भाग मे खाद्यान्न की इफरात हो। इसके अलावा व्यापार के कारण अब एक ही चीज की कई किस्मे मिल सकती है और उपभोक्ता उनमे से जो मर्जी पसद कर सकता है। इससे जीवन का आनन्द बढ जाता है और उपभोक्ता इसके लिए खर्च करने को तैयार हो जाते है। इस प्रकार अनेक प्रकार की वस्तुओ का वास्तविक मूल्य इस बात पर भी निर्भर हो जाता है कि किसी व्यक्ति के लिए उन वस्तुओं मे से मनपसद खरीदने की कितनी विस्तृत गुजाइश है।

एक बिन्दु के आगे तुलना करने मे कठिनाइया हैं, जिनको पार नही किया जा सकता। पुराने जमाने का परिवार या सुव्यवस्थित समुदाय अपने समुदाय के लोगो को एक प्रकार की तुष्टि प्रदान करते थे जिसका स्थान बडे शहरो मे वाणिज्यिक आधार पर मनोरजन के साधनो ने ले लिया है। इस मनोरजन के मुद्रा मूल्य को राष्ट्रीय आय मे शामिल किया जाता है। इसकी तुलना करने का कोई उपाय नही है। केवल इतना हो सकता है कि इस तथ्य की हमे जानकारी रहे।

7

विकासशील अर्थ-व्यवस्थाओं में अन्तर्विरोध

स्वीडन में सोलहवीं शताब्दी में गुस्टावस वासा का शासन था। उससे अगली शताब्दी में मुख्य रूप से इस प्रभाव के परिणामस्वरूप उस देश में पूंजीवादी रीतियों का समारम्भ हुआ। 'इकनामिक हिस्ट्री आफ स्वीडन' में एली एफ० हैक्सचर ने निम्नलिखित विचार प्रस्तुत किए है

> अगर ऐतिहासिक युगों को आदर्शक नाम दिए जाएं तो गुस्टावस वासा के शासन के बाद के वर्षों को स्वीडन के इतिहास में आनन्द का युग कहा जा सकता है। यह युग बहुत ही रूढिबद्ध और स्थिर था और ऐसा कदाचित् सभी स्वर्णिम युगों में होता है। क्योंकि विशद परिवर्तन महान कष्ट पहुंचाए बिना नहीं होते चाहे अन्ततः उनसे जनता की दशा में कितना ही सुधार क्यों न हो।[1]

सवाल यह है कि आर्थिक इतिहास के विशद परिवर्तनों का महान कष्टों के साथ सम्बन्ध क्यों है? आर्थिक विकास के स्वरूप में क्या कोई ऐसी बात है जिसके कारण ऐसा होना अनिवार्य होता है।

अगर आर्थिक विकास का अर्थ केवल यह होता कि विभिन्न लोगों की सापेक्षिक स्थिति में परिवर्तन किए बिना सारे समाज के रहन सहन के स्तर में आम सुधार हो जाए तो यह आशा की जा सकती थी कि इसके परिणामस्वरूप सब को खुशी होगी। परन्तु ऐसा होता नहीं है। जिस प्रकार आर्थिक विकास के दौरान संरचनात्मक परिवर्तन अनिवार्य है उसी प्रकार समाज के विभिन्न वर्गों की सापेक्ष्य स्थिति में परिवर्तन भी अवश्यम्भावी है। सापेक्ष्य स्थिति में किसी भी परिवर्तन का अर्थ यह है कि कुछ लोगों की स्थिति अब पहले से खराब होगी और समाज में स्थिति का पहले के मुकाबले खराब हो जाना निश्चय ही दुख का कारण होता है इसलिए आर्थिक परिवर्तन से काफी तकलीफ होना लाजिमी है। सामाजिक परिवर्तन के दौर में कष्ट के और भी कारण हो सकते हैं जैसे असुरक्षा की भावना और पुराने मूल्यों में आस्था का अभाव। इन आन्तरिक

1 एली एफ० हैक्सचर एन इकनामिक हिस्ट्री आफ स्वीडन', हार्वर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, कैम्ब्रिज मसेच्युसेट्स, 1954, पृ० 78

तनावों का प्रभाव दूर तक होता है। यहां पर हम मुख्य रूप से समस्याओं के आर्थिक पहलुओं से सम्बन्धित हैं।

उन्नति और 'आधुनिकीकरण' का प्रभाव समाज के सभी अंशों में बराबर बराबर *नहीं पड़ता। कोई एक कबीला, जाति, भाषायी समूह अथवा धार्मिक समुदाय आगे* निकल सकता है और उसके बाद उसके और समाज के अन्य वर्गों के बीच फासला धीरे-धीरे बड़ा होता जाता है। जबकि अधिक पिछड़ी हुई जातियां अथवा कबीले और भाषायी अथवा धार्मिक समूह अपनी गिरी हुई स्थिति को सुधारने के लिए विशेष प्रयत्न करने को तैयार होते हैं तो देखने में आता है कि समाज और अर्थ-व्यवस्था के प्रमुख स्थानों पर आगे बढ़ जाने वाले समूह के लोग पहले से ही जमे हुए हैं। इसी प्रकार अलग-अलग प्रदेशों के बीच असमानताएं पैदा हो जाती हैं जिनमें से कुछ तो स्थिरतापूर्वक आगे बढ़ जाते हैं और कुछ प्रदेश पीछे रह जाते हैं। एक दूसरी श्रेणी की असमानताएं भी हैं जो एक आगे बढ़ते हुए क्षेत्र के अन्दर ही पैदा होती हैं। इस प्रकार विकास के सम्बन्ध में दो बड़े प्रकार के आर्थिक असामन्जस्य होते हैं। एक तो अन्तःक्षेत्रीय तनाव हैं जिन्हें हम 'आधुनिक' क्षेत्र और 'पारम्परिक' क्षेत्र के बीच के सम्बन्धों में देख सकते हैं। दूसरे एक ही क्षेत्र के अन्दर के तनाव हैं जिनका उदाहरण 'आधुनिक' क्षेत्र के अन्दर विभिन्न हितों अथवा अलग-अलग हितों वाले समूह के बीच होने वाले संघर्ष हैं। यद्यपि विविध प्रकार के ये संघर्ष व्यवहार में एक दूसरे से लिपटे हुए हैं तथापि विश्लेषण की दृष्टि से इन्हें अलग-अलग रखना सुविधाजनक होगा।

विकसित और अल्प विकसित प्रदेशों के बीच असमानताएं किस प्रकार अधिक *होती जाती हैं इसके सम्बन्ध में गुन्नार मरडल ने बहुत गम्भीर अध्ययन प्रस्तुत किया* है। हम इस विषय में उनके विचारों की विवेचना कर चुके हैं। पुराने आर्थिक सिद्धान्त इस बात के विवेचन में लगे रहे कि बाजार की शक्तियां किस प्रकार कार्य करती हैं और एक संतुलन स्थापित कर लेती हैं। उदाहरण के लिए किसी उद्योग विशेष में अधिक उत्पादन हो तो उसके द्वारा निर्मित वस्तुओं के मूल्य में जो गिरावट आएगी वह उसमें समायोजन की आवश्यकता का संकेत होगा। इस स्थिति में उस उद्योग के संसाधन दूसरे उद्योगों की तरफ जाने लग जाएंगे। इस प्रकार, संतुलन स्थापित करने की व्यवस्था की अपनी सीमाएं हैं। यह ज्ञात है कि बाजार, अपने से, ऋण की सामान्य स्फीति को ठीक न कर सकेगा। वर्तमान हाल में मरडल ने इस विचार का प्रतिपादन किया है कि विकास और अल्प विकास की असमानताओं को दूर करने के लिए केवल बाजार की शक्तियों पर निर्भर करना उचित नहीं है क्योंकि इनको ठीक करने के लिए सोच-समझ *कर यत्न नहीं किए गए तो ये असमानताएं उत्तरोत्तर बढ़ती जाएंगी।*

इस विचार को सामने रखते हुए भी यह ध्यान में रखने की जरूरत है कि बाजार की शक्तियां कतिपय प्रसारात्मक प्रभावों की सहायता करती हैं। जब किसी क्षेत्र विशेष में विकास की कोई गतिशील प्रक्रिया शुरू की जाती है तब वहां एक केन्द्र

बन जाता है जिसके चारों ओर विकास का काम आगे बढता है। विकास के केन्द्र में, आर्थिक गतिविधियों की वृद्धि से, कम विकसित क्षेत्रों से कच्चे माल की माग बढ जाती है। विकासमान प्रदेश में, श्रम और अन्य ससाधनों पर दबाव के कारण जमीन के किराये और मजदूरी बढने लगती है। कुछ समय के बाद समीप के प्रदेशों में, कम से कम एक विशेष प्रकार की तैयार वस्तुओं का, अशत: स्थानीय उपभोग के लिए तथा अशत: केन्द्र के बाजार के लिए, उत्पादन करना सस्ता और लाभकर होगा। सामान्य भाषा में कहा जाए तो यह विकास के तन्त्र का फैलाव है। परतु हो सकता है कि यह तत्र पर्याप्त रूप से प्रभावी न हो और अकेले बाजार की शक्तिया इसको प्रभावी नही बना सकती। विकास की प्रक्रिया का अगर समुचित विस्तार न हो तो विकसित एव पीछे रह जाने वाले क्षेत्रों के बीच दूरी बढती चली जाती है। विकसित प्रदेश उत्पादक गतिविधियों के लिए एक बाह्य सरचना का निर्माण कर लेता है जो अल्प विकसित प्रदेशों में नही हो पाता। एक प्रदेश विशेष में उद्योगों के सकेन्द्रण से कुछ बाह्य मितव्ययिताए उत्पन्न हो जाती है अर्थात् एक फर्म (या उद्योग) को अन्य फर्म (या उद्योग) के निकट रहने से कुछ किफायत हो जाती है जिसके परिणामस्वरूप अन्य स्थानों की अपेक्षा वहा पर पूजी का निवेश लाभकर होने लगता है। अगर यह मान लिया जाए कि एक निश्चित समय के अन्तर्गत लाभार्जन की दर किसी उद्यमकर्ता को किसी स्थान विशेष पर अपनी पूजी लगाने के लिए प्रेरित करती है तो जाहिर है कि विकसित प्रदेश तो विकास की दिशा में आगे बढता रहेगा और जो प्रदेश पिछडा रहा है वह बहुत समय तक पिछडता चला जाएगा। राजनीतिक कारण भी इस प्रवृत्ति में सहायक हो सकते है। सरकार के केन्द्र पर जो लोग कार्य करते है उनका अधिक विकसित क्षेत्र में निहित स्वार्थ हो सकता है जिसके कारण सरकार की नीतियों का निर्धारण इस प्रकार हो सकता है जिससे पिछडे क्षेत्रों को नुकसान हो।

ससार के बहुत-से भागों में वास्तव में ऐसा ही हुआ है। एक लबे अरसे के अन्दर अमरीका के उत्तरी राज्य आगे बढ गए और दक्षिणी राज्य पिछड गए। यही बात इटली में भी हुई। ब्राजील का दक्षिणी प्रदेश उत्तर की अपेक्षा अधिक विकसित और समृद्ध है। पाकिस्तान का उदाहरण हमारे सामने है जिससे पता चलता है कि किस प्रकार असमानताए बढती हैं और उनके परिणाम किस हद तक पेचीदा हो जाते हैं। पूर्वी और पश्चिमी पाकिस्तान के बीच जो दूरी थी, उसका राजनैतिक विस्फोट बडे नाटकीय ढग से 1971 में हुआ और बाद में इसके परिणामस्वरूप स्वतत्र बागला देश की स्थापना हुई और यह बात 1950 के बाद के वर्षों में ही बिल्कुल साफ थी। सुयोग्य पाकिस्तानी *अर्थशास्त्री महबूब उल हक ने अपनी पुस्तक 'द स्ट्रैटजी आफ इकनामिक प्लानिंग' में,* जो पाकिस्तान के सकट से कोई दस वर्ष पहले लिखी गई थी, इसका बहुत अच्छा विवेचन किया है। उनकी पुस्तक से लिए गए कुछ तथ्य समस्या के स्वरूप की व्याख्या में सहायक होगे। 1947 में जब पाकिस्तान बना तब पूर्वी पाकिस्तान की प्रति व्यक्ति आय

पश्चिमी पाकिस्तान की तुलना में कम थी। पश्चिमी पाकिस्तान को यह भी फायदा हुआ कि उसके यहां जो शरणार्थी आए उनमें मेहनती उद्यमकर्ता थे। इसके साथ ही पश्चिम के प्रदेशों में प्राकृतिक गैस के विशाल भण्डारों का पता लग जाने जैसी घटनाओं ने इसमें सहायता की। इस प्रकार पश्चिमी पाकिस्तान की शुरुआत अच्छी रही और सरकार की नीति के कारण पूर्व की तुलना में पश्चिम ने अधिक प्रगति की। द्रुत औद्योगीकरण की नीति को लागू करने के लिए बड़े पैमाने पर विकास सम्बन्धी आयात की आवश्यकता थी और पश्चिमी पाकिस्तान ने पूर्वी पाकिस्तान की अपेक्षा अपने यहां इस प्रकार का आयात अधिक किया। महबूब उल हक ने लिखा है कि "पश्चिमी पाकिस्तान ने जो अधिक आयात किया वह अपने अधिक निर्यात के आधार पर नहीं बल्कि विदेशी सहायता और ऋणों में से पूर्वी पाकिस्तान द्वारा अर्जित विदेशी मुद्रा के बड़े अंश को अपनी तरफ खींच कर किया।"[1] यह एक उदाहरण है जिसमें राजनैतिक शक्ति के प्रयोग द्वारा वर्तमान असमानताओं को बढ़ाया गया। 1951–52 और 1959–60 के बीच, अनुमान है कि प्रादेशिक आय पूर्वी पाकिस्तान में 20 प्रतिशत बढ़ी जब कि पश्चिमी पाकिस्तान में यह वृद्धि 36 प्रतिशत थी। पश्चिमी पाकिस्तान की प्रति व्यक्ति आय जो 1951–52 में पूर्वी पाकिस्तान की अपेक्षा 18 प्रतिशत अधिक थी 1959–60 में 29 प्रतिशत अधिक थी।[2] इस प्रकार पाकिस्तान बढ़ती हुई प्रादेशिक असमानता का बहुत अच्छा उदाहरण है। इस उदाहरण से एक और बात साफ होती है कि अगर राजनैतिक शक्ति के केन्द्र में पिछड़े हुए प्रदेश का समुचित प्रतिनिधित्व न हो तो किस प्रकार असमानता बढ़ती चली जाती है।

जिस दौरान उद्योग आगे बढ़ते हैं उस दौरान अगर कृषि की उन्नति न हो तो दो क्षेत्रों के बीच अन्तर्विरोध का रूप वैसा ही हो सकता है जैसा कि एक अल्प विकसित और विकसित प्रदेश के बीच होता है। जैसे-जैसे उद्योग उन्नति करते है वैसे-वैसे उन्हें कृषि के अतिरिक्त उत्पादन पर निर्भर करना पड़ता है। अगर कृषि का उत्पादन तेजी से न बढ़े तो उद्योग के विकास पर उसका बुरा असर पड़ता है। इस स्थिति में या तो उद्योग अपनी वृद्धि की दर को धीमा कर लें या ऐसी विशेष रीतियां निकाली जाएं जिससे कृषि के द्वारा अधिक उत्पादन प्राप्त किया जा सके। इन दोनों में से कौन-सा रास्ता चुना जाएगा यह इस बात पर निर्भर है कि राजनैतिक स्तर पर 'कृषि' अथवा 'उद्योग' में

1. महबूब उल हक, 'द स्ट्रटजी आफ इकनामिक प्लानिंग', आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, कराची, 1963, पृ० 100–1.

2 बाद के एक अनुमान के अनुसार, जो शायद सही है, असमानता और अधिक थी। सर्वाधिक विश्वसनीय जो आंकड़े उपलब्ध हैं उनके अनुसार 1964–65 में पश्चिमी पाकिस्तान में प्रति व्यक्ति आय पूर्वी पाकिस्तान की तुलना में 30 प्रतिशत अधिक थी जब कि 1949–50 में यह केवल 10 प्रतिशत ही ज्यादा थी। (स्टेफेन आर० लेविस जूनियर, 'इकनामिक पालिसी एण्ड इण्डस्ट्रियल ग्रोथ इन पाकिस्तान', जार्ज एलेन एण्ड मनविन, लंदन, 1969, पृ० 4).

किसका ज्यादा अच्छा प्रतिनिधित्व है। इससे मे इस अन्तर्विरोध को दूर करने का एक ही रास्ता यह है कि औद्योगिक विकास की आवश्यकताओं के अनुसार कृषि उत्पादन में वृद्धि की जाए। इसका सबसे अच्छा उदाहरण सोवियत रूस है जिसकी हम बाद के अध्याय में पूरी तरह चर्चा करेंगे।

पूंजीवाद के अन्तर्गत जिस अन्तर्विरोध का विवेचन मार्क्स ने किया है वह प्रधानतः आधुनिक क्षेत्र के अन्दर का संघर्ष है। मार्क्स द्वारा प्रस्तुत विवेचन के विस्तार में हम नहीं जाएंगे क्योंकि ऐसा करने में हम अपने विषय से दूर हट सकते हैं। मार्क्स के अनुसार पूंजीवादी समाज के दो परस्पर विरोधी वर्ग हैं—एक पूंजीवादी वर्ग, जो उत्पादन के सारे साधनों का स्वामी है और दूसरा सर्वहारा वर्ग है जो अपने श्रम को बेचता है। श्रमिक को अपने जीवन-यापन भर के लिए मजदूरी मिलती है जब कि उसके द्वारा अपने निर्वाह के अतिरिक्त उत्पादित 'बेशी मूल्य' पूंजीपति अपने पास रख लेता है। यह पूंजी संचय का मार्ग है। पूंजी के निवेश और पुनर्निवेश के दौरान पूंजीपति उत्पादन की रीतियों में क्रांति कर लेता है। इसका परिणाम यह होता है कि मजदूरी की तुलना में, मशीनों और कच्चे माल में लगी हुई पूंजी में अपेक्षाकृत वृद्धि हो जाती है। इस प्रकार उत्पादन विधियों में पूंजी की प्रधानता बढ़ जाती है। उत्पादन के पैमाने और फर्म के आकार में भी उत्तरोत्तर वृद्धि होती चली जाती है जिसके कारण छोटे पूंजीपति के लिए अपना अस्तित्व कायम रखना कठिन हो जाता है। मार्क्स ने पूंजी के संकेन्द्रण अथवा एक स्थान पर केन्द्रित हो जाने के नियम का प्रतिपादन किया था। ज्यों-ज्यों पूंजीवाद बढ़ता है त्यों-त्यों छोटे पूंजीपति सर्वहारा वर्ग में शामिल होते चले जाते हैं जब कि कुछ गिने-चुने लोग बड़े पूंजीपति बन जाते हैं। इस प्रकार समाज के दो ध्रुव बन जाते हैं जिसमें एक ध्रुव पर पूंजीपति वर्ग केन्द्रित हो जाता है और दूसरे ध्रुव पर बड़ी संख्या में सर्वहारा वर्ग होता है जिसके हिस्से में राष्ट्रीय उत्पादन का अंश घटता चला जाता है। इस प्रकार एक अन्तर्विरोध यह सामने आता है कि समाज की बढ़ी हुई उत्पादन क्षमता के बावजूद गरीब समुदाय बढ़ जाता है जैसा, मार्क्स के अनुसार, पूंजीवाद में होना अनिवार्य है।[1] पूंजीवाद जितना बढ़ता है यह अन्तर्विरोध उतना ही तीव्रतर होता जाता है और यह व्यापार और कारोबार में होने वाले संकट के रूप में अधिकाधिक अभिव्यक्त होता जाता है। इस अन्तर्विरोध की समाप्ति अन्ततः क्रांति के द्वारा ही होती है। दूसरे शब्दों में कहा जाए तो यह अन्तर्विरोध तब समाप्त होता है जब उत्पादन के निजी स्वामित्व के स्थान पर समाज का स्वामित्व स्थापित हो जाता है।

इस बात के प्रमाण उपलब्ध हैं कि पूंजीवाद के अन्तर्गत औद्योगिक विकास के

---

1 मार्क्स का यह भी विचार था कि मजदूरी की तुलना में मशीनरी तथा कच्चे माल की कीमत में वृद्धि के कारण 'लाभ की दर के घटने की प्रवृत्ति' हो जाती है। मार्क्स की दृष्टि से इस विषय पर आलोचनात्मक विवेचन के लिए देखिए पाल एम० स्वीजी 'द थ्योरी आफ कैपिटलिस्ट डेवलपमेंट', डेनिस डाबसन, लंदन, 1946, पृ० 96-108

प्रारम्भिक चरण मे आय की असमानता बढ गई थी। इसके कई कारण हैं। जब लाभ कमाने के अवसर अचानक बढ जाते हैं तब कुछ लोग उनका फायदा उठाकर जल्दी से धनी हो जाते है। इस प्रकार नये धनवानो और शेष समाज के बीच असमानता बढ जाती है। कृषि मे द्रुत गति से उन्नति के दौरान ग्रामीण समाज मे भी ऐसा ही होता है। हाल मे जो अल्प विकसित देश 'हरित क्रांति' के दौर से होकर गुजर रहे हैं उनके यहा ऐसा ही हुआ है। सभी उत्पादक बाजार का एक जैसा फायदा नही उठा पाते। कुछ उत्पादक बाजार के पास होते है और कुछ उससे दूर पड जाते है और इस प्रकार बाजार का पूरा फायदा नही उठा पाते। जो भी हो, उद्यमशीलता के अन्तर और केवल अवसर के कारण भी जिन लोगो के पास लगाने के लिए कुछ पूजी होती है उनके अन्दर ही असमानता आ जाती है।

औद्योगीकरण के प्रारम्भिक चरण मे श्रम के खरीदार और श्रम के बेचने वालो मे भी, श्रम बेचने वालो को घाटे मे रहना पडा। इनमे से दो की विशेष चर्चा वाछनीय है। एडम स्मिथ ने 'मालिक' और 'कामगार' की असमान सौदेबाजी की शक्ति की चर्चा की है। उसने लिखा है कि *'मालिक लोग हमेशा इस बात पर एक प्रकार से मिले होते हैं* कि वे अपनी वास्तविक दर से श्रमिक की मजदूरी कभी नही बढाएगे।' मालिको की सख्या कम होने के कारण उनका आपस मे मिल पाना ज्यादा आसान है और जैसा कि एडम स्मिथ कहता है, कानून उनकी हिमायत करता था। उसने लिखा है, 'सब मिल कर श्रमिक की मजदूरी को कम रखे तो उनके विरुद्ध हमारे पास पार्लियामेंट का कोई कानून नही है जब कि उसको बढवाने के लिए लोग मिल जाए तो उसके विरुद्ध कानून मौजूद है।' पार्लियामेंट के कानून से अधिक शायद एक और बात का प्रभाव मजदूरी के कम रखने मे रहा है। जिस देश मे देहातो मे ऐसे लोगो की बहुतायत होगी जिनके पास पूरा काम नही है और जिनका रहन-सहन का स्तर बहुत नीचे है वहा पर रोजगार के लिए प्रतियोगिता के कारण उद्योगो मे मजदूरी तब तक कम रहेगी जब तक इतना औद्योगिक प्रसार न हो जाए जो खेती मे लगी हुई आबादी के बोझ को काफी कम न कर दे।

औद्योगीकरण की प्रारम्भिक अवस्था मे आय के वितरण मे असमानता बढ जाती है परतु उसके आगे की अथवा औद्योगीकरण की अधिक उन्नत अवस्था मे इस असमानता के कम हो जाने की आशा की जा सकती है। कार्य नियोजको के प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से मिल जाने से श्रमिको मे भी प्रतिक्रिया होती है और वे भी मिल जाते हैं। अगर उद्योग के विकास के साथ श्रमिको की माग जनसंख्या मे वृद्धि से अधिक शीघ्रता से बढ जाए तो उद्योगो की विविध शाखाओ के बीच प्रतियोगिता के कारण अन्ततः मजदूरियो का स्तर ऊपर हो जाएगा। एडम स्मिथ ने, जो सौदेबाजी करने मे मजदूरो की अपेक्षा मालिको *की अच्छी स्थिति से भली प्रकार परिचित था, अपने विवेचन मे लिखा* है, 'जब किसी देश मे मजूरी पेशा लोगो की माग बढती चली जाती है… तब कामगारो की कमी के कारण *मालिकों मे आपस मे प्रतियोगिता हो जाती है, जो मजदूरो को अपनी*

और आकर्षित करने के लिए बोली लगाते हैं और इस प्रकार, मालिकों का आपस मे, मजदूरी न बढाने का जो समझौता होता है वह स्वय ही टूट जाता है।' स्मिथ के अनुसार मुख्य बात यह है कि क्या कोई देश लबे अरसे के दौरान आर्थिक प्रगति को कायम रख सकता है या नही। अगर इसे कायम नही रखा जा सकता तो सम्भावना यह है कि जन-सख्या मे वृद्धि के कारण रहन-सहन का सामान्य स्तर फिर गिर जाएगा। स्मिथ का कहना है कि 'श्रमिक की मजदूरी मे वृद्धि इस आधार पर नही होती कि वास्तव मे राष्ट्रीय धन कितना अधिक है वरन् इस आधार पर होती है कि उसमे निरन्तर कितनी वृद्धि हो रही है।'[1]

औद्योगिक टेक्नालाजी भी जैसे-जैसे फैलती है वैसे-वैसे उसमे सुधार होते चलते हैं, और लबे अरसे मे, उसमे श्रमिको की मजदूरी मे वृद्धि हो जाती है। देहातो मे लोगो के पास पूरा रोजगार न होने के तथा आर्थिक द्वैधता के कारण, विकास की दिशा मे अग्रसर कुछ समाजो के लिए, विकास की आगे की अवस्था मे जाना कठिन हो जाता है। इन देशो की समस्याए विशेष प्रकार की है और उनके सुधार के उपाय भी विशेष होने चाहिए। परतु औद्योगिक विकास के कुछ पहलू ऐसे हैं जिन्हे विकसित देशो के अनुभव से ही अच्छी तरह समझा जा सकता है। औद्योगीकरण के साथ शिक्षा और औद्योगिक प्रशिक्षण के अवसर कई गुना बढ जाते हैं। इसमे समझने की खास बात यह है कि यह आकस्मिक नही है क्योकि तकनीकी प्रगति से ऐसा होना अनिवार्य है। औद्योगिक विकास के साथ उदग्र (वर्टिकल) तथा सम स्तर दोनो प्रकार की गतिशीलता बढ जाती है। पारम्परिक समाज मे नीचे से ऊपर की ओर एक प्रकार की क्रम-व्यवस्था होती है। उदग्र गतिशीलता का कर्मकाड मे निषेध होता है तथा उसे बहुत कठिन बना दिया जाता है हालाकि अलग-अलग सामाजिक व्यवस्थाओ का इसके प्रति रुख अलग-अलग है। औद्योगिक समाज का आचार इस प्रकार के निषेध के विरुद्ध कार्य करता है। लबे अरसे मे इससे कृषि और उद्योग के बीच दूरी कम होने लगती है। इसके और भी परिणाम होते हैं। शिक्षा मे प्रसार के साथ जब जनता के रहन-सहन के स्तर को ऊचा करने की आकाक्षाए जुड जाती है तब इन उद्देश्यो को पूरा करने के लिए समुचित सगठनो का निर्माण अथवा उसके लिए वाछित कानून बनाने की बात अनिश्चित काल तक टाली नही जा सकती। बहुत-से देशो मे शुरू-शुरू मे जो मजदूर सघ बने उनका काम बहुत अधिक सगठित उद्योगो मे, खास तौर से कुशल कर्मचारियो के बीच, जोरदार था। इस प्रकार समृद्धि कार्यशील वर्ग मे भी थोडा-थोडा करके आती है और जो वर्ग सबसे कमजोर होता है उसको सबसे अधिक कष्ट उठाने पडते है। तथापि अधिकाधिक लोग धीरे-धीरे आधुनिक टेक्नालाजी के दायरे मे आते चले जाते हैं और इस टेक्नालाजी मे व्यावसायिक कुशलताओ की विशेष आवश्यकता होती है। औद्योगिक रूप से विकसित समाजो मे अकुशल श्रमिको की अपेक्षा सफेदपोश काम ज्यादा तेजी से बढते है।

1 वही, पृ० 61–62.

इस प्रकार, यह आश्चर्य की बात नहीं है कि औद्योगीकरण के प्रथम चरण में बढ़ती हुई असमानता की जो प्रवृत्ति देखी गई थी वह बाद में उलट जाती है। सीमोन कज़नेत्स का कहना है कि "आरम्भ में आय में बड़ी असमानता जो आर्थिक विकास की प्रारम्भिक अवस्थाओं में और बढ़ जाती है, कुछ देर के लिए स्थिर हो जाती है परन्तु बाद की अवस्थाओं में कम होती जाती है।"[1] हमारे पास इतने आंकड़े उपलब्ध नहीं हैं जिनसे यह पता लग सके कि ये विभिन्न अवस्थाएं कब कब रहीं। परन्तु कज़नेत्स ने अमरीका में जब वहां आय की असमानता बढ़ रही थी उस समय विकास की प्रारम्भिक अवस्था को 1840 और 1890 के बीच माना है। उसने यह भी कहा है कि जर्मनी के सम्बन्ध में भी मोटे तौर पर यही समय माना जाना चाहिए।

मार्क्सवादी सिद्धान्त में पूंजीवादी विकास की प्रारम्भिक अवस्था के विशेष लक्षणों को लेकर सारी अवस्थाओं के बारे में अर्थात सारे पूंजीवादी विकास के बारे में एक सामान्य सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है। कैपिटल के प्रथम खण्ड में मार्क्स ने लिखा है

> पूंजीवादी प्रणाली के अन्तर्गत श्रम की सामाजिक उत्पादिता को बढ़ाने के लिए अपनाई जाने वाली सारी रीतियां श्रमिक का नुकसान पहुंचा कर होती हैं, उत्पादन के विकास के सारे साधन इस प्रकार के हो जाते हैं कि वे उत्पादक का शोषण करते हैं अथवा उस पर हावी होते हैं। इस प्रकार एक तरफ पूंजी संचय है और दूसरी तरफ श्रमिक के दर्द, दरिद्रता, अज्ञान, दासत्व, उसके प्रति क्रूरता और उसके मानसिक पतन का संचय है।[2]

जाहिर है कि यह वक्तव्य तथ्यों के अनुरूप नहीं है। उन्नत पूंजीवादी देशों में एक लंबे अरसे के दौरान श्रमिकों की शिक्षा के सामान्य स्तर तथा रहन सहन के स्तर में उन्नति हुई है। इस शताब्दी के दौरान औद्योगिक दृष्टि से विकसित देशों में पूंजी का बहुत बड़ा हिस्सा श्रमिकों की शिक्षा और प्रशिक्षण में लगाया गया। इसकी वजह से उनकी उत्पादन क्षमता तथा जानकारी के स्तर में वृद्धि हुई है। यह सही है कि जो भी उपलब्धि है उससे हम सन्तुष्ट नहीं हो सकते और हम चाहते हैं कि कई दिशाओं में बहुत कुछ किया जाना चाहिए। परन्तु पश्चिम के औद्योगिक दृष्टि से विकसित देशों में पिछले एक सौ वर्षों में जो काम हुआ है उसे अज्ञान अथवा दुःख का संचय कहना वास्तविकता से बहुत दूर है।

सिद्धान्त और वास्तविकता में जब यह भिन्नता मार्क्सवादियों के सामने लाई जाती है तब वे इसका जवाब यह देते हैं कि मार्क्स ने कैपिटल के जिस भाग में इसका

---

1 देखिए, सिमोन कज़नेत्स का 'इकनामिक ग्रोथ एण्ड इनकम इनइक्वालिटी' द अमरीकन इकनामिक रिव्यू। मार्च 1955 में प्रकाशित लेख।

2 कार्ल मार्क्स, कैपिटल, माडर्न लाइब्रेरी, पृ० 708 9

विवेचन किया है वहा पर इसका प्रतिपादन पूजी सचय के निरपेक्ष सामान्य नियम के रूप मे किया है और इस नियम मे अनेक परिस्थितियो मे परिवर्तन हो सकते हैं। निरपेक्ष तथा सामान्य रूप मे इस नियम मे वास्तविकता के उन कतिपय पहलुओ का अमूर्त विवेचन किया गया है जिन्हे मार्क्स पूजीवाद का सार मानता था। अमूर्त विवेचन पर कोई आपत्ति नही की जा सकती और वस्तुत सैद्धान्तिक विवेचन मे अमूर्त विवेचन अनिवार्य भी है। परन्तु सिद्धान्त के परिणामो तथा वास्तविकता के तथ्यो के बीच की भिन्नता की व्याख्या इसके आधार पर नही की जा सकती। जिस प्रक्रिया की हम छानबीन कर रहे हैं, उसकी दृष्टि से यह देखना आवश्यक है कि वास्तविकता के जिन पहलुओ को, कोई सिद्धान्त विशेष रूप से उभार कर सामने ला रहा है, वे अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं तथा जिन पर उसने विचार नही किया है वे वास्तव मे महत्वहीन है। पूजीवादी विकास के नियम के प्रतिपादन के समय मार्क्स के दिमाग मे क्या-क्या बातें थी यह समझना कठिन नही है। उसके विचार मे पूजीवादी उद्यम का प्रमुख गुण या लक्षण श्रम का शोषण या बेशी मूल्य खीचना है। चूकि पूजी शनै शनै थोडे से हाथो मे पहुच जाती है इसलिए पूजी पर एक प्रकार का केन्द्रीकृत नियत्रण स्थापित हो जाता है और इसके बाद यह बात युक्तियुक्त है कि पूजीवाद के विकास के साथ श्रम का और अधिक शोषण होगा। मार्क्स सम्भवतः इस बात की अवहेलना नही कर सकता था कि कार्य नियोजको के एक साथ मिल जाने के साथ श्रमिक भी एक साथ मिल जाएगे। परन्तु एक बार इस तथ्य को स्वीकार कर लेने के बाद यह बात यथार्थहीन मालूम पडती है कि श्रम के बाजार मे श्रम को बेचने वालो मे तो श्रम को बेचने के लिए आपस मे प्रतियोगिता होगी और श्रम को खरीदने वालो का केवल एक ही समूह होगा जो श्रम की कम से कम कीमत लगाएगा। मार्क्सवादी विवेचन मे एक और बडा दोष है। मार्क्स जानता था कि पूजीवाद उत्पादन की विधियो मे क्राति पैदा कर रहा है। परन्तु पूजीवाद के द्वारा उत्पादन की तकनीको मे तब तक निरन्तर सुधार सम्भव नही है जब तक कि मशीनरी मे ही नही बल्कि मशीनों को चलाने वालो अर्थात मानव तत्व पर रुपया खर्च न किया जाए। समय की दृष्टि से दूर तक देखा जाए तो आधुनिक समाज के विकास मे इसका प्रभाव बहुत-सी अन्य बातो की अपेक्षा अधिक रहा है। अमूर्तीकरण के द्वारा पूजी के विकास के इस महत्वपूर्ण परिणाम को पूजीवाद से अलग भले ही कर दिया जाए परन्तु ऐसा करने से जिस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया जाएगा उसकी व्याख्यात्मक क्षमता बहुत कमजोर पड जाएगी।

जब विकासशील समाज अथवा अर्थ-व्यवस्थाए सक्रमण की प्रारम्भिक अवस्था से औद्योगिक अवस्था की ओर अग्रसर होती हैं उस समय उनमे एक ही नही वरन् परस्पर सम्बन्धित अन्तर्विरोधो की एक शृखला होती है। हमने जिन उदाहरणों पर ऊपर विचार किया है उनमे भिन्न क्षेत्रो के बीच और एक ही क्षेत्र के अन्दर तनावो की सामान्यत. अलग-अलग चर्चा की गई है और राजनैतिक प्रभाव की भी हमने यत्किचित् चर्चा उठाई है। अब एक भिन्न प्रकार के ऐसे उदाहरण पर विचार करना आवश्यक है जिससे यह

विदित हो कि विभिन्न क्षेत्रो के बीच तथा एक ही क्षेत्र के अन्तर्गत जो तनाव हैं वे किस प्रकार एक-दूसरे से सम्बन्धित होते हैं और जिससे विकास की ओर अग्रसर अर्थ-व्यवस्थाओं के अन्दर विद्यमान अन्तर्विरोधो के सास्कृतिक पहलुओ पर भी रोशनी पड़े। हम पहले देख चुके हैं कि विकासशील समाज एक विशेष अर्थ मे 'द्वैध' समाज होता है। पारम्परिक क्षेत्र की आदतें और मानदड आधुनिक क्षेत्र से एकदम भिन्न होते हैं। जाहिर है कि आधुनिक क्षेत्र मे काम करने वाले मजदूर तथा अन्य ससाधन अन्य क्षेत्रो से ही लिए जाएगे। जब ग्रामीण क्षेत्र से श्रमिक आकर शहरो के सगठित क्षेत्रो मे काम करने लगते हैं तब वे अपने साथ अपनी आदतें और विचार के तौर-तरीके भी लाते हैं, जिनका सम्बन्ध औद्योगिक सस्कृति से होता है। तब वे अपने नये पर्यावरण मे एक अजनबीयत महसूस करते हैं। इस अर्द्ध ग्रामीण आबादी से एक स्थायी औद्योगिक श्रमिक समुदाय का निर्माण एक प्रकार से अन्तर्विरोधो को दूर करने की प्रक्रिया है। यह एक मूल समस्या है जो न तो पूजीवाद की ही है और न ही समाजवाद की बल्कि औद्योगीकरण की प्रक्रिया मे ऐसा होना अनिवार्य है।

नियोजित औद्योगीकरण के प्रारम्भ मे सोवियत सघ मे श्रमिक स्थिति का जो उदाहरण है वह इस समस्या को बहुत ही नाटकीय रूप मे प्रस्तुत करता है। वहा पर पहली पचवर्षीय योजना 1928 मे शुरू की गई थी। इसके तुरन्त बाद कृषि का जबरदस्ती सामूहिकीकरण हुआ जिससे देहातो मे बहुत बड़े भाग मे रक्तपात हुआ और बेचैनी फैल गई। बड़ी सख्या मे लोग देहातो से शहरो की ओर आने लगे। 1930 के बाद के वर्षों मे सोवियत सघ मे श्रमिक समस्या की यह पृष्ठभूमि है। शहरो मे मकानो की समस्या बहुत विषम हो गई। बाहर से आए हुए श्रमिक किसी एक पेशे पर जम कर नही बैठे बल्कि जल्दी-जल्दी रोजगार बदलते रहे। जो लोग नये वातावरण के आदी नही थे उन पर औद्योगिक अनुशासन के नियमो अथवा नियमितता को लागू करना कठिन था।

सोवियत सघ के साम्यवादी दल की केन्द्रीय समिति ने 1930 मे स्वीकार किए गए एक प्रस्ताव के जरिये 'सामाजिक रूप से बाहर के तत्वों' द्वारा उद्योग पर आक्रमण की चेतावनी दी। श्रम नीति मे अब काम बदलते रहने वालो के विरुद्ध सघर्ष की प्रधानता आ गई।[1] प्रत्यक्ष और परोक्ष दबाव डालकर लोगो को अपने-अपने काम से बाधने के तरीके निकाले गए। जो लोग वाछित नोटिस दिए बिना काम छोड देते थे उन्हे 'उत्पादन के विघटकों' की सज्ञा दी गई। मैनेजरो को आदेश दिए गए कि वे मजदूर की मजूरी पुस्तिका मे उसके काम छोडने का कारण दर्ज किया करें। जो लोग वाछित नोटिस देकर भी जल्दी-जल्दी काम छोड देते थे उनको सजा देने और एक निर्धारित अवधि तक उद्योग अथवा परिवहन मे काम न देने की व्यवस्था की गई। सामाजिक

1 1930 के बाद के वर्षों मे लाखो लोगो को अनिवार्य श्रम शिविरो मे भेजा गया। परतु हम उद्योगो मे सामान्य कार्य नियोजन के सदर्भ मे श्रम नीति के केवल कुछ पहलुओ पर ही विचार करेंगे।

सुरक्षा प्रणाली को इस प्रकार का बनाया गया कि एक स्थान पर कम से कम एक खास अवधि तक लगातार काम करने के बाद ही वह उन पूरी सुविधाओं का हकदार हो पाता था। इसके साथ ही गैरहाजिर रहने या समय पर काम पर न आने के लिए सजा कठोर होती चली गई। 1920 के लेबर कोड की धारा 47 के अधीन अगर कोई व्यक्ति समुचित कारण बताए बिना किसी महीने के दौरान छः दिन तक या तीन दिन लगातार गैरहाजिर रहे तो उसे काम से हटाया जा सकता था। 1927 में इसका संशोधन करके कहा गया कि अगर कोई कर्मचारी किसी महीने में तीन दिन काम पर न आए तो उसे बर्खास्त किया जा सकता है। आगे के नियमों की तुलना में तो यह नियम भी नरम था। 15 नवम्बर, 1932 के नये कानून के मुताबिक एक दिन की भी नामुनासिब गैरहाजिरी होने पर कामगार को बर्खास्त करना अनिवार्य कर दिया गया। काम पर देर से आने पर भी सज़ा की व्यवस्था की गई जिसमें चेतावनी, कम वेतन वाले काम पर नियुक्ति और जिन मामलों में बहुत ही शिकायत हो उनकी बर्खास्तगी तक शामिल थी। 8 जनवरी, 1939 में स्पष्टीकरण करते हुए एक निर्णय में कहा गया कि काम पर 20 मिनट से ज्यादा देर हो जाने को नामुनासिब गैरहाजिरी समझा जाए और उसी आधार पर उसकी सज़ा दी जाए।[1] पर इस समय के बाद जो और कठोर नियम बने वे काफी हद तक युद्ध की परिस्थितियों के कारण थे। इसलिए उनको इस विवरण में शामिल नहीं किया जाएगा।

इस शताब्दी के दूसरे चतुर्थांश में सोवियत संघ में जो कुछ हुआ उसमें और इससे बहुत पहले इंग्लैंड में औद्योगिक क्रांति के आरम्भ में जब वहां देहातों के श्रमिकों की भीड़ की भीड़ उजड़ कर औद्योगिक शहरों की तरफ आई उसमें कुछ समानता है। मार्क्स ने 'कैपिटल' में वर्णन किया है कि 'खेतिहर लोगों को किस प्रकार पहले जबरदस्ती जमीनों से बेदखल तथा घर-द्वार से निकाल कर आवारा बना दिया गया और बाद में भद्दे और भयानक कानूनों की मदद से मारपीट कर, सता कर मजूरी की व्यवस्था के अनुरूप अनुशासन में ढाला गया।'[2] जो हो, मार्क्स ने यहां पर इंग्लैंड में सोलहवीं शताब्दी के खूंख्वार कानूनों की भूमिका बताई है। हमारी दिलचस्पी यहां पर यह जानने में अधिक है कि अठारहवीं शताब्दी में मजदूरों को कारखानों में मशीनों से होने वाले उत्पादन के अनुरूप ढालने के लिए क्या-क्या तरीके अपनाए गए। जो बड़े-बड़े कार्य नियोजक थे उन्होंने श्रमिकों के लिए विस्तृत नियम बनाने के साथ-साथ अनुशासन तोड़ने के लिए सजाएं भी निर्धारित कीं। टी० एस० एश्टन ने अपनी पुस्तक 'एन इकनामिक हिस्ट्री आफ इंग्लैंड : द एटीन्थ सेन्चुरी' में उदाहरण के तौर पर विलियम रेनौल्ड्स एण्ड कम्पनी के कारखाने में सुव्यवस्था बनाए रखने के नियमों का उल्लेख किया है जो अठारहवीं

1. इस विषय पर देखिए एम० एम० श्वार्ज की पुस्तक 'लेबर इन द सोवियत यूनियन', द क्रेसेंट प्रेस, लन्दन, 1953, पृ० 86-100

2. कार्ल मार्क्स, उपर्युक्त, पृ० 808-9

शताब्दी के अन्त में बनाए गए थे। इन नियमों में काम का समय सुबह छः बजे से शाम के छः बजे तक रखा गया था जिसमें से डेढ घंटा खाने के लिए था। नियमों में समय की अनियमितता और हर काम में समय की पाबन्दी न रखने पर सजा की व्यवस्था थी। जो अपने भोजन में निर्धारित से अधिक समय लगाते थे उन्हें चौथाई दिन की मजूरी नहीं मिलती थी। कोई व्यक्ति समुचित नोटिस दिए बिना काम छोड देता था तो उसे भी जुर्माना भरना पडता था। उन दिनों में, खास तौर से कुशल कारीगरों के साथ, सेवा की अवधि का एक करार हो जाता था जिसमें समय की अनुसूची और काम की शर्तें साफ-साफ लिखी होती थीं। कारखानों में कठोर अनुशासन था। उधर 'पुअर लाज' इस प्रकार के बनाए गए थे कि कार्यशालाओं की परिस्थितियां और भी कठिन हों ताकि शरीर से स्वस्थ कोई व्यक्ति बहाना बना कर काम से बाहर न रह सके।

काम के नये नियमों के अनुपालन के लिए एक तरफ संस्थाओं और करारों के माध्यम से एक प्रकार की व्यवस्था थी तो दूसरी तरफ उनके लिए नैतिक दबाव भी डलवाया गया था। एक तरफ तो बदल-बदल कर कार्य करने के विरुद्ध संघर्ष था और दूसरी तरफ प्यूरीटनों की आज्ञा थी कि प्रत्येक व्यक्ति का कार्य ईश्वर द्वारा उसके लिए निर्धारित स्थान है। यह सर्वविदित है कि अनुशासित श्रम को आध्यात्मिक और नैतिक आधार प्रदान करने में मैथोडिस्ट चर्च ने महत्वपूर्ण कार्य किया। सोवियत संघ में, मार्क्सवाद और समाजवादी जन्मभूमि के प्रति सर्वहारा वर्ग के कर्तव्य की भावना ने वही शानदार नैतिक आधार प्रदान किया।

औद्योगिक अनुशासन को लागू करने के लिए अपनाए गए तरीकों की आलोचना करना आसान है। जिन अवधियों की हमने ऊपर चर्चा की है उस दौरान जिन कठोर तरीकों को इग्लैंड या सोवियत संघ में अपनाया गया वे निष्प्रयोजन और अत्याचारपूर्ण नहीं थे बल्कि यह कहना चाहिए कि वे आगे बढ़ते हुए औद्योगिक समाज की प्रत्यक्ष आवश्यकताओं के अनुरूप थे। यह कार्य उस समय तो कठिन था ही और आज भी जिन देशों के सामने इस प्रकार की समस्या है वहां यह कठिनाई है। अनुशासन के नये नियम औद्योगिक प्रतिष्ठानों के श्रमिकों के उन समूहों पर लागू करने होते हैं जो उनके आन्तरिक प्रयोजनों को साफ तौर से समझ नहीं पाते। इसी प्रकार कारखानों के प्रबंधक श्रमिकों की आपत्तियों को नहीं समझ पाते हैं। वास्तव में समस्या का कोई सहज समाधान नहीं है। ज्यादातर जो भी हल होता है वह ऊपर से थोपा गया होता है। अगर आदर्श व्यवस्था हो तो कर्मचारियों के संगठन इस दिशा में रचनात्मक कार्य कर सकते हैं। मजदूर संघों के विषय में सामान्यतया यह समझा जाता है कि उनका काम कर्मचारियों की तरफ से सौदेबाजी करना है। परंतु वे इस दिशा में अधिक बुनियादी काम कर सकते हैं। उत्पादक उपक्रम में काम के सामान्य नियम बनाने में वे योगदान कर सकते हैं और इन नियमों को श्रमिकों को समझा सकते हैं तथा प्रबंधक अगर मनमानी करें तो श्रमिकों के हितों की रक्षा कर सकते हैं। 1920 के आरम्भ में लेनिन सोवियत संघ में मजदूर संघों से

इसी प्रकार के कार्य की अपेक्षा करते थे। परन्तु जब औद्योगीकरण का दबाव बढ़ता है और मजदूरों से यह अपेक्षा की जाती है कि वे नये-नये काम उतनी तेजी से पूरा करें जितने के लिए वे तैयार नहीं हो पाए हैं तो यह काम कठिन हो जाता है।

जिस अवधि में उद्योग में काम करने वाले अधिकांश श्रमिक, ग्रामीण और अर्द्ध ग्रामीण समाज से आते हैं, उस अवधि में पुरानी और नयी प्रवृत्तियों के बीच संघर्ष को दूर करने की समस्या की हम चर्चा कर चुके हैं। परन्तु तालमेल बिठाने की एक समस्या और भी जटिल है जिसकी हम थोड़ी सी चर्चा करेंगे। आर्थिक विकास के दौरान समाज के सामने एक यही संघर्ष नहीं होता, उसे औद्योगिक समाज से पहले के आचार-विचार तथा काम-काज के तरीकों का आधुनिक उद्योगों के तौर-तरीकों के बीच सामंजस्य स्थापित करना पड़ता है बल्कि इससे भी अधिक जटिल समस्या औद्योगिक समाज के मूल्यों के अन्दर ही विद्यमान अन्तर्विरोध को सुलझाना है। नया समाज स्वतन्त्रता और समानता के मूल्य सामने रखता है। इसके साथ ही श्रमिकों से उद्योगों के कठोर अनुशासन के पालन की आशा की जाती है। एक तरफ तो व्यक्ति से तर्क और विवेक पर आस्था रखने को कहा जाता है दूसरी तरफ आधुनिक उद्योगों के आधार के विशाल और जटिल होने के कारण एक श्रमिक, जिसका सामान्यतः वास्ता उस उद्योग के बहुत ही छोटे उप-विभाग से होता है, काम के नियमों में जो संगति होती है उसको नहीं समझ पाता। इस कारण आश्चर्य नहीं, एक विकासशील औद्योगिक समाज को अपने अन्दर घुमड़ती हुई बगावत का लगातार भय बना रहता है।

विकासशील समाज के अन्दर विद्यमान अनेक प्रकार के अन्तर्विरोधों की ऊपर चर्चा की जा चुकी है। सामान्यतया इन सभी का लंबे अरसे में समाधान हो जाता है। परन्तु अक्सर इसमें बहुत लंबा अरसा लगता है, और उस लंबे दौर में समाज को साथ मिलाकर कायम रखना एक समस्या हो जाती है।[1] हमने ऊपर एक विशेष प्रकार के सामाजिक संघर्ष की चर्चा नहीं की है और वह है पुराने अभिजात वर्ग और नये वाणिज्यिक एवं औद्योगिक वर्ग के बीच संघर्ष की समस्या। इस संघर्ष के सांस्कृतिक कारण है परन्तु अगर अर्थ व्यवस्था में, और विशेष रूप से कृषि और उद्योगों में संतुलन न हो तो यह संघर्ष तीव्र हो जाता है। पुराने अभिजात वर्ग को वाणिज्यिक वर्ग की आर्थिक शक्ति से इसलिए ज्यादा तकलीफ होती है कि वे इस वर्ग को सांस्कृतिक दृष्टि से नीचा और हेय समझते हैं। कुछ देशों में तो इन दोनों में समझौता हो गया। हम देख चुके हैं कि व्यापारियों ने जमीन के सुधार में मदद की और भूमिपति वर्ग ने औद्योगिक व्यवसायों में पैसा लगाया। एक अन्य प्रकार का सामाजिक समंजन कदाचित् इससे अधिक महत्वपूर्ण है। राजनीतिक और सरकारी क्षेत्र में अधिकांश नेतृत्व पुराने वर्ग के पास था। इसलिए पुरानी परम्परा से प्राप्त प्रतिष्ठा के आधार पर उन्होंने सामाजिक एकता को कायम रखा

1 इस विषय पर विस्तृत चर्चा के लिए, देखिए लेखक की पुस्तक रिलिजन, एजुकेशन एण्ड डवलपमेंट, ओरियन्ट लांगमैन्स, नई दिल्ली, 1968--69.

और व्यापारिक एवं औद्योगिक हितों के प्रति सहानुभूति के कारण उन्होंने सरकार की नीतियों को इन हितों के अनुरूप होने दिया। अन्य देशों में अथवा दूसरे जमाने में चीजें कुछ और ही तरीके से चलीं। यहां पर व्यापारिक अथवा पूंजीवादी वर्ग के खिलाफ एक मुहिम शुरू की गई जिसका नेतृत्व अक्सर अभिजात वर्ग के हाथ में था जो परिस्थितियों के कारण नये पेशों में पड़ गए थे परन्तु अभी तक उसके आदी नहीं हुए थे अथवा कहीं नेतृत्व क्षात्र धर्म वाले लोगों के पास था जिनको अपने से नीची जाति के असन्तुष्ट वर्ग का सहयोग प्राप्त था। ऐसी परिस्थितियों में व्यापारिक वर्ग का ही दो भागों में बंट जाना असामान्य बात नहीं है जिसमें से एक वर्ग क्रांतिकारी नेताओं के साथ हो लेता है। एक बार शक्ति हाथ में आ जाने के बाद यही परिवर्तनवादी वर्ग उद्योगों पर नियंत्रण और आर्थिक व्यवस्था को फिर से कायम करने के लिए एक विशेष प्रबंधक समुदाय का रूप ले लेता है।

विकासशील अर्थ व्यवस्थाओं के अन्दर पाए जाने वाले इस प्रकार के अन्तर्विरोधों के कारण विभिन्न प्रकार के राजनैतिक और आदर्श सम्बन्धी प्रतिक्रियाएं होती हैं। वस्तुतः इनमें से अधिकांश अन्तर्विरोधों का कारण प्रादेशिक तथा क्षेत्रीय असंतुलन, शक्ति का एकाधिकार और जाति की पाबंदियां तथा परम्परा और आधुनिकता के बीच सांस्कृतिक संघर्ष है। विचारधारा का तभी उपयोग है जब वह उचित लक्ष्यों को उभार कर सामने रखे और सही उपायों के द्वारा उन्हें प्राप्त करने की शक्ति पैदा करे। अगर विचारधारा में, वास्तविक समस्याओं के स्थान पर काल्पनिक बाधाओं पर जोर हो तो उससे नुकसान हो जाता है। उदाहरण के लिए प्रादेशिक असमानताएं बहुत बढ़ जाएं तो उसी स्तर पर विचार करके, पिछड़े हुए क्षेत्रों के आर्थिक विकास को बढ़ावा देने के उपाय किए जाने चाहिए। अगर कृषि और उद्योगों के बीच संतुलन बिगड़ जाए तो जो क्षेत्र पिछड़ रहा है उसकी उत्पादिता को बढ़ाने की नीति अपनाई जानी चाहिए। अगर पारम्परिक मूल्यों और औद्योगिक समाज के नियमों में टकराव होता है तो चाहे बहस में धार्मिक विचारों के कितने ही ताने बाने बुने जाएं अन्त में दोनों में फिर से सामंजस्य बिठाना होगा। अगर आगे बढ़ने के अवसर तथा शक्ति एक छोटे समूह के हाथों में सीमित हो जाए तो इस स्थिति को बदल कर अच्छे भविष्य के अवसर सब के लिए खोल देने होंगे। ये ऐसे जरूरी काम हैं जिनसे बचना सम्भव नहीं है यद्यपि ये काम किस प्रकार किए जाएंगे, इसमें अन्तर हो सकता है। जो भी हो, औद्योगिक संक्रमण लाने का कोई कष्टरहित उपाय नहीं है क्योंकि आदतों, परम्पराओं और समाज के शक्ति संतुलन में बड़ा परिवर्तन काफी तकलीफ उठाए बिना नहीं लाया जा सकता। यह जरूर है कि कुछ तरीके ज्यादा कष्टकर हैं और कुछ कम और अगर हर अवस्था में अन्तर्विरोधों को सही-सही तौर पर समझा जाए तो इस बात की सम्भावना हो जाती है कि सही और बुद्धिमत्तापूर्ण निर्णय लिए जाएंगे।

8

आर्थिक विकास की युक्तियां—I

'संतुलित' उन्नति और कृषि विकास के उपाय

कुछ अर्थशास्त्रियों ने 'असंतुलित' आर्थिक विकास की बात कही है। असंतुलन किस प्रकार का होना चाहिए इस सम्बन्ध में सभी एकमत नहीं है किन्तु उन्होंने जो दलीलें पेश की है वे दिलचस्प हैं और उनकी ओर कुछ ध्यान दिया जाना चाहिए। ए० ओ० हिरशमैन की 'द स्ट्रेटेजी आफ इकनामिक डेवलपमेंट' (येल यूनिवर्सिटी प्रेस, 1958) इसका एक सुन्दर उदाहरण है। हिरशमैन के विचार बाद में कुछ परिवर्तित हो गए। परन्तु हमारी दिलचस्पी इस बात में नहीं है कि किस प्रकार हिरशमैन के विचार यहां तक पहुंचे, *बल्कि इसमें है कि आर्थिक असंतुलित विकास के विषय में उसका तर्क क्या है।*

हिरशमैन ने औद्योगिक रूप से उन्नत देश की व्यापारिक मंदी और पिछड़ी हुई अर्थ-व्यवस्था में जो मंदी होती है उन दोनों में भेद किया है। विकसित देश में व्यापार में जब मंदी आती है तब श्रमिक बेरोजगार हो जाते है और उत्पादक क्षमता निष्क्रिय पड़ी रहती है। मुख्य समस्या प्रभावी मांग को फिर से पैदा करने की होती है ताकि बेरोजगार श्रमिकों और निष्क्रिय मशीनों को काम में लगाया जा सके और उद्योग लगभग पूरी क्षमता से चालू हो जाए। दूसरे शब्दों में, मंदी के चक्र से बाहर निकलने के लिए अधिक पूंजी या तकनीकी कुशलता या उद्यमशीलता उत्पन्न करना इतना आवश्यक नहीं है जितना कि समस्त मांग को बढ़ाकर इन्हें काम में लगाना आवश्यक है। अल्प विकसित अर्थ-व्यवस्थाओं में स्थिति बिल्कुल भिन्न है। यहां मुख्य समस्या प्रत्यक्ष बेरोजगारी में अत्यधिक *वृद्धि से उत्पन्न नहीं होती, हालांकि सम्भवत बहुत-सी परोक्ष बेरोजगारी विद्यमान* होती है। समस्या पूंजी की कमी के कारण होती है, यद्यपि यह नहीं कहा जा सकता कि कुछ बचत करना सम्भव ही नहीं है। इसी प्रकार उद्योग तथा कृषि की दिशा में रचनात्मक उद्यमशीलता का अभाव होता है। अत प्रश्न यह नहीं होता कि निष्क्रिय क्षमता का उपयोग किस तरह किया जाए बल्कि प्रश्न यह है कि किस तरह 'दबाव' तथा 'अभिप्रेरणा की प्रक्रिया' तैयार की जाए जिससे अतिरिक्त पूंजी तथा नवीन उद्यमशीलता का विकास हो। असंतुलित विकास के पक्ष में सबसे बड़ी दलील यह है कि इससे दबाव तथा अभिप्रेरणाएं उत्पन्न करने में सहायता मिलेगी।

असंतुलित विकास से ये दबाव तथा अभिप्रेरणाएं कैसे उत्पन्न होती हैं ? मान लीजिए कि किसी उद्योग विशेष में अपेक्षाकृत अधिक पूंजी निवेश किया जाता है और इसके उत्पादन में काफी वृद्धि हो जाती है। इसके परिणामस्वरूप अन्य उद्योगों के उन उत्पादों की मांग में भी अत्यधिक वृद्धि हो जाएगी जिनका उपयोग पहले वाले उद्योग में कच्चे माल के रूप में किया जाता है। इस प्रकार, एक क्षेत्र में असंतुलित विकास का अन्य क्षेत्रों पर दबाव पड़ता है और यह आशा की जा सकती है कि इसके परिणामस्वरूप अन्य क्षेत्रों में भी विस्तार होगा। ये दबाव उद्योग के साथ सम्बन्ध के द्वारा संचारित होते हैं। इसी के अनुरूप 'अगले' उद्योगों के साथ भी सम्बन्ध होता है। बहुत सम्भव है कि पहले वाले उद्योग का उत्पादन किसी दूसरे उद्योग के लिए कच्चा माल हो। इस उत्पादन के अधिक मात्रा में उपलब्ध होने पर अगले उद्योग के उत्पादन के विस्तार के लिए अभिप्रेरणाएं उत्पन्न होने की सम्भावना होती है। उदाहरण के लिए इस्पात उद्योग का लोहा तथा कोयला खान उद्योग के साथ 'पिछला' सम्बन्ध है और इंजीनियरी उद्योग के साथ 'अगला' सम्बन्ध है। इस्पात का उत्पादन लाभकर तथा कुशल हो इसके लिए इसे अच्छे पैमाने पर शुरू किया जाना चाहिए। यदि किसी अल्प विकसित अर्थ-व्यवस्था के स्वल्प पूंजी संसाधनों को विभाजित करके बहुत-से उद्योगों में 'संतुलित' ढंग से लगा दिया जाए तो सम्भव यही है कि इनमें से बहुत-से उद्योग बहुत छोटे होंगे और इस प्रकार उन्हें अलाभकर पैमाने पर चलाना पड़ेगा। परन्तु यदि इसके बजाय उपलब्ध पूंजी तथा अन्य स्वल्प संसाधनों में से कुछ चुने हुए उद्योगों को उनके 'उचित हिस्से' से अधिक हिस्सा मिल जाए तो इस बात की सम्भावना अधिक होती है कि उसके द्वारा वे लाभकर पैमाने पर चलने में समर्थ हो सकेंगे और उनसे उत्पन्न होने वाले दबावों तथा अभिप्रेरणाओं से अन्य क्षेत्रों में भी शीघ्र ही विकास होगा।

इस दावे में सच्चाई का अंश है किन्तु यदि इस तर्क को खींचा जाए तो इसका कोई अर्थ नहीं रहता। कुछ प्रकार के असंतुलन ऐसे होते हैं जो अपने असंतुलन को सरलता से सुधार लेते हैं किन्तु कुछ ऐसे भी होते हैं जो ऐसा नहीं कर पाते। 'सामाजिक ऊपरी पूंजी' और 'प्रत्यक्ष उत्पादक गतिविधियों' के बीच अन्तर किया गया है। उदाहरण के लिए, सड़क या रेल परिवहन प्रथम श्रेणी के अन्तर्गत आएंगे और इसी प्रकार शिक्षा तथा जनोपयोगी सेवाएं भी इसी के अन्तर्गत आएंगी। कई प्रकार के पूंजीगत माल तथा उपभोक्ता माल उद्योग, जो सामान्य परिवहन सुविधाओं का उपयोग करते हैं, दूसरी श्रेणी के अन्तर्गत आएंगे। कई बार यह सुझाव दिया गया है कि विकासशील अर्थ-व्यवस्थाओं में प्रत्यक्ष उत्पादक गतिविधियों को सामाजिक ऊपरी पूंजी के विद्यमान उपबंध से आगे चलने देना चाहिए। प्रथम श्रेणी के द्वारा जो दबाव उत्पन्न होंगे उनके परिणामस्वरूप समय पाकर दूसरी श्रेणी की गतिविधियां बढ़ेंगी। किन्तु क्या हम यह मानकर चल सकते हैं कि यह सब अनुमानित रूप में होगा ? मान लीजिए कि उद्योगों का विस्तार उपलब्ध परिवहन सुविधाओं से अधिक हो जाता है। पर्याप्त मात्रा में नई सड़कें बनाने, रेलवे

लाइनें बिछाने और उन्हें सभी प्रकार की अन्य सुविधाओं से परिपूरित करके चलाने में समय लगता है। यदि इस सम्बन्ध में बहुत पहले से योजना नहीं बनाई जाती और यदि कार्यवाही में इतना विलंब किया जाए कि स्थिति असहनीय हो जाए तो इससे दीर्घकालीन सकट उत्पन्न होने की सम्भावना होती है। निश्चय ही यह औद्योगिक विकास की अधिक तर्कसंगत युक्ति सिद्ध नहीं हो सकती। यह उचित ही है कि सामाजिक ऊपरी पूजी तथा प्रत्यक्ष उत्पादक गतिविधियों के बीच लगभग सतुलन रखने लिए पहले से योजना बना ली जाए और प्रथम को द्वितीय से अधिक आगे न जाने दिया जाए या इसे बहुत पीछे न रहने दिया जाए। किन्तु परिवहन तथा आर्थिक गतिविधियों के बीच के सम्बन्ध में सतुलन कैसे स्थापित होता है, यह एक जटिल प्रश्न है और बाद में चलकर हम इस पर कुछ और चर्चा करेंगे।

असतुलित विकास की वकालत कई बार इस दलील का रूप धारण कर लेती है कि भारी उद्योग को प्राथमिकता मिलनी चाहिए। हमने पहले देखा है कि औद्योगीकरण की प्रारम्भिक अवस्था में उपभोक्ता उद्योग की प्रधानता रही है। वस्तुत, हौफमैन का कहना है कि विकास की प्रथम अवस्था में उपभोक्ता उद्योग की प्रधानता होती है। हाल के वर्षों में कुछ अर्थशास्त्रियों ने एक दूसरा रास्ता सुझाया है। भारी उद्योग को प्राथमिकता देने की कई आधारों पर सिफारिश की गई है। बहुविध औद्योगिक सरचना की नींव रखने के लिए इसे 'आधारभूत' तथा अत्यावश्यक माना गया है। इससे आधुनिक उद्योगों के स्वरूप की पूरी तथा सशक्त अभिव्यक्ति होती है और इस प्रकार समाज में ऐसी जागरूकता उत्पन्न करने में सहायता मिलती है जो औद्योगीकरण के कार्यक्रम को पूर्णरूपेण स्वीकार करने के लिए आवश्यक है। इसमें पूजी प्रधान तकनीकों का बाहुल्य होता है और पूजी निर्माण की गति भी तेज होती है। इसमें कुशल श्रम और ऐसे कुशल प्रबध कर्मचारियों की भी बचत होती है जो बहुत कम सख्या में उपलब्ध होते हैं। इनमें से कुछ दलीलों पर तो यहां विचार-विमर्श किया जाएगा किन्तु कुछ अन्य पर बाद में ही विचार किया जा सकता है।

भारत की दूसरी पचवर्षीय योजना में, एक 'प्रमुख उद्देश्य' यह रखा गया कि तेजी से औद्योगीकरण हो, जिसमें 'आधारभूत तथा भारी उद्योगों के विकास पर विशेष जोर दिया जाए।' किसी देश की परम्परा और प्राकृतिक ससाधनों की सम्पन्नता का विभिन्न उद्योगों की सापेक्ष स्थिति पर कुछ प्रभाव होता है। स्वीडन तथा रूस ने, जिनके पास लौह खनिज के भारी भडार है, लोहा तथा इस्पात उद्योग को अपेक्षाकृत जल्दी विकास करना आरम्भ किया। भारत में भी लौह खनिज के बहुत-से बड़े भडार हैं और यहां लबे समय से अच्छी किस्म के लोहे का उत्पादन होता रहा है। एशिया के अन्य देशों की तुलना में भारत को इस्पात उत्पादन के क्षेत्र में अधिक लबे समय का अनुभव प्राप्त है। यदि वह अपनी विकास योजनाओं में लोहे तथा इस्पात को उच्च प्राथमिकता देने का निर्णय करता है तो यह युक्तिसगत ही है किन्तु दूसरी पचवर्षीय योजना में भारी उद्योग के प्रति जो

दृष्टिकोण अपनाया गया यह भारत की अर्थ-व्यवस्था से सम्बन्धित ऊपर उल्लिखित *विशिष्ट तथ्यों पर आधारित नहीं था, बल्कि एक अधिक सामान्य विचार पर आधारित* था। आयात प्रतिस्थापन को प्राथमिकता देने के निर्णय से इस बात को और बल मिला। इस प्रश्न पर बाद के किसी अध्याय में फिर चर्चा की जाएगी।

यह कहना कुछ हद तक ठीक है कि भारी उद्योग 'आधारभूत' है और इस पर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है। विकास कार्यक्रम को विलंब से आरम्भ करने वाले देश को तेजी से एक ऐसे 'इन्फ्रास्ट्रक्चर' का निर्माण करना होता है जिस पर उद्योग की इमारत या उसका ऊपरी ढांचा खड़ा होगा। उदाहरण के लिए इसमें आधुनिक परिवहन तथा बड़ी मात्रा में बिजली उत्पादन की व्यवस्था होनी चाहिए। इन प्रयोजनों के लिए जो *पूंजी निवेश किया जाता है उसमें से कुछ, बड़े पैमाने पर होता है। यदि अल्प विकसित* देशों की सरकारें इसमें विशेष भूमिका निभाने का निर्णय करें तो यह बात समझ में आती है। अगर इस तर्क को अधिक खींचा जाए तो बात बिगड़ जाती है।

निश्चय ही यह कहना गलत होगा कि भारी उद्योग ही 'आधारभूत' हैं। जो लोग इसकी वकालत करते हैं उनका तर्क यह है कि भारी उद्योग इसलिए आधारभूत हैं क्योंकि इनसे उत्पादक क्षमता (उदाहरण के लिए मशीनें) पैदा होती है। तर्क कुछ इस प्रकार है : औद्योगिक विकास के लिए हमें मशीनों की आवश्यकता होती है, भारी उद्योग में *मशीनों का उत्पादन होता है, अतः सर्वप्रथम हमें भारी उद्योग की आवश्यकता होती* है। वास्तव में यह बात पूरी तरह गलत नहीं है बल्कि इसमें कुछ सच्चाई भी है। हमें औद्योगिक कर्मकारों के लिए खाद्य और मशीनों के लिए कच्चे माल की आवश्यकता होती है। अतः, कृषि भी समान रूप से 'आधारभूत' है। वस्तुतः, आर्थिक गतिविधियों में सबसे पहला स्थान कृषि को मिलना चाहिए। नई कुशलताओं तथा तकनीकों की आवश्यकता होती है, इसलिए शिक्षा भी आधारभूत है। यह सच है कि अनाज तथा कच्चा माल और तकनीशियन और इसी तरह मशीनें विदेशों से मगाई जा सकती हैं। बहुत-से मामलों में अनाज *तथा कच्चा माल और तकनीशियन देश में ही पैदा करना महत्वपूर्ण है किन्तु मशीनों का आयात कुछ समय के लिए जारी रखा जा सकता है। जापान ने ऐसा ही किया था* और इसका एक सही कारण था। अपने औद्योगिक विकास के प्रथम चरण में उसने कृषि सुधारों तथा शिक्षा की ओर अधिक ध्यान दिया। इस अवधि में अधिकतर पूंजीगत माल रेशम और सूती कपड़ा जैसे उपभोक्ता उद्योगों के उत्पादन के बदले में प्राप्त किया, जिस में उसकी स्थिति अपेक्षाकृत अच्छी थी। आर्थिक दृष्टि से यह बात समझ में आने वाली है। ऐसा हो सकता है कि कोई देश आर्थिक साधनों की सीमा से परे भारी उद्योगों का *विकास करने का निर्णय करे। उदाहरण के लिए 'रक्षा' के विचार से ऐसा मार्ग अपनाना पड़ सकता है। यह एक पुरानी दलील है और यह निरर्थक भी नहीं है। एडम स्मिथ* ने भी इसकी इजाजत दी थी। किन्तु हमें इसे एक अनार्थिक दलील मानना चाहिए।

दो तरीके हैं जिनसे भारी उद्योगों को अधिक महत्ता प्राप्त हो जाती है। जैसा कि

हौफमैन ने लिखा है, औद्योगीकरण की प्रगति के साथ-साथ स्वाभाविक रूप से भारी उद्योग का बाहुल्य हो जाता है। हमने इसके कारणों के बारे में पहले चर्चा की है। उदाहरण के लिए, पिछले 20 वर्षों में, जापान में कपड़ा उद्योगों की अपेक्षा धातु, रसायन और इन्जीनियरी उद्योगों का अधिक तेजी से विस्तार हुआ है। जापान के आर्थिक विकास के वर्तमान चरण में यह स्वाभाविक है किन्तु वहां अस्वाभाविक प्रकार का विकास भी हुआ है जिसे उसके प्रारम्भिक इतिहास में देखा जा सकता है। 1930 के बाद जापान के औद्योगिक उत्पादन के स्वरूप में तेजी से परिवर्तन हुआ। 1930 में, उसके कुल औद्योगिक उत्पादन में 40 प्रतिशत से कम उत्पादन भारी उद्योग से प्राप्त होता था, किन्तु 1942 में यह 70 प्रतिशत से अधिक था। सैनिक तैयारियों के परिणामस्वरूप यह स्थिति आई थी। सोवियत संघ के सम्बन्ध में भी यही बात सही उतरती है। स्टालिन के काल में भारी उद्योगों को जो बहुत अधिक प्राथमिकता दी गई थी वह सामान्य आर्थिक कारणों से नहीं दी गई थी बल्कि रक्षा को सर्वाधिक महत्ता देने के निर्णय के परिणाम-स्वरूप ऐसा किया गया था। यह असंतुलित विकास है जो अनार्थिक कारणों से होता है।

संतुलित विकास के विवाद के संदर्भ में सबसे विरष्ट प्रश्न विकासशील देशों के प्रसंग में उपस्थित होता है और वह यह है कि आर्थिक विकास में कृषि का क्या स्थान होना चाहिए। कुछ लोग उद्योग को कृषि से आगे रखने की नीति की सिफारिश करते हैं। कई देशों में अनुभव से पता चलता है कि आज के समय में, अपेक्षाकृत पिछड़ी हुई अर्थ व्यवस्थाओं में कृषि में सुधार करने की अपेक्षा उद्योगों का, विशेष रूप से भारी उद्योगों का, विकास करना सरल है। कृषि के विकास में, सांस्कृतिक तथा आर्थिक अड़चनें आती हैं जिन पर पार पाना आसान नहीं होता। सामान्य रूप से पिछड़े हुए समाज में, आधुनिक उद्योग समूहों का निर्माण करना सरल है। अतः, यह अधिक समी-चीन प्रतीत होता है कि संगठित, बड़े पैमाने के उद्योगों के विकास पर अधिक ध्यान दिया जाए और यह आशा की जाए कि जिन पिछड़े उद्योगों की चर्चा हमने पहले की है, वे कृषि के विकास में सहायता करेंगे। किन्तु प्रश्न यह है कि यह युक्ति कहां तक कारगर होगी? भारी तथा बड़े पैमाने के उद्योगों के द्रुत विकास के प्रभाव से ही कृषि के क्षेत्र में गतिरोध समाप्त हो जाएगा, यह आशा करना अधिक यथार्थपूर्ण नहीं है। यदि यह गतिरोध समाप्त न हो तो क्या होगा? तेजी से विकास कर रहे औद्योगिक क्षेत्र को, बढ़ती हुई शहरी आबादी के लिए अनाज और विस्तारशील निर्माण एककों के लिए कच्चे माल की आवश्यकता होगी। उन्नीसवीं शताब्दी में, कुछ औद्योगिक देश, विदेशों से बड़ी मात्रा में अनाज तथा कच्चे माल के आयात पर निर्भर कर सकते थे। किन्तु इस समय विकासशील देशों के लिए ऐसा कर पाना बहुत ही कठिन है क्योंकि बहुत-से देशों के पास बदले में देने के लिए कृषि की वस्तुओं के अलावा और चीजें नहीं हैं। विकास की ओर उन्मुख जिन देशों के उद्योग खाद्य और कच्चे माल की

आवश्यकता के लिए अपने देश की कृषि पर निर्भर करते है वे, उन देशों की अपेक्षा, उन कठिनाइयो का सही-सही निर्देश कर सकते हैं जो इन वस्तुओ की आवश्यकता को निर्बाध आयात द्वारा पूरा करते है। इस प्रकार हम अपने पहले प्रश्न पर लौट आते है जो यह है कि यदि भारी उद्योग, कृषि विकास की गति पर्याप्त रूप से तेज होने से पूर्व, आगे बढने का प्रयत्न करें तो क्या होगा ?

स्टालिन के काल मे सोवियत संघ मे जो आर्थिक विकास हुआ वह इस प्रश्न का अत्युत्तम उत्तर प्रस्तुत करता है। *1927--30 के* आसपास अपनाई गई विकास-नीति तथा इससे पूर्व उत्पन्न विवाद ऐसे अत्यन्त महत्वपूर्ण प्रश्नों पर प्रकाश डालते है जिनके कारण इस विषय पर कुछ विस्तार से विचार करना उचित है।

'युद्धकालीन साम्यवाद (1918--20)' की आर्थिक प्रणाली के रूप मे, एक मुख्य विशेषता यह थी कि इसने निजी व्यापार को समाप्त कर दिया था। 1921 मे लेनिन द्वारा शुरू की गई नयी आर्थिक नीति के अनुसार किसान को कृषि-कर अदा करने के बाद अपनी फालतू उपज को निर्बाध रूप से बेचने का अधिकार पुन प्राप्त हो गया। 1926 *तक कृषि तथा उद्योग दोनो में प्राय युद्ध से पूर्व के स्तर पर उत्पादन होने लगा था। किन्तु उस समय जो अनाज बाजार मे बेचा जाता था उसकी मात्रा युद्ध से पूर्व की औसत* मात्रा से कुछ कम थी। चूंकि क्रांति के तुरन्त पश्चात् जमींदारो को बेदखल कर दिया गया था और उनकी जमीनो को किसानो ने आपस मे बाट लिया था इसलिए ऐसे बडे खेतो की संख्या बहुत कम हो गई जो युद्ध से पूर्व बेचे जाने वाले फालतू माल का एक बहुत बडा हिस्सा मुहैया किया करते थे। किन्तु एक बात और थी जिसके कारण बाजार मे बिकने वाले अनाज की मात्रा मे वृद्धि नही की जा सकती थी।[1] अनाज तथा औद्योगिक उत्पादो के बीच प्रतिकूल विनिमय दर और ग्रामीण आबादी को मिलने वाले निर्मित उपभोक्ता माल की कमी ने किसान को बिक्री के लिए उत्पादन करने से रोका।

उत्पादन के युद्ध-पूर्व के सामान्य स्तर पर पहुंच जाने के पश्चात्, सोवियत नेता, औद्योगिक विकास की गति को, जिसमे भारी उद्योग पर विशेष जोर दिया जाना था, अत्यधिक तेज करना चाहते थे। किन्तु साथ-साथ कृषि उत्पादन मे वृद्धि किए बिना इस उद्देश्य की पूर्ति कैसे की जा सकती थी ? यह एक आधारभूत प्रश्न था जिसने सोवियत अर्थशास्त्रियों तथा नीति-निर्माताओ को 1920 की दशाब्दी के मध्य म परेशान रखा। 1925 मे गोसप्लान (राज्य योजना आयोग) को भावी पंचवर्षीय योजना पर कार्य शुरू करने के लिए अनुदेश प्राप्त हो चुके थे और इसी समय प्रथम वार्षिक नियत्रण आकडो का प्रारूप भी तैयार किया गया था। 1925--26 के नियत्रण आकडो के निर्माण मे जिन *रीतियो का प्रयोग किया गया था उनमे से एक* 'स्थिर तथा गत्यात्मक गुणाको (स्टेटिक

[1] *इस समय रूस मे, अधिकांश अल्प विकसित देशो की भांति, बुवाई वाली सारी भूमि के एक बडे भाग में, वस्तुत, 80 प्रतिशत से अधिक भूमि मे अनाज बोया जाता था।*

एण्ड डाइनेमिक कोएफीशियेन्ट)' की रीति थी। पिछले अनुभव के आधार पर सतुलन के सम्बन्धो के कुछ नियम बनाने के प्रयास किए गए। इस प्रसग मे विख्यात सोवियत अर्थशास्त्री ग्रोमन द्वारा प्रतिपादित 37/63 का सम्बन्ध, हमारे दृष्टिकोण से, विशेष दिलचस्पी का है। ग्रोमन ने पिछली प्रवृत्तियो के वाह्यकलन के आधार पर कहा कि सोवियत अर्थ व्यवस्था के सकट-रहित विकास के लिए आवश्यक है कि बेचे जाने वाले फालतू कृषि तथा औद्योगिक उत्पादो के बीच मूल्य-सम्बन्ध का अनुपात वही हो जिसकी चर्चा ऊपर की गई है। यद्यपि इस सम्बन्ध में मतभेद की गुजाइश थी तथापि यह बात सभी को स्पष्ट थी कि कृषि के लिए एक नयी कार्य प्रणाली अपनाए बिना औद्योगिक विकास की गति म निश्चयात्मक तेजी लाना सम्भव नही हो सकता। प्रश्न यह था कि यह कार्य प्रणाली क्या हो? उस समय आर्थिक नीति के सम्बन्ध म जो भारी वाद विवाद प्रारम्भ हुआ उससे सोवियत सघ के समक्ष कई विकल्प उभर कर आए। इसका बहुत विस्तृत महत्व था और वह आज भी अन्य देशो के लिए सगत है।

इस परिस्थिति म पार्टी के दो पक्षो म मतभेद था। बुखारिन और प्रेओब्राझेन्स्की ने दो अत्यधिक परस्पर विरोधी दृष्टिकोण प्रस्तुत किए। नवीन आर्थिक नीति के दौरान सोवियत सघ म कृषि के क्षेत्र म, वैयक्तिक खेती का बोलबाला रहा। वस्तुत, 1928 के अन्त तक जितने क्षेत्र म काश्त होती थी उसम से सामूहिक खेत तथा राज्य खेत दोनो मिला कर 3 प्रतिशत से कम थे। कम्युनिस्ट पार्टी सिद्धान्तत सामूहिक खेती के लिए वचनबद्ध थी किन्तु उस समय सामूहिक खेती को बढाने के लिए बल प्रयोग करने का कोई विचार नही था। इसी पृष्ठभूमि म आर्थिक नीति के सम्बन्ध मे वाद विवाद हुआ। बुखारिन ने कृषि विकास के मुख्य साधन के रूप म कृषि के वाणिज्यीकरण और बिक्री के लिए प्रोत्साहनो की सिफारिश की। यदि किसान अपनी फालतू उपज को उचित मूल्य पर बेच सके और उनके पास उसके बदले म अधिक निर्मित वस्तुए खरीदने की सामर्थ्य हो तो उन्हे और अधिक उत्पादन करने की प्रेरणा मिलेगी। वह इस नीति के विरुद्ध था कि किसानो को उस मूल्य से कम मूल्य पर अनाज देने के लिए विवश किया जाए जो कि सामान्यत उन्हे बाजार से मिल सकता है। वह अधिक मात्रा म निर्मित उपभोक्ता माल का आयात करने के पक्ष मे था यदि इन वस्तुओ के अभाव को दूर करने के लिए ऐसा करना आवश्यक हो, जिनके कारण ग्रामीण जनता पर विशेष रूप से आघात पहुचता हो। सक्षेप म वह किसानो के लिए, बाजार-प्रधान कृषि के माध्यम से, अमीर बनने का मार्ग खुला रखने के पक्ष मे था। कम्युनिस्ट पार्टी का सामूहिक खेती के लिए प्रचार का त्याग *नहीं करना चाहिए। किन्तु यह एक दूरस्थ उद्देश्य था। निकट भविष्य म, उन सहकारी* कार्यकलापो पर जोर दिया जाना चाहिए जो वस्तुओ के वितरण, जैसे कृषि उत्पादो की बिक्री, निर्मित वस्तुओ की खरीद और ऋण की पूर्ति मे सहायता दे। उसने लिखा,

> यह सही है कि हमें सभी सम्भव तरीकों से सामूहिक खेती का प्रचार करना चाहिए किन्तु यह कहना गलत होगा कि अधिकांश किसान मुख्य रूप से इसी माध्यम से समाजवाद की ओर अग्रसर होंगे। तब हम किसानों को अपनी समाजवादी प्रणाली की ओर कैसे आकृष्ट करना चाहिए ? इसका उपाय यह है कि यह रास्ता किसानों के लिए आर्थिक दृष्टि से आकर्षक हो। किसान को तुरन्त लाभ पहुचा कर ही सहकारिता उसके नजदीक पहुच सकेगी। यदि सहकारी संस्था ऋण देने वाली हो तो उसे कम ब्याज पर ऋण मिलेगा और यदि यह विपणन सहकारी संस्था हो तो वह अपनी उपज को अच्छे मूल्य पर बेच सकेगा।[1]

इस प्रकार, बुखारिन का विचार था कि कृषि मे सुधार के लिए सामूहिक खेती की तुरन्त आवश्यकता नहीं है। उसकी राय मे यह आवश्यक था कि कृषि उपज तथा औद्योगिक उत्पादों के बीच निर्बाध विनिमय हो, उचित मूल्य की एक नीति हो और सहकारी सेवाओं की व्यवस्था हो ताकि किसान, उत्पादन एकक के आकार मे कोई आमूल परिवर्तन होने से पहले, थोक बिक्री तथा खरीद का कुछ लाभ प्राप्त कर सके। कुछ अन्य व्यक्तियों ने, जिन्होंने उस दौरान सजीव चर्चा में भाग लिया था, कुछ पूरक विचार प्रस्तुत किए। उपभोक्ता वस्तुओं की कमी तथा भारी उद्योगों मे निवेश से होने वाले लाभ मे लगने वाले लंबे समय को ध्यान मे रखते हुए पी० पी० शासलोव जैसे कुछ व्यक्तियों ने कृषि के साथ उपभोक्ता उद्योगों को प्राथमिकता देने के लिए कहा।

बोलशेविक दृष्टिकोण से बुखारिन की बात मे एक महत्वपूर्ण कमी थी। यदि कृषि का वाणिज्यीकरण कर दिया जाए तो इससे अमीर किसानों को (या कुलकों को जैसा कि उन्हे अपमानजनक ढंग से कहा जाता था) दूसरो से पहले और अमीर बनने का अवसर मिलेगा। बुखारिन को भी एक बोलशेविक के नाते यह स्वीकार करना पड़ा कि उसका मन्तव्य यह नहीं था। किन्तु इससे उसका सारा दृष्टिकोण ही निरर्थक हो गया। दशाब्दी के उत्तरार्द्ध मे पार्टी ने नियमित रूप से अमीर किसानों के विरुद्ध कार्यवाही करनी शुरू कर दी। 'गरीब किसानों की सहायता और मध्यवर्ती किसानों के सहयोग से कुलकों के विरुद्ध लड़ो', यह उस समय का नारा बन गया और यह किसानों के प्रति पार्टी के राजनैतिक रवैये का द्योतक था। किन्तु इस नारे और बुखारिन के सिद्धान्त को साथ-साथ नहीं अपनाया जा सकता था क्योंकि ऐसी मिश्रित नीति का व्यावहारिक प्रभाव यह होता कि पहले तो मध्यवर्ती किसान को उत्पादन बढ़ाने और उसे बाजार मे बेच कर आर्थिक स्थिति को सुधारने को प्रोत्साहन मिलता और उसके बाद, यदि वह ऐसा करने मे सफल हो जाता तो नया कुलक कह कर उसकी निंदा की जाती।

1 देखिए, एलेक्जेंडर एरलिख, 'द सोवियत इण्डस्ट्रियलाइजेशन डिबेट, 1924–28' हार्वर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1960, पृ० 16

प्रेओब्राजेंस्की की उद्भावना सैद्धान्तिक रूप से अधिक आकर्षक थी। एक अच्छे मार्क्सवादी के रूप में उसने प्रारम्भिक चरण में पूंजीवाद और 1920 के बाद की दशाब्दी में सोवियत समाजवाद की तुलना की। पूंजीवाद ने 'आदि पूंजी संचय' के माध्यम से अपने विकास के लिए आधार तैयार किया। सोवियत संघ में, समाजवाद के सामने भी वही कठिनाई थी और उसके पास भी शुरू में पर्याप्त पूंजी का अभाव था और उसने भी इस समस्या पर 'आदि समाजवादी संचय' के माध्यम से काबू पाया। दोनों ही स्थितियों में, भावी विकास कृषि पर ही निर्भर था। प्रेओब्राजेन्स्की ने शोषण की परिभाषा सही मार्क्सवादी भावना से की और कहा कि शोषण असमान श्रम वाली वस्तुओं के विनिमय से उत्पन्न होता है। इसे और सरल ढंग से इस प्रकार कहा जा सकता है कि शोषण में विनिमय की शर्तें किसान को घाटा पहुंचाने वाली होंगी जिनके अनुसार उन्हें सस्ते भाव में बेचने और महंगे भाव में खरीदने के लिए विवश किया जाएगा। इसी तरीके से समाजवादी प्रणाली अपने शैशवकाल में द्रुत गति से विस्तार के लिए आधार के रूप में पूंजी का संचय कर सकती है। मजे की बात यह है कि बुखारिन की भांति प्रेओब्राजेंस्की किसानों के खिलाफ शक्ति का प्रयोग करने के विरुद्ध था। दोनों ही नवीन आर्थिक नीति की भावना से सहमत थे। इसके कारण प्रेओब्राजेंस्की की योजना को अमल में नहीं लाया जा सकता था। अनाज के वसूली मूल्य घोषित करना आसान था परन्तु वे इतने कम होते थे कि उनमें वस्तुतः किसानों का शोषण होता था। किन्तु यदि किसान इन मूल्यों पर बेचने से इन्कार कर दें तो क्या हो? 1926 में जब वसूली मूल्य कम कर दिए गए तो वास्तव में ऐसा ही हुआ था। किसानों ने प्रतिक्रिया स्वरूप अनाज अपने जानवरों को खिला दिया या जहां तक सम्भव था इसे गैर सरकारी सूत्रों को बेच दिया। इस स्थिति में विकल्प यह रह गया कि या तो अनाज के मूल्य बढ़ा दिए जाएं या बल का प्रयोग किया जाए।

स्टालिन ने बल-प्रयोग का मार्ग चुना। 1928 में प्रमुख रूप से यूराल और पश्चिमी साइबेरिया में सामूहिक खेती पर जोर दिए बिना जबरदस्ती वसूली के तरीके की आजमाइश की गई। जब इससे सरकार तथा अधिकांश कृषक समूह के बीच सम्बन्ध खराब हो गए तब 1929 के अन्त में बड़े पैमाने पर, सामूहिक खेती का निर्णय किया गया। 1930 के आरम्भ में जो आंदोलन पूरे जोर शोर के साथ शुरू किया गया था वह आगे चल कर अस्थायी रूप से धीमा पड़ गया और अगले वर्ष उसे पुनः आरम्भ किया गया। 1933 तक सारे कृषक परिवार में से लगभग 2/3 परिवार और खेती की जमीन का 5/6 सामूहिक खेती के अन्तर्गत आ गए। उपज के रूप में इस विशाल कार्यवाही का प्रभाव कुछ नहीं हुआ किन्तु इससे अनाज की कुछ वसूली में काफी वृद्धि हो गई। एलेक नोवे की पुस्तक एन इकनामिक हिस्ट्री आफ द यू० एस० एस० आर० से लिए गए निम्नलिखित आंकड़ों से स्थिति स्पष्ट हो जाती है[1]

1 एलेक नोवे तथा एलेन लेन 'एन इकनामिक हिस्ट्री आफ द यू० एस० एस० आर०', द पेंगुइन प्रेस, लदन, 1969 पृ० 180 186

	1928	1930	1931	1932	1933
अनाज की उपज, वास्तविक (लाख टन)	733	835	695	696	684
अनाज की वसूली (लाख टन)	108	221	228	185	226

वसूली मे यह वृद्धि, निस्सदेह, औद्योगिक श्रम बल के लिए भोजन उपलब्ध करने मे बहुत सहायक हुई। अनाज का कुछ हिस्सा निर्यात भी किया गया और उसकी सहायता से विदेशो से पूजीगत वस्तुए खरीदी गई। इस प्रकार, सोवियत सघ मे उद्योग तथा कृषि के बीच के 'विरोधाभास' को बल-प्रयोग द्वारा समाप्त कर दिया गया, जो उद्योग के हित मे था।

स्टालिन के इस तरीके से यह बात सामने आई कि कृषि के पिछडे रहने के बावजूद औद्योगिक प्रगति प्राप्त की जा सकती है। औद्योगिक विकास को अनायास तेज करने के लिए अनाज की उपज मे वृद्धि आवश्यक नही वरन् परम आवश्यक यह है कि बढते हुए औद्योगिक केन्द्रो के लिए 'फालतू' अनाज की मात्रा मे काफी वृद्धि हो। कम से कम सोवियत सघ के नये सस्थागत ढाचे के अन्तर्गत इस फालतू मात्रा को प्राप्त करना सम्भव था जब कि कृषि की उपज मे वस्तुत लगभग एक पीढी के लिए गतिरोध बना रहा। इस प्रकार वे सिद्धान्तवादी, जो कहते थे कि त्वरित औद्योगीकरण से पहले कृषि मे सुधार होना आवश्यक है, गलत सिद्ध हुए। सचाई यह है कि यह कथन कई शर्तों के साथ बधा हुआ है। इस बात को याद रखा जाए कि रूसी कृषि मे कुछ प्रगति प्रथम विश्वयुद्ध से पहले हो चुकी थी। 1896 से 1900 और 1911 मे 1915 के बीच के पन्द्रह वर्षों मे मुख्य फसलो (गेहू, राई, जई, जौ) के कुल उत्पादन मे एक-तिहाई से अधिक की वृद्धि हो गई थी।[1] यहा तक कि 1861 तथा उन्नीसवी शताब्दी के अन्त तक की अवधि के बीच इसमे दो-तिहाई से अधिक की वृद्धि हो गई थी। खाद्य उत्पादन मे यह वृद्धि पहले ही न हो गई होती तो सोवियत रूस सम्भवत उस गति से आगे नही बढ सकता था जिस गति से वह 1930 के बाद के कुछ वर्षो मे आगे बढा। इतने पर भी, स्टालिन के युग मे रूस मे कृषि की जो स्थिति थी वह स्टालिन की मृत्यु के बहुत बाद तक भी कठिनाई उत्पन्न करती रही।

स्टालिन की युक्ति सोवियत सघ के लिए सर्वोत्तम थी या नही, यह कहना सरल नही परतु यह कहा जा सकता है कि यह सभी जगहो पर लागू नही होती। बहुत-से देशो के लिए इस तरीके से चलने मे बहुत अधिक जोखिम होगे और ऊपर बताए गए ढग

1 देखिए इकनामिक डवलपमेंट एण्ड कल्चरल चेंज मे रेमण्ड डब्ल्यू० गोल्डस्मिथ का लेख, 'द इकनामिक ग्रोथ आफ जारिस्ट रशिया 1860-1913', शिकागो, अप्रैल, 1961.

से चलना राजनैतिक दृष्टि से सम्भव नही होगा। 1913 मे रूस की प्रति व्यक्ति अनाज की जो उपज थी वह मोटे तौर पर 1961 मे भारत की उपज से लगभग तीन गुना अधिक थी। 1931–32 के आसपास रूस को जिस प्रकार की विनाशकारी उथल-पुथल म से गुजरना पडा उस प्रकार की उथल पुथल को झेल पाने की क्षमता भारत मे नही है। स्टालिन सामूहिक खेती को जबर्दस्ती लागू करने के तनावो के दौर मे देश मे एकता बनाए रखने मे सफल रहा परतु हो सकता है कि अन्य देश के सत्तारूढ राजनैतिक दल के लिए ऐसा कर पाना सम्भव न हो। रूस मे विद्यमान परिस्थितियो मे स्टालिन का उपाय सफल रहा, किन्तु यह निश्चित नही है कि अन्य परिस्थितियो मे भी वैसा करना सम्भव होगा और इस बात का तो कोई प्रमाण नही कि यह उपाय सर्वोत्तम है। इस कारण अन्य उपायो और रास्तो की खोज आवश्यक हो जाती है।

सोवियत सघ मे स्टालिन की असतुलित उन्नति की योजना के अधीन उद्योग तथा कृषि के बीच व्यापार की शर्तें जान बूझ कर ऐसी रखी गई थी जो कृषि के प्रतिकूल थी। पडोस म ही स्वीडन मे इस समस्या के प्रति एक बिल्कुल भिन्न दृष्टिकोण अपनाया गया है। यहा इस विचार को ध्यान मे रखा गया है कि किसान और औद्योगिक कर्मकार के बीच समानता बनाई रखी जाए। आइए हम इस प्रकार की प्रणाली के अधीन मूल्य नियतन के मूलभूत सिद्धान्तो पर ध्यान दें। किसानो की सहकारी सस्थाओ के सहयोग से सरकार द्वारा कृषि मल्य इस प्रकार नियत किए जाते है कि एक ईमानदार और कुशल किसान लगभग उतना ही कमा सकता है जितना कि एक औसत औद्योगिक कर्मकार कमाता है। यदि कृषि मूल्य बहुत अधिक निर्धारित किए जाएगे तो इससे अकुशलता बढेगी और प्राथमिक से माध्यमिक क्षत्र म श्रमिको के सामान्य दीर्घकालीन स्थानातरण म रुकावट पैदा होगी और यदि उन्हे बहुत नीचे स्तर पर नियत कर दिया जाएगा तो यह किसानो के साथ भेद भाव होगा। मूल्य की स्थिति की समय समय पर जाच की जाती है और नय साल के आरम्भ मे उपर वर्णित सिद्धान्तो के आधार पर मूल्य फिर से निर्धारित किए जाते हैं और इस प्रकार यह सुनिश्चित हो जाता है कि 'आधारभूत' प्रकार के खेत म काश्त करने वाला किसान एक सामान्य वर्ष से अपने काम से उतनी आय प्राप्त कर लगा जितनी औद्योगिक कमकार को होती है। यहा यह भी बता दिया जाए कि स्वीडन म अब तक अधिकाश कृषि म किसान मालिको द्वारा खेती की जाती है और पारिवारिक खेती स्वीडन की कृषि का सवमान्य आदर्श है।

आइए हम एक अधिक जटिल स्थिति मे मूल्य सम्बन्धी नीति पर विचार करे। दूसरे विश्वयुद्ध के अन्त मे जापान को एक विशेष रूप से कठिन समस्या का सामना करना पडा। यद्यपि युद्ध का अन्त होते होते सभी क्षेत्रो मे उत्पादिता गिर गई थी तथापि शहरा मे उत्पादन की सुविधाओ के काफी मात्रा मे नष्ट हो जाने के परिणामस्वरूप कृषि की तुलना मे वस्तुओ का निर्माण करने वाले उद्योगो को और भी अधिक हानि हुई। इस प्रकार, देश को एक अस्वाभाविक स्थिति का सामना करना पडा

जिसमे लोग तथा ससाधन शहरी क्षेत्र से ग्रामीण क्षेत्र मे जाने लगे। इन परिस्थितियों मे आर्थिक दृष्टि से जापान के सामने दो काम थे। एक ओर यह आवश्यक था कि कृषि का उत्पादन बढाया जाए किन्तु दूसरी ओर मूल्य इस प्रकार नियत किए जाए जिससे श्रम बल फिर से उद्योगों की ओर प्रवृत्त हो। इस प्रयोजन के लिए अपनाई गई नीति की कुछ विशेषताएं थी। खाद्यान्न के मूल्य, आयात के द्वारा अधिकतम सरकारी मूल्य नियत करने के लिए एक विशेष समानता सूत्र के प्रयोग के द्वारा कम रखे गए थे। 1934–36 की अवधि को, जब अनाज के मूल्य अपेक्षाकृत कम थे, समानता की गणना करने के लिए आधार के रूप मे लिया गया था। इसके साथ ही कृषि के लिए उर्वरक तथा कृषि उपकरण जैसे मुख्य पदार्थों का उत्पादन करने वाले उद्योगों को भारी राज-सहायता दी गई। इसका दोहरा प्रभाव हुआ। एक ओर तो किसानो को इनका मूल्य कम होने के कारण अधिक उपयोग करने के लिए प्रोत्साहन मिला। जो किसान सुधार मे अधिक रुचि रखते थे उन्हे अधिक लाभ हुआ। इसके साथ ही इन पदार्थों की बिक्री बढ जाने से उद्योग इनका उत्पादन बड़े पैमाने पर करने के योग्य हो गए और इसलिए इनका उत्पादन अधिक लाभप्रद हो गया। युद्ध के बाद, गत के वर्षों मे कृषि के साथ-साथ उद्योग के सतुलित विकास के लिए यह जापान की आर्थिक नीति का प्रमुख अग बन गया। 1950 के बाद की दशाब्दी के आरम्भ मे कृषि तथा औद्योगिक उत्पादन युद्ध से पूर्व के सामान्य स्तर से कही आगे निकल गया था।

हमने सतुलित विकास से सम्बन्धित एक बहुत सामान्य समस्या के अग के रूप मे कृषि मूल्य नीति के प्रश्न पर विचार-विमर्श किया है। क्या किसी देश के लिए, कृषि को पीछे छोडकर, औद्योगिक प्रगति करना सम्भव है? यदि हम रूस की औद्योगिक प्रगति की शुरुआत प्रथम विश्वयुद्ध से पहले की मानें, जैसा कि रोस्टोव मानता है, तो इस दौरान कृषि में उन्नति हुई हालांकि वह बहुत ज्यादा नही थी। यदि, दूसरी ओर, हम रूस की अर्थ-व्यवस्था की शुरुआत को स्तालिन के युग से मानें तो यह बात खास तौर से सामने आती है कि इन वर्षों मे अनाज की उपज मे कोई महत्वपूर्ण वृद्धि नही हुई। 1928–30 के वर्षों मे अनाज की वार्षिक औसतन उपज 760 लाख टन रही, 1913 मे, जो खास तौर पर एक अच्छा वर्ष था, 800 लाख टन अनाज की उपज होने का अनुमान है, 1950 में यह उपज 810 लाख टन थी। किन्तु रूस एक अपवाद है। इसकी तुलना मे अमरीका, जर्मनी और जापान जैसे अनेक उदाहरण दिए जा सकते है जहा द्रुत औद्योगीकरण के साथ अनाज की उपज मे भी काफी वृद्धि हुई। कुछ मामलो मे तो इसका मुख्य कारण यह था कि भूमि की प्रति एकड उपज मे वृद्धि हो गई थी, अन्य मामलो मे इसका मुख्य कारण यह था कि अधिक भूमि म खेती होने लगी थी। जर्मनी म, गेहू की पैदावार 1878–82 की अवधि म प्रति हैक्टर औसत 13 00 डाब्लजेंटनर से बढकर 1908–12 के दौरान 20·7 डाब्लजेंटनर हो गई थी। इस प्रकार तीस वर्ष की अवधि मे उत्पादिता मे साठ प्रतिशत की वृद्धि हो गई। अमरीका मे, 1865–75 मे औसतन 200 लाख एकड से कुछ अधिक

भूमि में गेहूं की खेती होती थी और 1916--25 में यह क्षेत्र बढ़ कर औसतन 580 लाख एकड से कुछ अधिक हो गया।

जापान का मामला विशेष रूप से शिक्षाप्रद है, और हम इस पर विस्तार से गौर करना चाहते है। 'द रोल आफ एग्रीकल्चर इन माडर्न जेपनीज इकनामिक डेवलपमेंट' लेख मे काजुगी ओहकावा और हेनरी रोसोवस्की ने निम्नलिखित आकडे दिए है जिनसे इस शताब्दी के अन्त के आसपास अर्थात् जिस दौरान जापान ने प्रगति के रास्ते पर कदम रखा, उनके कृषि उत्पादन का सकेत मिलता है[1] :

वर्ष	चावल की पैदावार (बुशल हेक्टर)	सामान्य कृषि उत्पादन सूचकाक
1878–82	59 72	100
1893 97	67 36	129
1913-17	89 68	198

जापान के लिए, इस अवधि मे, काफी मात्रा मे अनाज के आयात का सहारा लिए बिना द्रुत गति से औद्योगीकरण करना सम्भव था। आइए, हम कृषि तथा कृषि से इतर क्षेत्र के बीच व्यापार की शर्तों पर भी विचार करे। कृषि से इतर वस्तुओ के मूल्य सूचकाक/कृषि वस्तुओं के मूल्य सूचकाक का जो अनुपात 1878--82 की आधार अवधि मे 100 था वह 1888-92 में पुन 100, 1903--07 मे 95 और 1913–17 मे 106 हो गया। यदि अल्पावधि के परिवर्तनों को छोड दिया जाए तो इस अवधि के दौरान व्यापार की शर्तें कृषि के प्रतिकूल नहीं थी। ऐसी प्रवृत्ति बाद मे, विशेष रूप से 'महान मंदी' के दौरान जरूर देखने मे आई, किन्तु वह समस्या ही दूसरे प्रकार की थी। विकास की दिशा मे अग्रसर होने के समय जापानी अर्थ व्यवस्था मे कृषि तथा अन्य क्षेत्रो के सतुलित विकास की ओर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है।

सोवियत सघ की भांति जापान मे भी कृषि 'पूजी सचय' का एक मुख्य स्रोत था। जापान मे, कृषि उत्पादिता मे अधिक निश्चयात्मक सुधार के द्वारा यह काम और आसान हो गया था। पूजी निर्माण मे दो तरीको से योगदान मिला एक तो किसानों के पास बची रकम, लाभ तथा बचत, जो उल्लेखनीय रूप से बहुत अधिक थी, उद्योगो मे लगाने के लिए उपलब्ध हुई और दूसरे, सरकार ने आर्थिक दृष्टि से बहुत रचनात्मकरुख अख्तियार किया, उसे अपने राजस्व का अधिकाश भाग भूमि कर से प्राप्त होता था। जिस प्रकार के आकडे उपलब्ध है उनके आधार पर यह अनुमान लगाना कठिन है कि कृषि से कुल कितनी प्रगति हुई परतु एक रिपोर्ट के निम्नलिखित उद्धरण से सामान्य

1 देखिए, 'इकनामिक डेवलपमेंट एण्ड कल्चरल चेंज', शिकागो विश्वविद्यालय, अक्तूबर, 1960

विकास प्रक्रिया में जापानी कृषि की भूमिका का कुछ अनुमान लगाया जा सकता है।

> जापान में 1888–92 से 1918–22 तक की अवधि के दौरान कृषि से होने वाली बचत ने कृषि के लिए आवश्यक धन ही नहीं जुटाया बल्कि इस बचत का अधिकांश भाग कृषि के अलावा अन्य क्षेत्रों को भी उपलब्ध किया। समूची अवधि के औसत को ध्यान में रखा जाए तो, कृषि से बचत की दर कृषि आय की 12 प्रतिशत थी किन्तु कृषि में निवेश की दर केवल तीन प्रतिशत थी। इस प्रकार, कृषि की बचत का 9 प्रतिशत बच रहा जो कृषि के अलावा अन्य क्षेत्रों में लगाने को भी उपलब्ध था। कृषि क्षेत्र ने, अन्य क्षेत्रों की तुलना में सरकारी राजस्व में योगदान भी अधिक किया और इस प्रकार काफी अनुपात में सरकारी निवेश के लिए धन जुटाया।[1]

कृषि से इतर निवेश के लिए कितनी कृषि-बचत उपलब्ध हुई इस विषय में मतभेद होगा, परन्तु जापान में कृषि-बचत की दर बहुत अधिक थी। इस विषय में कोई सदेह नहीं हो सकता। ऐसी स्थिति अंशत जापान की ग्रामीण जनता की सामान्यत मितव्ययी आदतों के कारण थी (और अब भी है)। उत्पादिता में अविरत सुधार के साथ साथ मितव्ययिता के कारण बचत की दर अधिक हो गई और बनी रही।

कृषि उत्पादिता को बढाने के लिए जो युक्तियां उपयोगी पाई गई है उनके बारे में अब सक्षेप में चर्चा की जा सकती है। उद्योग की भांति, कृषि उत्पादन में लबे अरसे तक प्रगति उत्पादन के तरीको में निरन्तर सुधार करते रहने से ही हो सकती है। इसके कई अर्थ है। इसका अर्थ यह है कि सर्वप्रथम कृषि अनुसधान पर अधिक ध्यान दिया जाए। इसके बाद ऐसी व्यवस्था करना आवश्यक है जिसके द्वारा उन लोगो को वैज्ञानिक जानकारी प्राप्त होती रहे जो खेती का काम करते हैं। अन्त में कृषको को इस प्रकार का प्रोत्साहन देना चाहिए जिससे वे नई रीतियो को अपनाने में धन लगाए। वैसे तो सभी क्षेत्रों में तकनीकी सुधार करने के लिए सामान्यत ये बातें होनी चाहिए परतु कृषि की बात है तो विशेष प्रकार की समस्याए आ खडी होती है। इसका कारण यह है कि ग्रामीण समुदाय गरीब तथा अधिक रूढिवादी होता है। रूढिवादिता के कारण व्यक्ति नई प्रक्रियाओं के लाभ को स्पष्ट रूप में नहीं देख पाता, और गरीब लोगों से जोखिम उठाने की आशा नहीं की जा सकती क्योंकि उन्हें आय की हानि का, उन लोगों की तुलना में अधिक ख्याल होता है जिनके पास निर्वाह के पर्याप्त साधन होते हैं। इसी कारण कृषि के गतिरोध को तोडना किसी अर्थ व्यवस्था को अविरत उन्नति के लिए तैयार करने के काम का प्राय बहुत कठिन भाग होता है।

किसानों पर यह भरोसा नहीं किया जा सकता कि वे आवश्यक पैमाने पर कृषि

1 'इकनामिक सर्वे आफ एशिया एण्ड फार ईस्ट 1964', सयुक्त राष्ट्र, पृ० 55

सम्बन्धी अनुसंधान करेंगे। प्रायः यह उनके बूते से बाहर होता है। इसके अलावा, क्योंकि सफल अनुसंधान का लाभ सभी को उपलब्ध होता है, इसलिए यह उचित ही है कि ऐसे अनुसंधान का दायित्व समाज पर या समाज के प्रतिनिधि के रूप में सरकार पर हो। परम्परा कृषि सम्बन्धी अनुसंधान के मार्ग में और अड़चनें उत्पन्न करती है। पारम्परिक शिक्षा प्रणाली में 'बेकन से पूर्व के विचारों' का बोलबाला है। इस सम्बन्ध में विचारों को बदलने और व्यावहारिक दृष्टिकोण से शिक्षा प्रणाली का कायाकल्प करने के लिए काफी प्रयास करना पड़ता है।

इन सभी कठिनाइयों तथा उन पर काबू पाने के उपाय अमरीका के अनुभव से, विशेष रूप से उन्नीसवीं शताब्दी की अन्तिम दशाब्दियों के दौरान, देखे जा सकते हैं। मारिल एक्ट, जिस पर राष्ट्रपति लिंकन ने 1862 में हस्ताक्षर किए थे, इसके इतिहास में एक युगान्तरकारी घटना है। सेनेटर मोरिल चिंतित थे कि अमरीका योरप में होने वाली सर्वोत्तम काश्तकारी से बहुत पिछड़ा हुआ था। उन्होंने इस बात की निन्दा की कि उनके देश में ऐसी शिक्षा प्रणाली है जिसमें प्राचीन साहित्य के अध्ययन पर बहुत जोर दिया जाता है और इसको उच्च शिक्षण संस्थाएं विधि, चिकित्सा, धर्मविद्या और धर्मोपदेश जैसे विषयों पर ध्यान देती हैं। शिक्षा के नवीकरण की बहुत आवश्यकता अनुभव की गई। मोरिल एक्ट ने 'भूमि अनुदान' कालेजों की नींव रखी। इस एक्ट के अधीन राज्यों को संघीय भूमि दी जाती थी जिसकी बिक्री से प्राप्त होने वाली राशि कम से कम एक ऐसा कालेज स्थापित करने के लिए प्रयोग में लाई जा सकती है जिसका मुख्य उद्देश्य, वैज्ञानिक तथा प्राचीन साहित्य के अध्ययन को छोड़े बिना, ज्ञान की उन शाखाओं की शिक्षा देना हो जिनका सम्बन्ध कृषि तथा मेकेनिक कलाओं से हो। इसके बाद और विधान बने। इनमें राज्य कृषि प्रयोग केन्द्र और कृषि विस्तार सेवा केन्द्र स्थापित करने में सहायता मिली। समय पाकर भूमि अनुदान कालेज, जिनमें से अधिकांश का नाम अब कृषि विश्वविद्यालय हो गया है, प्रयोग केन्द्र और विस्तार सेवा केन्द्र निकट सहयोग में कार्य करने लगे। इस प्रकार, ये एक-दूसरे से सम्बन्धित ऐसी संस्थाएं हैं जो अमरीकी कृषि की सेवा में लगी हुई हैं।

कृषि अनुसंधान तथा प्रयोग केन्द्र अपने आप कृषि विकास की गारंटी नहीं दे सकते। भारत में प्रायोगिक फार्म (उदाहरणार्थ सेहदपेट प्रायोगिक फार्म) सरकार द्वारा पिछली शताब्दी की छठी तथा सातवीं दशाब्दी में ही शुरू किए गए थे। 1905 में लार्ड कर्जन ने अधिक ठोस आधार पर इम्पीरियल एग्रीकल्चरल रिसर्च इंस्टीट्यूट की स्थापना की। बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में भारत के लोग, कम से कम ग्रामीण विकास के विचारशील तथा निर्माणशील नेता, विस्तार सेवाओं और सामुदायिक विकास से अपरिचित नहीं थे। इसी कार्य-पद्धति के अनुसार 1920 के बाद की दशाब्दी में कुछ उल्लेखनीय कार्य शुरू किया गया था। वर्धा जिले में सेवाग्राम स्थित गांधी जी का संगठन, श्री निकेतन में टैगोर का कार्य, गुड़गांव जिले (पंजाब) में ब्रेयन का विस्तार-

सम्बन्धी कार्यक्रम और बड़ौदा के सयाजीराव तृतीय द्वारा स्थापित किए गए पुनर्निर्माण केन्द्र ऐसे कार्यों के विशिष्ट उदाहरण हैं। फिर भी बीसवीं शताब्दी के पहले पचास वर्षों मे भारतीय कृषि मे, विशेष रूप से खाद्यान्न के उत्पादन मे, स्पष्टतः गतिरोध बना रहा। निश्चय ही, 'वाणिज्यिक फसलों' की उपज मे काफी वृद्धि हुई, किन्तु ये फसलें खेती के अन्तर्गत जमीन के मुश्किल से पाचवें भाग मे थी। यह स्थिति जापान की स्थिति से बहुत ही विपरीत है। आधुनिक जापान मे राज्य सचालित कृषि अनुसधान मोटे तौर पर उसी समय आरम्भ हुआ था जिस समय कि भारत मे हुआ था। इम्पीरियल एग्रीकल्चरल रिसर्च स्टेशन 1893 मे स्थायी आधार पर स्थापित किया गया था किन्तु कृषि उपज मे वृद्धि के रूप मे कृषि अनुसधान के व्यावहारिक परिणाम जितने जापान मे प्रभावकारी थे उतने ही भारत मे निराशाजनक थे। इस विषमता की व्याख्या कैसे की जाए ?

दोनों देशों के बीच जो एक महत्वपूर्ण अन्तर है वह शिक्षा के प्रति सरकारी नीति मे है। मेजी पुनःस्थापन के पश्चात् जापान सरकार ने समूची जनता के लिए शिक्षा की व्यवस्था करने में एक उल्लेखनीय भूमिका भी निभाई। अप्रैल, 1868 में युवक शहशाह ने सौगध खाई कि वह अपना शासन पाच महान सिद्धान्तो के आधार पर चलाएगे। उनमे से एक सिद्धान्त यह था कि बुद्धि तथा ज्ञान की खोज ससार के कोने-कोने मे की जानी चाहिए। अन्य देशो मे शिक्षा प्रणालियो का अध्ययन करने के लिए शिक्षाविदो को विदेश भेजा गया और वे अमरीका के कुछ राज्यो, विशेष कर मसेच्युसेट्स और कनेक्टीकट मे प्राथमिक शिक्षा और जर्मनी मे उच्चतर शिक्षा की व्यवस्था से विशेष रूप से प्रभावित हुए। शीघ्र ही प्राथमिक शिक्षा को अनिवार्य बना दिया गया और बीसवी शताब्दी के शुरू होते ही निरक्षरता का वस्तुत उन्मूलन कर दिया गया। इस प्रकार एशिया में जापान पहला देश बना जिसके किसान पढे-लिखे थे। भारत मे सरकार ने जनसाधारण की साक्षरता को लक्ष्य नही बनाया। यहा सरकार मध्य वर्ग का एक अंग्रेजी पढा लिखा समुदाय चाहती थी। 1947 मे जब अंग्रेज भारत छोड कर चले गए तब प्रत्येक आठ मे से सात भारतीय पढना लिखना नही जानते थे। भारत को प्रायः पूर्णत निरक्षर ग्रामीण जनता के साथ सघर्ष करना पडा।

इस पर भी नवीन ज्ञान ऊपर से छन कर नीचे आ सकता था यदि भारत में ऐसा । और अपक्षाकृत समृद्ध मध्य वर्ग होता जिसकी कृषि मे सक्रिय रुचि होती। न्त, भारत म दूरस्थ' जमीदारो का एक वर्ग पैदा हो गया जो जमीन खरीदते चने थे और लगान वसूल करते थे किन्तु धरती की उत्पादक शक्ति बढाने मे ी कोई रुचि नही थी। हमने औपनिवेशिक परिवेश म इस मध्य वर्ग के स्वरूप के बारे मे पहले चर्चा की थी। जापान मे स्थिति बिल्कुल भिन्न थी। मेजी पुन स्थापन के पश्चात् बहुत से 'सामुराई' ने, जो जापान के पारम्परिक समाज मे एक सैनिक तबका है, नेतृत्व अपने हाथ मे ले लिया जो कि राष्ट्र के समक्ष उपस्थित नये कार्यों के उपयुक्त था। उन्होंने व्यापार तथा प्रशासन में अपना स्थान बना लिया। उनमें से बहुत-से विमान तथा

शिल्पी बन गए। किसानों तथा व्यापारियों की नैतिकता में, बताया जाता है, एक नई आत्मा, सामुराई आत्मा फूंकी गई। कातायामा सेन ने अपनी आत्मकथा में लिखा

> बहुत से सामुराई परिवार प्रत्येक गांव में किसानों के बीच रहने के लिए आए इस मिश्रित रहन सहन से किसानों का शांत जीवन विक्षुब्ध हो गया। किन्तु हम इस तथ्य की उपेक्षा नहीं कर सकते कि सामुराई लोगों का शिक्षा के क्षेत्र में भी अच्छा प्रभाव था सभी आयु के इतने सामुराई परिवारों के हमारे समाज में आ जाने से विभिन्न प्रकार का ज्ञान प्राप्त करने में हमें बहुत सहायता मिली। विशेष रूप से बहुत-से युवक किसानों को जो उनके सम्पर्क में थे प्रेरणा तथा भारी जागरूकता मिली।[1]

जापान शीघ्र ही बहुत से अपेक्षाकृत छोटे किन्तु सुधारप्रिय जमींदारों का देश बन गया। इन जमींदारों में जो बड़े थे वे भी अन्य देशों की अपेक्षा छोटे थे। किन्तु उनकी अधिक रुचि प्रायः वाणिज्य खनन और वस्तु निर्माण में होती थी। इस प्रकार जापानी जमींदारों ने मेजी काल के आरम्भ में कृषि में सुधार के साथ साथ पूंजी के संचरण के लिए स्वस्थ स्थिति उत्पन्न करने में सहायता की। इस दृष्टि से वे भारत के अनेक भागों के जमींदारों से बिल्कुल भिन्न थे। जैसा कि ओहकावा तथा रोसोवस्की ने एक लेख में, जिसमें से हम पहले उद्धरण दे चुके हैं विचार प्रकट किया है (जापान में) अधिकांश जमींदार ग्रामीण क्षेत्रों में रहते थे और विशेष स्थानीय परिस्थितियों के अनुरूप नये तरीके शुरू करने में अग्रणी थे।

जापान एक ऐसा देश है जहां कृषि के लिए छोटे छोटे खेत हैं। इसी आधार पर उसने कृषि के क्षेत्र में उल्लेखनीय प्रगति की। इन खेतों में से अधिकांश का क्षेत्रफल युद्ध से पहले और युद्ध के बाद आर्थिक समुत्थान की अवधि में 3 चो (लगभग 7.4 एकड़) से कम था। यह तो अच्छा हुआ कि औद्योगीकरण असामान्य शीघ्रता से हुआ है जिससे अब भूमि पर आबादी का बोझ कम हो रहा है और इसलिए, आशा की जाती है कि खेतों के औसत आकार में कुछ वृद्धि होगी। ऐतिहासिक दृष्टि से देखा जाए तो छोटे पैमाने की खेती ही जरूरत को पूरा करने की स्थिति में होती है जो जापान के अनुभव की उल्लेखनीय बात है। इस विषय में थोड़ा और विचार विमर्श करना उपयुक्त ही है। एक आम भ्रम पाया जाता है जिसमें वैज्ञानिक खेती और यन्त्रीकृत तथा बड़े पैमाने की खेती को एक ही तरह का समझ लिया जाता है। यह भ्रम कई गलत धारणाओं के कारण उत्पन्न हुआ है। अमरीका में औसत खेत बड़े आकार के होते हैं। जिस प्रकार के ट्रैक्टरों का प्रयोग अमरीका में (या इसी तरह सोवियत संघ में) किया जाता है वे छोटे से खेतों के लिए बिल्कुल अनुपयुक्त होंगे। एक आम धारणा के अनुसार ट्रैक्टर कृषि के क्षेत्र में आधुनिक विज्ञान

1 देखिए आउटलाइन्स आफ जपनीज हिस्ट्री इन द मेजी एरा, सम्पा० एफ० जिजारो, तोक्यो 1958

और टेक्नालाजी का शानदार सबूत है। वास्तव में, ट्रेक्टर विशेष रूप से उन देशों में उपयोगी होते हैं जहां आबादी का घनत्व कम हो, जहां श्रम के उपयोग में मितव्ययिता करना आवश्यक हो। किन्तु भूमि की उत्पादिता में अधिकतम वृद्धि उर्वरकों, सिंचाई, विशेष प्रकार के बीजों, कीटनाशी दवाओं आदि का उचित प्रयोग करके ही लाई जाती है। घनी आबादी वाले देश में, जहां भूमि के प्रयोग में किफायत करने की बहुत आवश्यकता होती है, काश्तकारों के लिए विज्ञान की, वनस्पति विज्ञान, जीव विज्ञान और रसायन शास्त्र जैसी शाखाएं विशेष रूप से महत्वपूर्ण होती हैं। अच्छे बीजों या उर्वरकों का प्रयोग छोटे खेतों में भी अच्छी तरह से किया जा सकता है। बड़े सरकारी फार्म सामान्यतः बहुत कुशल सिद्ध नहीं हुए। यह कोई अचम्भे की बात नहीं है। कृषि में उद्योग की तुलना में श्रम के विभाजन की गुंजाइश बहुत कम होती है। अतः कृषि पर विचार करते समय उद्योग की बातों पर विचार करने की आदत बिल्कुल गलत है। कृषि तथा पशुओं की एक प्रकार के व्यक्तिगत स्नेह की तथा देखभाल की आवश्यकता होती है जो छोटे खेतों में आसानी से सम्भव है। अन्ततः, किसी बड़े खेत की तुलना में किसी यन्त्रीकृत कारखाने में व्यक्ति के काम का आकलन करना सरल है। इसके कारण एक बड़े सामूहिक या सरकारी फार्म में वैयक्तिक प्रोत्साहनों की एक उचित प्रणाली चलाना कठिन हो जाता है।

इस विषय के सम्बन्ध में संस्थापक अर्थशास्त्रियों के विचार काफी स्पष्ट थे। कम से कम, एडम स्मिथ और जान स्टुअर्ट मिल के विचार तो स्पष्ट थे ही। स्मिथ ने लिखा

> एक छोटा मालिक, जो अपने खेत के चप्पे चप्पे से परिचित होता है, जो उसके प्रति स्नेह रखता है, स्वभावतः वह सम्पत्ति, विशेष रूप से छोटी सम्पत्ति, उसे प्रेरणा देती है, और जो इस पर खेती करने में ही नहीं बल्कि उसे संवारने में भी आनन्द लेता है, सामान्यतः खेती में सुधार करने वालों में अधिक परिश्रमी, अधिक बुद्धिमान और अधिक सफल होता है।[1]

इस विषय में मिल के विवेचन के कुछ पहलू और भी गहन हैं। 'प्रिंसिपल्स आफ पोलिटिकल इकनामी' (*खण्ड 1 अध्याय 9*) में *उसने बताया कि बड़े पैमाने के उत्पादन के लाभ* उद्योग की भांति कृषि में उतने स्पष्ट नहीं है। उसने लिखा कि उत्पादन के प्रश्न के रूप में कृषि में बड़े पैमाने की श्रेष्ठता इतनी स्पष्ट सुस्थापित नहीं होती जितनी कि वस्तु निर्माण उद्योग में।' उसने आगे व्याख्या की कि श्रम विभाजन के दृष्टिकोण से, किसी बड़े खेत में काम करने के लिए बहुत से श्रमिकों को एकत्र करने से उतना अधिक लाभ *नहीं होता जितना कि उनको अनेक छोटे खेतों में वितरण करने से होता है। उसने लिखा* है कि 'एक ही खेत में हल चलाने या खुदाई करने या बुवाई करने के लिए बहुत-से लोगों

1 एडम स्मिथ, द वेल्थ आफ नेशन्स एवीमैंस लाइब्रेरी, लंदन खण्ड 1, पृ० 370

को एक साथ लगा देने का कोई विशेष लाभ नहीं होता · एक ही परिवार सामान्यत. इन प्रयोजनो के लिए आवश्यक श्रम उपलब्ध कर सकता है।' पारिवारिक खेती के पक्ष में इतना कुछ कहने के बाद उसने आगे चलकर बडे विचारपूर्वक कुछ सीमाए बाधी। अगर खेत छोटे हो तो 'परीक्षण करने के लिए उनमे साधनो की कमी होती है।' इसका अर्थ यह हुआ कि छोटे पैमाने की खेती को लोक निकायो द्वारा किए जाने वाले अनुसधान और चलाए जाने वाले प्रायोगिक फार्मों का लाभ प्राप्त होना चाहिए। सामाजिक पूजी की व्यवस्था करने मे सहकारी निकायो तथा सरकार को एक भूमिका निभानी होती है। मिल ने लिखा है, 'इस प्रकार के प्रयोजनो के लिए व्यवस्थित रूप से सुधार करने हेतु देश के बडे भागो मे एक साथ होने वाले कार्य (जैसे जल निकासी या सिंचाई के बड़े-बड़े कार्य), *अथवा छोटे छोटे जमीदारो का प्रायः मे मिल जाना कोई नयी बात नही है।'*[1] कृषि मे सामाजिक ऊपरी पूजी की व्यवस्था छोटे मालिको के साधनो पर नही छोड देनी चाहिए। ऐसे प्रयोजनो के लिए सामूहिक रूप से निर्णय करना और काम करना उपयोगी हो सकता है।

कृषि सम्बन्धी समुन्नति के दृष्टिकोण से, खेत के आकार पर अधिक ध्यान देना एक गलती प्रतीत होता है। अन्य बातो पर ध्यान देने की प्राय अधिक आवश्यकता है। जैसा कि डब्ल्यू० ए० लेविस ने ठीक ही सकेत किया है, 'अल्प विकसित देशो म कृषि की द्रुत उन्नति का राज, खेत के आकार मे परिवर्तन करने की अपेक्षा कृषि के विस्तार मे, उर्वरको मे, नये बीजो मे, कीटनाशी दवाओ मे और सिंचाई मे अधिक निहित होता है।'[2] जहा खेत छोटे ही नही बल्कि दूर-दूर टुकडो मे फैले होते हैं, वहा कुछ चकबदी करने का प्रयास उपयोगी हो सकता है। इसके अलावा जो लोग कृषि से रोजी कमाते हैं और इसको सवारते हैं उनके लिए प्रोत्साहनो और मुनासिब सुरक्षा की व्यवस्था महत्वपूर्ण होती है। जहा भूधृति की प्रणाली ऐसी हो कि वास्तविक काश्तकार के श्रम-फल का उसके परिश्रम तथा पूजी-निवेश से सम्बन्ध न हो या बहुत थोडा सम्बन्ध हो वहा इस प्रणाली को बदलना महत्वपूर्ण है।

ऐसी बहुत सी मिसालें मिलती है जिनमे काश्तकार वस्तुत भूमि के साथ बधे रहते हैं और उन्हे विवश होकर बेगार करनी पडती है। उदाहरणार्थ, मैक्सिको मे 1910 से पूर्व यही स्थिति थी। 1910 की क्राति से स्थिति मे परिवर्तन आया। गुलामी मे जकडा *श्रमिक अब मुक्त श्रमिक बन गया। ग्रामीण समुदाय के स्वामित्व वाली ऐसी भूमि* (एजिडो) जिसे खेतो मे विभाजित करके व्यक्तिगत रूप मे खेती की जा सकती थी या जो समाज द्वारा सामूहिक काश्त के लिए रखी जा सकती थी, उसके लिए भी क्राति

1 जान स्टुअर्ट मिल, 'प्रिंसिपल्स आफ पोलिटिकल इकनामी', सम्पा० जे० एम० रावसन, टोरोंटो विश्वविद्यालय, खण्ड 2, पृ० 142, 143, 147

2 डब्ल्यू० ए० लेविस, 'द थ्योरी आफ इकनामिक ग्रोथ', एलेन एण्ड अनविन, लदन, 1955, पृ० 136

हितकर सिद्ध हुई। 1936 के पश्चात् व्यक्तिगत स्वामित्व वाली कुछ बड़ी जमीनों से ग्रामीण समुदाय के स्वामित्व वाले सामूहिक खेत बनाने के लिए विशेष प्रयास किए गए। इस प्रकार सामुदायिक खतो का प्रबन्ध अपेक्षाकृत अच्छा था। किन्तु किसान सामान्यतः व्यक्तिगत खेती वाली भूमि को पसन्द करते थे। इस प्रकार 1950 मे ग्रामीण समुदाय की जमीनो मे से बट कर अलग-अलग व्यक्तियों के पास जो खेती हो गई (83 लाख हेक्टर) वह सामुदायिक खेती के अन्तर्गत खती (3 लाख हेक्टर) से कई गुना अधिक थी।[1]

दूसरे विश्वयुद्ध के पश्चात् जापान मे और ताइवान मे काश्तकार को जमीन का मालिक बना कर अच्छे परिणाम निकले हैं किन्तु ऐसा करना सदैव सरल नही होता। बड़े-बड़े जमीदार प्राय विधि-निर्माताओ को प्रभावित कर सकते है, घूस दे सकते है और प्रशासन की उपेक्षा कर सकते है और गरीब काश्तकारो को प्रभावी विरोध करने से रोक सकते है। जमीदारी के उन्मूलन के लिए *विधान बनाने के परिणामस्वरूप कई बार पट्टेदारी खत्म हो जाती है जैसा कि भारत के कुछ भागो मे हुआ है। पट्टेदारी को छद्म रूप से जीवित रखने की अपेक्षा इसे मान्यता देना और इसकी शर्तों मे सुधार करना अच्छा है।* गरीब ग्रामीणो के लिए सामाजिक सुरक्षा के प्रश्न पर भी ध्यान देना चाहिए। भूमि को लेकर जमीदार और काश्तकार के बीच जो सम्बन्ध होते हैं उनके अन्तर्गत दोनो तरफ कुछ दायित्व तो प्रकट होते है और कुछ अप्रकट जिसमे शक्तिशाली पक्ष अर्थात् जमीदार को भाक प्रकार की सेवाए प्राप्त करने का अधिकार है और दुर्बल वर्ग अर्थात् काश्तकार को जिन दिनो खेती कम हो अथवा हालात खराब हो कुछ सहारा मिल जाता है। जब ये सम्बन्ध 'आधुनिकीकृत' हो जाते है तब ग्रामीण समुदाय के गरीब लोगो को परम्परा या प्राचीन प्रथाओ से जो सुरक्षा मिल रही होती है वे उससे वचित हो जाते हैं। विकास के सम्बन्ध मे जो ठोस नीति होगी उसमे इस पहलू को भी ध्यान मे अवश्य रखना होगा क्योंकि इस प्रकार की न्यूनतम सामाजिक सुरक्षा और मेल-मिलाप आर्थिक वृद्धि के लिए परम आवश्यक है।

कुछ उत्तरदायित्व ऐसे होते है जो *स्थानीय समुदाय के जिम्मे होते हैं* और तदनुरूप कुछ अधिकार होते है जो उन्हे मिले होने चाहिए। यद्यपि कतिपय परिस्थितियो म पारिवारिक खेती अच्छी थी तथापि सभी प्रयोजनो के लिए पारिवारिक खेती पर्याप्त नही है, इसमे सहकारी सस्थाओ तथा अन्य लोक निकायो के सहयोग का समावेश होना चाहिए। इसका अभिप्राय यह है कि भूमि पर निजी सपत्ति के अधिकारो को इन अन्य निकायों के अधिकारो के साथ समायोजित और उनके द्वारा सीमित करना होता है। क्यूरेतारो, मैक्सिको, मे 1917 मे स्वीकृत एक नये सविधान मे निम्नलिखित घोषणा की गई थी (अनुच्छेद 27).

1. 'इकनामिक डवलपमेंट एनालिसिस एण्ड केस स्टडीज़, सम्पा० ए० पेपनासिस, एल० मियर्स और आई० एडलमॅन, हार्पर एण्ड ब्रदर्स न्यूयार्क, 1961, पृ० 345

> राष्ट्रीय राज्य क्षेत्र की सीमाओं के अन्तर्गत भूमि और जल ससाधनों पर मूलतः राष्ट्र का स्वामित्व होता है। उसे इसका स्वामित्व अलग-अलग व्यक्तियों को देने का अधिकार या और है, इससे भूमि निजी सपत्ति बन जाती है। राष्ट्र को सदैव निजी सपत्ति पर ऐसी सीमाए लगाने का अधिकार होगा जो लोकहित के लिए आवश्यक हों।[1]

सिद्धान्त रूप म यह निरपवाद है, सिवाय इसके कि चूकि 'राष्ट्र' अपनी उद्घोषणाए सरकारों के माध्यम से करता है जो प्राय. बदलती रहती है, इसलिए ऐसी व्यवस्था करना आवश्यक है कि इसके द्वारा विहित सीमाए भी बार-बार परिवर्तित न हों ताकि वे अनिश्चितता का कारण न बने जो कि हानिकारक हो सकती है।

लेविस का जो उद्धरण ऊपर दिया गया है उसकी सत्यता का प्रमाण 1960 के बाद की दशाब्दी के उत्तरार्द्ध में 'हरित क्रांति' के अनुभव द्वारा पर्याप्त रूप से मिल जाता है। उन वर्षों मे खाद्य उत्पादन म जो पर्याप्त वृद्धि हुई वह बडे पैमाने पर पुनर्गठन अथवा खेतो के आकार मे परिवर्तन करने के कारण नही हुई। 'हरित क्रांति' हर प्रकार से यह निश्चित करती है कि कृषि सम्बन्धी अनुसधान का बहुत महत्व है। हम भारत को ही लें। 1963 में भारत ने अपने यहा मैक्सिको के बोनी किस्म के गेहू की सम्भावनाओं मे रुचि दिखाई। डा० नार्मन ई० बोरलाग के मार्ग दर्शन में सोनारा 64 और लरमा राहो सहित गेहू की कुछ किस्मे प्रयोग के लिए चुनी गई। शुरू मे परिणाम आशा के अनुरूप नही थे किन्तु भारत सरकार अपने वनस्पति वैज्ञानिको की सहायता से इस पर अनुसधान कराती रही। 1960 के बाद की दशाब्दी के अन्त तक पजाब तथा अन्य स्थानों के कुछ अच्छे किसानों ने गेहू की उपज मे नियत रूप से काफी वृद्धि प्राप्त करनी शुरू कर दी जिससे उत्पादिता में क्राति आ गई। किन्तु इसका अभिप्राय यह नही कि सभी समस्याए हल हो गई। नई रीति समुन्नत बीजों, सिचाई, उर्वरकों, कीटनाशी दवाओं, आदि के एक खास मेल पर निर्भर करती है। काफी विस्तृत क्षेत्र में जहा सिंचाई की व्यवस्था अपर्याप्त है, कोई विशेष सफलता प्राप्त नही हुई है। कृषि वैज्ञानिको के लिए यह एक प्रमुख समस्या है। यह दिलचस्पी की बात है कि एक क्षेत्र मे किए जाने वाले नये नये काम अन्य दिशाओं में भी नयी-नयी प्रक्रियाए अपनाने के लिए चुनौती प्रस्तुत करते हैं। गेहू की उपज मे उल्लेखनीय वृद्धि और चावल की उपज मे कुछ कम वृद्धि के साथ-साथ अन्य प्रकार के खाद्यान्नो में उसी प्रकार की वृद्धि न होने के कारण इन खाद्यान्नो मे, परस्पर मूल्यों का जो अनुपात है वह बदल जाता है और इससे आम आदमी का भोजन असतुलित हो जाता है। कृषि के ऐसे नये तरीके अभी नही निकले है जिनसे खाद्यान्नो, कद वाली फसलों, फलो और सब्जियों की उपज मे उल्लेखनीय वृद्धि होने की सम्भावना हो। अन्तिम

1 'द मैक्मिकन ईयर बुक 1920-21', सम्पा० रावर्ट जी० क्लीवेंड, लास एजल्स, 1922, पृ० 120

बात यह है कि हाल के वर्षों में उपज में जो पर्याप्त वृद्धि हुई है उससे ग्रामीण जनता के केवल एक वर्ग को ही लाभ पहुंचा है। देश के कुछ भागों में अमीरों तथा गरीबों के बीच आय की विषमताएं बढ़ गई प्रतीत होती हैं। आगे चल कर निश्चय ही स्थिति भिन्न होगी। कृषि की उत्पादिता में वृद्धि से अमीर किसान और अमीर ही नहीं हो जाएंगे बल्कि गरीब किसान और गरीब हो जाएंगे। फिर भी, 'हरित क्रांति' ने अपने तरीके से कृषि सम्बन्धी नीति के लिए सामाजिक तथा प्रौद्योगिक आधार में परिवर्तन कर दिया है।

9

आर्थिक विकास की युक्तियां—II

पूजी निर्माण और औद्योगिक स्थान निर्धारण

इस अध्याय म हम पूजी निर्माण की कुछ समस्याओ पर समय और स्थान के विचार से चर्चा करेंगे। एक प्रकार से आर्थिक उन्नति के कारण ही धन तथा पूजी के अन्तर का हम बोध हुआ। वाणिज्य के विकास के साथ धन तथा स्टाक के बीच अन्तर किया गया। स्टाक धन का वह भाग है जिसका प्रयोग व्यापार मे इस आशा से किया जाता है कि उससे निश्चयात्मक आय होगी अर्थात स्टाक करने से खर्चा काटकर कुछ और अधिक राशि प्राप्त हो सकेगी। चूकि आशा का सम्बन्ध भविष्य म उत्पन्न होने वाली किसी स्थिति से है इसलिए पूजी मे समय का आयाम निहित है। मूत रूप मे इसका कोई स्थान भी होना चाहिए। किन्तु यह मूलता पूजी का ही विशष लक्षण नही है क्योकि भूमि तथा श्रम का भी किसी स्थान मे विद्यमान होना अपेक्षित है। अत अथशास्त्रियो ने पूजी के प्राय अन्य पहलुओ को छोड कर इसके समय वाले पहलू पर विशेष ध्यान दिया है। पूजी के सिद्धान्त इसी आधार पर प्रतिपादित किए गए है। पूजी के अमूत पक्ष ने कई प्रकार से इसके विश्लेषण मे सहायता दी है। किन्तु यह स्वीकार करना होगा कि पूजी के क्षत्रपरक तथा स्थानपरक वितरण का एक अपना महत्व है, और पूजी के समय वाले पक्ष को अधिक एव उसके स्थान वाले पक्ष को गौण समझ कर विचार करने से कभी कभी हमारे निष्कष गलत रहे हैं किन्तु हम इस विषय पर बाद म विचार करगे।

विकास के सिद्धान्त मे पूजी मूलत उत्पादक क्षमता है अथवा दूसरे शब्दो मे यह उत्पादन का एक उत्पादित साधन है। किन्तु जब गणनाकार पूजी के स्टाक को मापने का प्रयत्न करत हैं तब उनके सामने कुछ कठिनाइया आ जाती है। यह निणय करना ही आसान नही है कि पूजी के अन्तगत क्या सम्मिलित किया जाए और क्या न किया जाए। जब यौरप के लोग अमरीका मे बसने के लिए आए तब जगला का साफ करने बस्ती बनाने के लिए जमीन तैयार करने तथा मकान और सडकें वगैरह बनाने मे काफी श्रम करना पडा था। जाहिर है कि इस प्रकार के काय से जमीन की उत्पादक क्षमता म वृद्धि हो गई। यह श्रम सीधा किया गया था जिसका कोई बाजार मूल्य निर्धारित नही था न ही अमरीकी इतिहास के लिए यह कोई निराली बात थी। अनेक अल्प विकसित देशा

में, पूंजी निर्माण का कतिपय भाग, जैसे कि ग्रामीण क्षेत्रों में भूमि तथा भवन निर्माण सम्बन्धी सुधार, ऐसे निवेशों से प्राप्त होता है जिनमें सीधे मुद्रा नहीं लगाई जाती। इस प्रकार के श्रम के मूल्य का अनुमान लगाने का कोई स्पष्ट आधार न होने के कारण गणनाकारों को इसमें से काफी कुछ को अपनी गणना में से प्राय: छोड़ देना पड़ता है। एक और प्रश्न है कि लोगों की शिक्षा तथा प्रशिक्षण, वैज्ञानिक अनुसंधान और चिकित्सा सेवाओं पर होने वाले व्यय का क्या हो? इसमें संदेह नहीं कि इन सब से समाज की उत्पादक क्षमता बढ़ती है। लगभग दो शताब्दी पहले एडम स्मिथ ने सुझाव दिया कि अचल पूंजी की परिभाषा काफी विस्तृत होनी चाहिए जिससे कि शिक्षा के परिणामस्वरूप अर्जित उपयोगी योग्यताएं इसके अन्तर्गत आ जाएं। किन्तु गणनाकारों ने कई व्यावहारिक कठिनाइयों के कारण हमेशा से इन्हें इसमें सम्मिलित नहीं किया। इसके प्रतिकूल उन्होंने रिहायशी इमारतों को पूंजी के अन्तर्गत शामिल कर लिया है, जिसका कारण शायद यह है कि किराया पूंजीकरण के लिए अपेक्षाकृत सरल आधार प्रस्तुत करता है हालांकि इमारतों का उत्पादक क्षमता के साथ उतना मजबूत रिश्ता नहीं है जितना कि शिक्षा का है। सोवियत संघ में, गृह-निर्माण की उपेक्षा की गई थी किन्तु शिक्षा, प्रशिक्षण और अनुसंधान पर खूब ध्यान दिया गया था। यहां पर कम से कम यह तर्क दिया जा सकता है कि श्रम की उत्पादिता तथा राष्ट्रीय उत्पादन को तेजी से बढ़ाने के लिए यह एक ठोस युक्ति थी।

यदि हम पूंजी के कुल स्टाक को एक विशिष्ट अवधि के या मान लीजिए एक वर्ष की अवधि के कुल उत्पादन से भाग दे तो हमें औसत पूंजी उत्पादन अनुपात (एवरेज कैपिटल आउटपुट रेशियो) का पता लग जाता है। इस प्रकार, पूंजी उत्पादन का अनुपात एक अवधि से सम्बद्ध है। यदि हम एक वर्ष के बजाय तीन महीने की अवधि ले तो तदनुसार यह अनुपात अधिक हो जाएगा। सीमान्त पूंजी-उत्पादन अनुपात का अनुमान लगाना भी सम्भव है। इसके लिए हमें एक अवधि से अगली अवधि में स्टाक पूंजी में होने वाली वृद्धि तथा उसके अनुरूप उत्पादन में होने वाली वृद्धि का अनुमान लगाना होता है और उसके बाद स्टाक पूंजी की वृद्धि को उत्पादन की वृद्धि से भाग दिया जाता है। यह बात स्पष्ट रूप से समझने की है कि सीमान्त पूंजी उत्पादन अनुपात और पूंजी की सीमान्त कार्यकुशलता (या उत्पादिता) एक ही चीज नहीं है। जैसे-जैसे हम एक अवधि से दूसरी अवधि में पहुंचते हैं वैसे वैसे न केवल पूंजी के स्टाक में परिवर्तन होता है बल्कि अन्य उपादानों की पूर्ति में भी परिवर्तन होने की बहुत सम्भावना होती है, और इसलिए, कुल उत्पादन में परिवर्तन का कारण केवल पूंजी की पूर्ति में परिवर्तन को ही नहीं माना जा सकता। पूंजी की सीमान्त उत्पादिता का आकलन करने में इस कुल उत्पादन में पूंजी के योगदान को अन्य सभी उपादानों के योगदान से अलग करने का प्रयत्न करते हैं। किन्तु सीमान्त पूंजी-उत्पादन अनुपात का आकलन करते समय हम पूंजी के स्टाक तथा कुल उत्पादन में वृद्धि को ही ध्यान में रखते हैं और उनको आपस में भाग दे देते हैं।

विभिन्न क्षेत्रों में पूंजी-उत्पादन के अनुपात, आशा के अनुरूप भिन्न भिन्न होने

हैं। समूची अर्थ-व्यवस्था के पूजी उत्पादन के औसत अनुपात मे समय के साथ परिवर्तन भी हो सकता है। इसकी व्याख्या के लिए एक सरल-सा उदाहरण लिया जाए। अमरीका मे निवल अचल पूजी और निवल राष्ट्रीय उत्पादन के बीच अनुपात, 1930 तथा 1940 के वर्षों मे क्रमशः 2 81 और 2 10 आका गया था। इस अन्तर की आसानी मे व्याख्या की जा सकती है। 1930 मे उच्चतर पूजी गुणाक के अधिक होने का कारण व्यापार मे मदी था जिसकी वजह से उस समय अमरीकी अर्थ-व्यवस्था को धक्का पहुचा था और जिससे अनेक उद्यमी को विवश होकर अपने उत्पादन को बहुत घटा देना पडा था। 1940 मे पूजी गुणाक के कम होने का कारण यह था कि उस समय आर्थिक गतिविधिया फिर उभरने लगी थी तथा कारखानों की क्षमता का पूरा पूरा उपयोग होने लगा था। यहा यह भी बता देना जरूरी है कि समय-समय पर आने वाले उतार-चढावो को छोड कर अमरीकी अर्थ व्यवस्था का पूजी-उत्पादन अनुपात काफी स्थिर था, अर्थात इस शताब्दी के पहले पचास वर्षो मे इसने वृद्धि या कमी की तरफ कोई उल्लेखनीय दीर्घकालीन प्रवृत्ति प्रकट नही की।

पूजी-उत्पादन अनुपात की विचारधारा का विकास सम्बन्धी सिद्धान्त मे महत्त्व-पूर्ण उपयोग है। हैरोड-डोमर का विवेचन इसकी उपयोगिता का एक उदाहरण है। हैरोड और डोमर ने अविरत उन्नति की परिस्थितियो का सरल रूप से वर्णन किया है। मान लीजिए कि 'K' पूजी-उत्पादन का अनुपात है। दूसरे शब्दो मे, पूजी की एक इकाई 1 (समय की एक इकाई मे) '1 K' इकाई उत्पादन की क्षमता आती है। मान लीजिए 'S' बचत की प्रवृत्ति का द्योतक है, दूसरे शब्दो मे यह, बचत और उत्पादन (आय) के अनुपात को व्यक्त करता है। इस प्रकार, पूजी की इकाई उत्पादन मे '1 K' इकाई की वृद्धि कर सकती है, जिसका मतलब यह हुआ कि 'S/K' इकाई की बचत भी होगी। इस प्रकार पूजी के स्टाक मे 'S/K' की दर से वृद्धि होती है। चूकि पूजी-उत्पादन का अनुपात निश्चित है इसलिए उत्पादन मे भी उसी दर से वृद्धि होती है। साफ तौर से कहा जाए तो यह वाछित वृद्धि की दर है। आशय यह है कि यदि वृद्धि की इस दर की आशा के आधार पर निवेश की योजना बनाई जाए तो वृद्धि की यही दर वस्तुत प्राप्त होगी। आशा और वास्तविक उपलब्धि के बीच इस एकता के परिणामस्वरूप ही अविरत वृद्धि होगी। यदि उत्पादन की वृद्धि की भिन्न दर की आशा हो तो वास्तविक दर, प्रत्याशित वाछित दर दोनो से भिन्न होगी और इससे अस्थिरता उत्पन्न हो जाएगी।

बाजार अर्थ-व्यवस्था की अस्थिरता के विश्लेषण मे इस सरल विवेचन की उपयोगिता की यहा प्रासगिकता नही है। किन्तु G—S/K सूत्र ने सुनियोजित रूप से निवेश करने के लिए एक अच्छा आधार प्रस्तुत किया है। यहा पर 'G' उत्पादन या राष्ट्रीय आय की वृद्धि की दर का द्योतक है। यदि हम प्रति व्यक्ति आय की वृद्धि की दर के लिए सूत्र बनाना चाहते हैं तो समीकरण मे केवल थोडी-सी फेर-बदल करनी पड़ेगी। अगर हम S/K मे से जनसख्या की वृद्धि की दर को घटा दें तो हमे मुनासिब तौर से

प्रति व्यक्ति आय की वृद्धि का ठीक-ठीक पता चल जाएगा। मान लीजिए जनसंख्या मे दो प्रतिशत प्रति वर्ष की दर से वृद्धि हो रही है और योजना मे प्रति व्यक्ति आय मे तीन प्रतिशत की वृद्धि का लक्ष्य रखा गया है। यदि पूजी-उत्पादन का अनुपात 3 मान लिया जाए तो राष्ट्रीय आय मे से 15 प्रतिशत के वार्षिक निवेश के लिए योजना बनाने की आवश्यकता होती है। ऊपर प्रस्तुत किए गए विवेचन का यही मतलब है। एक विकल्प यह है कि हम बचत की वास्तविक दर के अनुमान से कार्य आरम्भ कर सकते हैं और यदि हमें पूजी-उत्पादन के अनुपात का भी पता हो तो हम यह पता लगा सकते हैं कि इसके आधार पर राष्ट्रीय आय की वृद्धि की दर क्या हो सकती है। हम इस दर की तुलना राष्ट्रीय आय की वाछित दर से कर सकते है और यह जान सकते है कि निर्धारित लक्ष्यों को पूरा करने के लिए कितनी कमी रह गई है।

यह सब कुछ एक सीमा तक उपयोगी है। किन्तु वृद्धि की समस्या के प्रति यह दृष्टिकोण भ्रामक हो सकता है और वहरहाल इसमे कोई प्रगति नही होती। $G=S/K$ बहुत कुछ परम्परागत द्रव्य के परिमाण सिद्धान्त की पुनरुक्ति है। परिमाण सिद्धान्त के मामले मे, अव्यक्त रुप से प्राय यह मान लिया जाता था कि मुद्रा-परिचलन का वेग स्थिर है और इसलिए मूल्य-स्तर सीधे मुद्रा-परिमाण के अनुपात मे होता है। ऊपर वर्णित वृद्धि के *समीकरण मे माना गया है कि पूजी-उत्पादन का अनुपात स्थिर है* और इसलिए केवल बचत या निवेश की दर पर ध्यान देने की आवश्यकता है। हैरोड के प्रति न्यायसगत रहते हुए यह कहा जा सकता है कि हैरोड जानता था कि औद्योगिक रूप से पिछडे हुए क्षेत्र म आर्थिक विकास की नीति के लिए यह अवधारणा अनुचित होगी।

ऊपर के विवेचन के अनुसार राष्ट्रीय आय की वृद्धि की दर पूंजी के स्टाक का एक सरल कार्य है। बचत तथा निवेश की दर मे असीमित वृद्धि करके आर्थिक विकास की दर मे असीमित वृद्धि की जा सकती है। बचत का अर्थ है वर्तमान उपभोग को रोक *दिया जाए। अत मुख्य प्रश्न यह हो जाता है कि वर्तमान तथा भावी उपभोग मे से कौन* ज्यादा अच्छा है। वर्तमान और भविष्य के बराबर उपभोग मे से लोग, वर्तमान मे जो उपभोग हो सकता है उसको अधिक महत्व देते हैं क्योंकि भविष्य मे क्या होगा इसका किसी को क्या पता है। ऐसी बात नही है कि भौतिक अनिश्चितताओ के कारण ही भावी उपभोग को कम महत्व दिया जाता है बल्कि उसका कारण यह है कि भविष्य की आवश्यकताओं का उतनी तीव्रता के साथ अनुभव नही किया जा सकता जितनी तीव्रता के साथ आज की आवश्यकता को किया जा सकता है। इसके परिणामस्वरूप भविष्य के प्रति *न्यूनानुमान की भावना आती है। यद्यपि एक व्यक्ति के लिए यह बात सामान्य है* तथापि समूचे समाज के दृष्टिकोण से युक्तिसगत नही है जब कि कुल मिलाकर समाज एक शाश्वत *वस्तु है। इस प्रकार के विचार की शुरुआत एफ० पी० रेमजे द्वारा 1928* मे प्रकाशित एक प्रसिद्ध लेख मे की गई थी ('द इकनामिक जर्नल', दिसम्बर, 1928)। हाल मे इसमें पुन दिलचस्पी पैदा हो गई है। बाजार अर्थ-व्यवस्था मे, किसी परियोजना मे रुपया

लगाने से पहले यह देखा जाता था कि जो रुपया लगाया जा रहा है उस पर चालू ब्याज की दर से ब्याज लगाने के बाद मुनाफा होना चाहिए। परंतु पूरी दूरदर्शिता से देखा जाए तो भविष्य भी वर्तमान की भांति बिल्कुल वास्तविक बन जाएगा और भविष्य के लिए अधिक निवेश करना भी उपयुक्त प्रतीत होगा। इस प्रकार आय की वृद्धि की दर वर्तमान वृद्धि की दर से अधिक हो जाएगी। उपभोग को 'निर्वाह' के स्तर तक सीमित करके जो बच रहे उसे आगे उत्पादन में लगा देना सर्वोत्तम हो सकता है क्योंकि भविष्य में यह एक निश्चित लाभ के साथ प्राप्त होगा। इस तर्क के साथ ही यह बात स्वीकार करनी होगी कि भविष्य के लिए हम जितना अधिक रखेंगे, उतनी ही उसकी सीमान्त उपयोगिता कम हो जाएगी और इसलिए, वर्तमान उपभोग की मांग भी अपेक्षाकृत अधिक होगी। तिस पर भी, चिन्तन की जो धारा हमने यहां प्रस्तुत की है उसने आर्थिक उन्नति के हित में बचत तथा निवेश की दर में काफी वृद्धि करने का प्रतिपादन किया है।[1]

किन्तु बचत तथा निवेश की ऊंची दर को एक सीमा के बाद पूंजी-उत्पादन अनुपात में तेजी से होने वाली वृद्धि के साथ सम्बद्ध किया जा सकता है। उन्नति की सीमा क्या हो वह केवल इस बात पर ही निर्भर नहीं होता कि निवेश के लिए कितना बाकी बच जाता है। आइए, हम इस प्रश्न पर एक दूसरे पहलू से विचार करें : प्रश्न यह है कि श्रम की उत्पादिता कितनी तेजी से बढ़ाई जा सकती है? यह पूंजी निर्माण की दर पर ही निर्भर नहीं करता। यह सम्बन्धित समाज के नये ज्ञान को ग्रहण करने तथा उसे प्रभावी रूप में लागू करने, संगठन के नये रूपों को अपनाने, अधिक इंजीनियर, प्रबंधक आदि पैदा करने की क्षमता पर भी निर्भर करता है। हैरोड के शब्दों में

> हाल की एक रचना का निहितार्थ यह है कि आय में वृद्धि मुख्यतः इस बात पर निर्भर करती है कि समाज किस सीमा तक भावी उपभोग के लिए वर्तमान उपभोग का त्याग करने को तैयार है। यह भी कहा गया है कि वर्तमान के उपभोग का त्याग करने की पर्याप्त शक्ति हो तो उत्पादन को बहुत ऊंचा ले जाकर प्रगति की दर को जितनी तेजी से चाहो बढ़ाया जा सकता है। जैसे ही हम यह मान लेते हैं कि उपभोग में वृद्धि उस हिसाब से हो रही है जिस हिसाब से पूंजी से इतर उपादानों में वृद्धि हो रही है, वैसे ही यह ज्ञात हो जाता है कि रैमजे के बताए हल में एक आयाम का अभाव है।

हैरोड ने आगे लिखा है :

> मैं यह मानता हूं कि निवेश की इष्टतम दर अर्थ-व्यवस्था के विकास की

---

1 इस आधार पर सिफारिश की गई बचत की दरों के बारे में कुछ जानकारी के लिए पाठक दिसम्बर, 1956 के 'इकनामिक जर्नल में' टिनबर्गन के लेख 'द आप्टीमम रेट आफ सेविंग' का देख सकते हैं। टिनबर्गन ने पूंजी के स्टाक में वृद्धि के साथ साथ 'ज्ञान तथा संगठन की वृद्धि' के महत्व पर जोर दिया है।

> सम्भाव्यता पर निर्भर है··· । विकासशील देशों में यह मुख्यतः उस दर पर निर्भर करता है जिस दर से उद्यमकर्ताओं, उत्पादन इंजीनियरों, प्रबंधकों के वर्गों को ··बढ़ाया जा सकता है।[1]

बचत की इष्टतम दर का सिद्धान्त हमें बताता है कि बचत की दर को बढ़ाना अच्छा होगा। वह हमें यह नहीं बताता कि इसे कैसे बढ़ाया जाए। पूंजी निर्माण की विभिन्न रीतियों का समाज की उत्पादक क्षमता पर भिन्न-भिन्न प्रभाव पड़ता है। अतः समाधान जुटाने, सम्भाव्य अधिशेष का उपयोग करने, साख का निर्माण करने और कराधान के ऐसे उपाय ढूंढ निकालने का बहुत ही व्यावहारिक महत्व है जिनसे सबसे अधिक आर्थिक उन्नति हो। इनमें से कुछ प्रश्न ऐसे हैं जो हमारे अध्ययन के क्षेत्र से बाहर है। हम इन पर यत्किंचित् विचार करेंगे किन्तु उसमें पहले हमें भिन्न प्रकार की समस्याओं पर विचार करना है जैसे किसी स्थान विशेष में आर्थिक गतिविधियों के संगठन की समस्याएं हैं।

सर्वप्रथम हम एल्फ्रेड वेबर और उसके अनुयायियों द्वारा प्रतिपादित औद्योगिक स्थान निर्धारण के सिद्धान्त के बारे में कुछ साधारण सी बातों की चर्चा करेंगे। परिवहन की लागत को कम से कम रखने के विचार का इस सिद्धान्त में महत्वपूर्ण स्थान है। यह विचार 'भार-क्षति' सिद्धान्त से सम्बन्धित है। इस सिद्धान्त को सामान्य शब्दों में सूत्र-बद्ध करने का प्रयास करने से पूर्व हम इसको सोदाहरण स्पष्ट करते है। हम कृषि उपज साफ करके तैयार करने के कुछ मामले ले सकते हैं। जब सोयाबीन से कच्चा तेल निकाला जाता है तब स्वाभाविक रूप से तेल का भार उन सोयाबीनों से काफी कम होता है जिनमें से तेल निकाला जाता है। वस्तुतः, यह अनुमान लगाया गया है कि जापान में 85 से 90 प्रतिशत वजन तैयार करते समय कम हो जाता है और ऊपर हमने जो उदाहरण लिया है इसमें यह कोई अजीब बात नहीं है। जब गन्ने से चीनी बनाई जाती है तब इतने ही अनुपात में वजन कम हो जाता है। अनेक अल्प विकसित देशों में धान की कुटाई एक प्रमुख उद्योग है और इसमें भार की क्षति अनुपात में इतनी अधिक नहीं होती किन्तु फिर भी काफी होती है। हम इसका सामान्यीकरण करके कह सकते है कि कृषि उपज को साफ करके तैयार करने में भार की क्षति एक सामान्य सी बात है हालांकि भार की क्षति का अनुपात किसी वस्तु में कम और किसी वस्तु में अधिक होता है। खनिजों को साफ करके तैयार करने के सम्बन्ध में भी यही बात सही है। स्पष्ट है कि जब लौह खनिज या तांबे के खनिज से लोहा या तांबा बनाया जाता है तब काफी भार की क्षति हो जाती है। अब हम सामान्यीकरण के एक भिन्न स्तर की ओर आते हैं। निर्माण की विधि को कई अवस्थाओं में विभाजित किया जा सकता है। प्रारम्भिक अवस्थाओं में कुछ आवश्यक या अधिक महत्वपूर्ण तत्वों को अन्य तत्वों की मिलावट से अलग किया जाता है। किसी चीज से किसी वस्तु को निकालने तथा शुद्ध करने के इस कार्य से आकार तथा भार में कमी हो

1 इण्टरनेशनल ट्रेड थ्योरी इन ए डवलपिंग कण्ट्री, सम्पा० राय हैरोड, सहयोगी डगलस हैग, मैकमिलन, लंदन, 1963, पृ० 113–14.

जाती है। बाद की अवस्थाओं में आधी साफ अथवा साफ सामग्री को और साफ करके तैयार किया जाता है और उसे उपयोगी रूप तथा आकार दिया जाता है। उदाहरणार्थ, इमारती लकड़ी का उपयोग फर्नीचर बनाने के लिए किया जा सकता है या लोहे तथा इस्पात से मशीनें बनाई जा सकती हैं। लकड़ी या लोहे से जो चीजें तैयार होंगी उनका आकार फैल जाएगा, हालांकि भार में वृद्धि नहीं होगी। उदाहरणार्थ, फर्नीचर तथा मशीनें इमारती लकड़ी या इस्पात से अधिक स्थान घेरती हैं। इसके अलावा जो वस्तु अन्तत बनाई गई है वह मूल सामग्री की अपेक्षा आसानी से टूट सकती है या क्षतिग्रस्त भी हो सकती है। इस प्रकार निर्माण की नीचे की अवस्थाओं में भार की क्षति तथा ऊपर की अवस्थाओं में आकार में वृद्धि की प्रवृत्ति होती है।

परिवहन की लागत के विचार से इसका क्या अर्थ है? आइए हम इस प्रश्न को इस सरल रूप में रखें परिवहन की लागत किसी उद्योग को कच्चे माल के स्रोत के निकट लगाने से कम होगी या उस मण्डी के निकट लगाने से कम होगी जहां उसके द्वारा तैयार वस्तु को बेचा जाएगा? हम चीनी का उत्पादन उस क्षेत्र में कर सकते हैं जहां गन्ना पैदा होता है और उसके बाद चीनी को शहरों की विभिन्न मंडियों में ले जा सकते हैं। दूसरा तरीका यह है कि उन स्थानों को ही गन्ना भेजा जा सकता है जहां अधिक संख्या में उपभोक्ता रहते हैं और वहां इसकी चीनी बनाई जा सकती है। यदि हम परिवहन की लागत को कम करने में दिलचस्पी रखते हैं तो जाहिर है, पहला तरीका ही पसंद किया जाएगा। गन्ने को इन स्थानों को ले जाने की अपेक्षा विभिन्न मंडियों में चीनी का वितरण करना अधिक लाभप्रद होना चाहिए क्योंकि गन्ने का भार और फैलाव बहुत अधिक होता है। अधिक सामान्य भाषा में कहा जाए तो किसी वस्तु को तैयार करते समय जो नीचे की अवस्थाएं होती हैं उनमें तो उद्योगों को अन्तिम मंडियों के बजाय कच्चे माल के स्रोत के पास लगाना अधिक उपयुक्त होता है। कोई वस्तु विशेष ऐसी हो सकती है जो दो या अधिक स्रोतों से मिलने वाले दो या अधिक प्रमुख कच्चे माल पर निर्भर हो। उदाहरणार्थ, लोहे तथा इस्पात के उत्पादन के लिए कोयले के साथ लौह खनिज की आवश्यकता होती है। इस प्रकार, लोहे तथा इस्पात उद्योगों को कोयला खानों के निकट बनाने की अधिक सम्भावना होती है क्योंकि लोहे को गलाने के काम में आने वाले कोयले का भार लौह खनिज से कहीं अधिक होता है। अन्य मामलों में, परिस्थितियों को देखते हुए कई बीच के स्थान भी चुने जा सकते हैं। इन्हीं बातों से यह भी पता चलता है कि माल को तैयार करने की 'ऊपर' की अवस्थाएं प्रायः अन्तिम मंडियों की ओर आकृष्ट होंगी। जंगलों तथा आरा मिलों के निकट फर्नीचर बनाने और बाद में उन्हें शहरों को ढोने की अपेक्षा शहरों में फर्नीचर बनाना सस्ता पड़ेगा। इसी कारण इंजीनियरी उद्योग अपने द्वारा तैयार किए गए माल के लिए मंडियों के नजदीक बनेंगे। अमरीका में सर्वप्रथम इंजीनियरी उद्योग लोहा तथा इस्पात उद्योग के निकट स्थापित किए गए थे क्योंकि इनका विकास लोहा तथा इस्पात उद्योगों से हुआ जिनका जमाव खानों के

निकट था। किन्तु हाल के कुछ वर्षों में आर्थिक कारणों से यह ऐतिहासिक बन्धन कमज़ोर पड़ गया है और उद्योग के कम से कम कुछ अनुभागों को उनकी मंडियों के निकट स्थापित करने की प्रवृत्ति हो गई है। अन्तर्राष्ट्रीय रूप से किसी क्षेत्र में विशेष कुशलता भी इसी सिद्धान्त के आधार पर प्राप्त की जाती है। जिस देश में लोहे तथा कोयले के अधिक भण्डार होते है उन्हे लोहा तथा इस्पात उद्योग को चलाने में सुविधा होती है। यदि वहा केवल लौह खनिज हो किन्तु कोयला खानें न हो तो उसे वही सुविधा नही होगी। जहा तक इंजीनियरी उद्योग का सम्बन्ध है वे कई अन्य बातों को ध्यान में रखकर लगाए जाते है और लोहे तथा कोयले के भंडार होने का इस उद्योग पर वही प्रभाव नहीं होता जो इस्पात उद्योग के सम्बन्ध में होता था। इस प्रकार, फिलिपीन कोयला खानें न होने के कारण अपने लौह खनिज का अधिकांश भाग जापान को निर्यात कर देता है। जापान का इंजीनियरी उद्योग बढा है तथा तेज़ी से बढ रहा है। इसके लिए वह उसके कुशल श्रम बल तथा बडी मात्रा में औद्योगीकरण के कारण है।

परिवहन की लागत के आधार पर अलग अलग स्थानों पर उद्योगों की स्थापना के सम्बन्ध मे कुछ उदाहरण दिए जा सकते हैं। इस क्षेत्र में सबसे पहला सिद्धान्तकार उत्तर जर्मनी का एक किसान जोहान हाइनरिख फान थूनेन था, जिसने उन्नीसवी शताब्दी के आरम्भ मे व्यावहारिक अनुभव के आधार पर सिद्धान्त निर्धारित किया। उसकी पुस्तक, जिसका उल्लेख प्रायः इसके संक्षिप्त नाम 'देर आइसोलिएरते स्तात' से किया जाता है, 1826 मे प्रकाशित हुई थी। उद्योगो के स्थान निर्धारण की समस्या को, जिस रूप मे फान थूनेन ने चर्चा की थी, उसकी व्याख्या इस प्रकार की जा सकती है। हम अपने मन में एक ऐसे क्षेत्र की कल्पना करें जिसमे एक सी उवरता वाली भूमि हो और सभी दिशाओं के लिए परिवहन की बराबर सुविधा हो और उसके केन्द्र मे एक नगर हो। केन्द्र मे स्थित यह नगर चारो ओर के देहाती क्षेत्र की पैदावार के लिए एक मंडी है। अब, इन परिस्थितियों मे काश्त की कौन सी व्यवस्था सर्वाधिक युक्तिसंगत होगी? फल तथा सब्जियां, अनाज, मांस तथा पनीर और अन्य चीज़ें मंडी मे बेचने के लिए लाई जा सकती हैं। प्रश्न यह है कि केन्द्र-स्थित मंडी के चारो ओर की भूमि को इन अनेक वस्तुओं के उत्पादन मे कैसे विभाजित किया जाएगा? इस प्रश्न का उत्तर किसी वस्तु की एक इकाई के मूल्य की तुलना मे उसकी परिवहन की लागत का हिसाब लगा करके ढूंढा जा सकता है। फल तथा सब्ज़ियों जैसी कुछ वस्तुएं नष्ट होने वाली होती हैं और इसलिए उनका उत्पादन नगर के निकटतम क्षेत्र मे होता है। दूसरी ऐसी वस्तुएं, जिनका मूल्य कम और फैलाव अधिक होता है और इसलिए, जिन पर परिवहन की लागत भी ज्यादा पडती है, शहर के पास पैदा की जाएगी। इस प्रकार, उदाहरण के लिए ऊन, मांस या पनीर की अपेक्षा अनाज का उत्पादन मंडी के निकट के क्षेत्र मे किया जाएगा। इस प्रकार के तर्क के आधार पर फान थूनेन ने शहर के चारो ओर एक दायरे में काश्त की पट्टियां सी बनाईं, जिसमें निकटतम पट्टी फलो तथा सब्जियों वाले बागों की होगी, पशु-पालन

का क्षेत्र सबसे अधिक दूरी पर होगा और अनाज की काश्त इन दोनों के बीच में कहीं होगी। इस सम्बन्ध में उसने अर्थशास्त्र में सीमान्त विश्लेषण का सबसे पहले और बहुत ही आश्चर्यजनक उपयोग किया। किसी अनाज विशेष की काश्त का कहां तक विस्तार होगा? किसी वस्तु विशेष को केन्द्रगत मंडी तक ले जाने के लिए जितनी दूरी तय करनी पड़ेगी उतनी ही उसकी कीमत अधिक होगी। एक सीमा से आगे इस वस्तु का मंडी में जो मूल्य प्राप्त होगा उसको देखते हुए वह अतिरिक्त लागत गैर मुनासिब हो जाएगी और भूमि का उपयोग किसी ऐसी दूसरी वस्तु के उत्पादन के लिए करना अच्छा होगा जिस पर उसके मूल्य की तुलना में प्रति किलोमीटर परिवहन की लागत कम हो।

इस प्रकार फान थूनेन के विश्लेषण ने स्थान के उपयोग के सम्बन्ध में केन्द्रीय स्थान के सिद्धान्त की नींव रखी। इससे वाल्टर क्रिस्टलर जैसे दूसरे लोग इन प्रकार के विश्लेषण को आगे विकसित करने के लिए प्रवृत्त हुए। वास्तविक जगत में कस्बे नगर और शहर या यों कहिए केन्द्र स्थान हैं जिनका भिन्न भिन्न आर्थिक महत्व है। फान थूनेन के उदाहरण में केन्द्र नगर के चारों ओर के देहाती क्षेत्र के साथ कतिपय आवश्यक सम्बन्ध बने हुए थे जिनसे वह उनकी बहुत सी उपज खरीदता था और जिन्हें वह कतिपय दूसरी चीजें बेचता था। ऐसे अनेक नगरों में कुछ वस्तुओं तथा सेवाओं की एक सी आवश्यकता हो सकती है जिन्हें वे सभी अधिक प्रमुख केन्द्रीय स्थान से अधिक सस्ते में प्राप्त कर सकते हैं। जिस प्रकार एक केन्द्रीय कस्बे के चारों ओर ग्राम या कृषि बस्तियां होती हैं उसी प्रकार किसी शहर के चारों ओर ऐसे अनेक कस्बे हो सकते हैं और वह शहर स्वयं आसपास के छोटे छोटे नगरों की तुलना में उत्कृष्ट केन्द्रीय स्थान हो जाएगा और इस प्रकार यह क्रम महानगर तक पहुंच जाएगा जिसका इस क्रम में मूर्धन्य स्थान है। जिस प्रकार छोटे नगर और गांव एक दूसरे को सहारा देते हैं उसी तरह छोटे छोटे नगर बड़े शहर से सम्बन्धित होते हैं। जिस तरह छोटे केन्द्र और बड़े केन्द्रों में एक प्रकार का दर्जाबन्दी होती है उसी प्रकार केन्द्रगत वस्तुओं तथा सेवाओं की भी दर्जाबन्दी है। उदाहरण के लिए नीचे के स्तर के केन्द्रीय स्थान कृषि की उपज को साफ करके तैयार करने की नीचे की अवस्थाओं के लिए सर्वाधिक उपयुक्त होते हैं जब कि कतिपय उत्कृष्ट वस्तुओं तथा सेवाओं के लिए ऊंचे स्तर के केन्द्रीय स्थान ही अधिक उपयुक्त होंगे। इस प्रकार महानगरों से लेकर ग्रामों तक सभी स्थान तथा बस्तियां दरअसल एक दूसरे के पोषक होते हैं या कम से कम एक युक्तिसंगत आर्थिक व्यवस्था में उन्हें ऐसा होना चाहिए। औद्योगिक रूप से विकसित देशों में वास्तविकता प्रायः इसके अनुरूप होती है जब कि अल्प विकसित देशों के लिए यह उदाहरण औद्योगिक केन्द्रों के लिए स्थान का चुनाव करने में मार्गदर्शन कर सकता है।

अल्प विकसित देशों में आर्थिक ढांचा ऊपर बताई गई व्यवस्था से प्रायः बहुत भिन्न क्यों होता है। इसके कई कारण हैं। इनमें से कुछ देशों में मध्यवर्ती केन्द्रगत स्थानों का नितान्त अभाव है। महानगर की प्रवृत्ति होती है कि वह पिछड़े हुए विशाल

देहाती क्षेत्रो पर हावी हो जाता है। बहुत बड़ी संख्या में गावो की तुलना में कुछ बड़े तथा अधिक आबादी वाले शहर होते हैं और उनके बीच में कुछ छोटे-मोटे नगर होते हैं जिनका विशेष महत्व नही होता। ई० ए० जे० जानसन द्वारा किए गए अध्ययन पर आधारित एक भारतीय उदाहरण से यह स्थिति स्पष्ट हो जाएगी। भारतीय राज्यो में सबसे अधिक आबादी उत्तर प्रदेश की है। कानपुर उसका एक बड़ा शहर है जिसमे लगभग 10 लाख लोग रहते हैं। आसपास के क्षेत्रों के साथ इस शहर के सम्बन्धो का वर्णन जानसन ने निम्नलिखित शब्दो में किया है :

> यह उस क्षेत्र का एक महानगरीय केन्द्र है जिसका क्षेत्रफल लगभग 17,000 वर्गमील है और जिसमे लगभग 1 करोड़ व्यक्ति रहते हैं। यदि नगर के सम्बन्ध मे जनगणना सम्बन्धी सरकारी परिभाषा का अनुसरण किया जाए तो उस क्षेत्र की शहरी श्रेणी मे 1 केन्द्रगत शहर (कानपुर), 24 नगर और 11,239 गाव है, जिसका अर्थ यह हुआ कि प्रत्येक 468 गावो के लिए केवल 1 नगर है। 24 नगरों का आकार भिन्न-भिन्न है जिनमे 5,000 से 95,000 तक लोग रहते हैं, जिनकी दर्मियानी आबादी 1960 मे 16 000 थी। • इस प्रदेश मे शहरों की जो क्रम-व्यवस्था है उसकी सबसे बड़ी कमजोरी यह है कि इसमे नगरो की संख्या बहुत ही अपर्याप्त है, और अगर यह मान भी लिया जाए कि उस सारे क्षेत्र मे अच्छी सड़को का जाल बिछा है तब भी उनमे से कोई भी 468 गावो की आवश्यकताए पूरी नही कर सकता, जब कि इस तरह की कल्पना का कोई अर्थ नही है।[1]

उत्तर प्रदेश यातायात सर्वेक्षण द्वारा 1966 मे जो तथ्य सामग्री एकत्र की गई थी उससे पता चलता है कि कानपुर क्षेत्र में पैदा होने वाली कोई भी कृषि उपज वस्तुतः 25 किलोमीटर से दूर नही ले जाई जाती। जैसा कि जानसन ने सकेत किया है, 'अपर्याप्त, घटिया और कुछ मौसमों में खराब हो जाने वाली सड़को के कारण गाव की उपज को बेचने का काम बहुत ही सीमित हो जाता है और इस सरचनात्मक कमी के कारण गाव नगरो से बहुत दूर न होते हुए भी, नगर केन्द्र से कट जाते है।'

अल्प विकसित देशो के शहरी विकास के स्वरूप के विशद दोषो के इस विवेचन मे हम इस बात की व्याख्या कर सकते हैं कि यह स्थिति कैसे आई। इन देशों मे 'आधुनिकीकरण' का पहला प्रभाव यह हुआ कि यहा निर्यात व्यापार की शुरूआत हुई। इसके परिणामो का उल्लेख पहले के एक अध्याय मे किया जा चुका है। पराधीन देश मे परिवहन की व्यवस्था इस प्रकार की गई जिससे कच्चे माल को मूल उत्पादक क्षेत्रो से

1 ई० ए० जे० जानसन, 'द आर्गेनाइजेशन आफ स्पेस इन डेवलपिंग कण्ट्रीज, हार्वर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1970, पृ० 192,193,194 तुलना के लिए ब्रिटेन, अमरीका, जर्मनी, फ्रांस और जापान जैसे विकसित देशों मे मडी वाले एक नगर के पीछे गावो की संख्या 15 से कम ही होती है जब कि भारत मे यह अनुपात कम से कम 1 के पीछे 200 है। (वही, पृ० 416)।

बन्दरगाह तथा वहां से विदेशी मंडियों में ले जाने में सुविधा हो। नगरों को गांवों से जोड़ने या देश के भीतर अन्त:क्षेत्रीय व्यापार की कठिनाइयों को दूर करने के लिए कोई ध्यान नहीं दिया गया। प्रथम महायुद्ध से पहले ब्राजील की कपास रिओ डी जैनीरो की अपेक्षा लिवरपूल में अधिक सस्ते भाव पर खरीदी जा सकती थी। हालांकि लिवरपूल ब्राजील के कपास पैदा करने वाले प्रान्तों, जैसे बाहिया, परनाम्बूको और उत्तर के अन्य जिलों से चार हजार मील से भी अधिक दूरी पर था। जब कि रिओ डी जैनीरो लगभग ग्यारह सौ मील की ही दूरी पर स्थित है। उत्तर भारत में पूर्व से पश्चिम की ओर जाने वाला केवल एक मुख्य परिवहन मार्ग बनाया गया था। जो ग्रामीण बस्तियां इस मुख्य मार्ग के निकट नहीं पड़ती थीं, उनमें आने-जाने की बहुत कठिनाई थी। इस प्रकार की कमी सड़कों का विकास करके दूर की जा सकती थी किन्तु अभी तक इस दिशा में अपेक्षाकृत बहुत कम प्रगति हुई है। जानसन ने अपने अध्ययन में निर्देश किया है कि 'उत्तर प्रदेश में सड़कों का इतना अभाव है कि जापान में 100 वर्गमील क्षेत्र में जितनी सड़कें हैं यहां उसका केवल 32वां भाग है।' अन्य कारणों से भी क्षेत्रीय आर्थिक विषमता बढ़ी है और नगर तथा देहात के बीच व्यापार का बहुत कम विकास हुआ है। उदाहरण के लिए अन्य उत्पादक गतिविधियों की अपेक्षा विदेशी व्यापार के लिए अधिक सरलता से ऋण उपलब्ध होता था। इसके अलावा महानगरों या प्रमुख शहरों में शिक्षा की जो सुविधाएं उपलब्ध थीं उनमें तथा देश के शेष भागों में उपलब्ध इस प्रकार की सुविधाओं में जमीन-आसमान का अन्तर था।

इन सब बातों से पता चलता है कि किस प्रकार आर्थिक रूप से पिछड़े देशों में कुछ बड़े शहरों ने प्रमुख स्थान प्राप्त किया और बीच के दर्जे के नगर कमजोर रह गए और देहातों में दरिद्रता और अज्ञान का साम्राज्य रहा। बड़े शहरों के प्रति गांधीवादी प्रतिक्रिया की यही पृष्ठभूमि है। पश्चिम योरप में औद्योगीकरण की प्रारम्भिक प्रावस्था *का अध्ययन करते समय मार्क्स सबसे ज्यादा पूंजीपति वर्ग द्वारा सर्वहारा वर्ग के शोषण* से प्रभावित हुआ था। अंग्रेजों के शासनकाल में भारत की आर्थिक व्यवस्था में शहरों द्वारा देहातों के शोषण से गांधी जी स्तम्भित रह गए थे। दोनों ने अपने-अपने अनुभव से सामान्य सिद्धान्त निर्धारित किए। इस बात में संदेह नहीं कि अनेक औपनिवेशिक देशों में आर्थिक पिछड़ेपन का मुख्य कारण शहरी विकास का स्वरूप है। इसने ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था के साथ-साथ राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था को भी असंतुलित कर दिया। इसने ग्रामों में पारम्परिक रूप से चले आ रहे सहायक उद्योगों को कमजोर बना कर और जितने लोगों *को शहरों में लाभप्रद रोजगार उपलब्ध किए जा सकते थे उनसे कहीं अधिक लोगों को* शहरों की ओर खींचकर बेरोजगारी तथा अपूर्ण रोजगार की स्थिति पैदा कर दी। इस शहरी अर्थ-व्यवस्था ने, जितनी तेजी से वह नये उत्पादक कार्यों से लोगों को बांध नहीं सकती थी, उससे ज्यादा तेजी से पुराने समुदाय को तोड़ दिया। गांधी जी के विचार में यह सब औद्योगीकरण का अनिवार्य परिणाम था। इसके स्थान पर उन्होंने ग्रामों पर

आधारित उद्योगों पर ज़ोर दिया। मौरिस फ्राइडमैन द्वारा पूछे गए एक प्रश्न के उत्तर में उसने कहा, 'बड़े पैमाने पर औद्योगीकरण से परोक्ष या प्रत्यक्ष रूप से ग्रामों का शोषण अनिवार्य है। इसलिए, हमें ग्रामों को इस प्रकार आत्मनिर्भर बनाने की ओर अधिक ध्यान देना होगा जिससे वे मुख्यतः अपने काम की चीज़ें बनाएं।[1] निश्चय ही गांधी जी कुछ बड़े पैमाने के उद्योग भी स्थापित करने देते किन्तु उनके विचारों के अनुरूप अर्थ व्यवस्था में ग्रामोद्योगों का विशेष महत्व था।

किन्तु ग्रामों को जीवन-शक्ति प्रदान करने का सर्वोत्तम उपाय यह है कि उनका नगरों के साथ परस्पर आदान प्रदान हो। ग्रामीण निर्धनता की समस्या ग्रामों द्वारा अपने-आपको अलग करके हल नहीं की जा सकती। मंडी वाले नगर तथा अन्य मझोले नगर ग्रामीण विकास में एक आवश्यक योगदान करते है। ग्रामों को अपने आर्थिक उत्थान के लिए जिन विचारों तथा जिन वस्तुओं की आवश्यकता होती हैं उन सभी का उत्पादन ग्रामों में ही नहीं किया जा सकता। ग्रामीण जिस नगर तक आसानी से पहुंच सकते है वहां विकास के ये सभी आवश्यक उपादान उपलब्ध हो सकते हैं। यदि ऐसे नगर पर्याप्त संख्या में विद्यमान न हों तो उनकी स्थापना करना आर्थिक नीति का एक मुख्य लक्ष्य होना चाहिए। ऐसे बहुत से केन्द्रीय स्थान हैं जिन्हें इस प्रयोजन के लिए उचित सुविधाएं देकर क्रियाशील बनाया जा सकता है। सड़कों के विकास के महत्व पर हम पहले ही ज़ोर दे चुके हैं। ऋण देने की प्रणाली में बहुत-से दोष हैं जिन्हें दूर किया जा सकता है। जिन क्षेत्रों के पास कारखाने लगाने तथा व्यापारिक गतिविधियों के लिए संरचना का आधार तैयार करने हेतु साधन नहीं है, वहां विकास आरम्भ करने के लिए सरकार 'औद्योगिक बस्तियों' की परियोजनाएं आरम्भ कर सकती है। आर्थिक रूप से पिछड़े क्षेत्रों में भी उद्यमों को चलाने के लिए वांछित योग्यताएं पर्याप्त मात्रा में विद्यमान होती हैं। औद्योगिक बस्तियां भावी उद्यमकर्ताओं को तैयार ज़मीन तथा उसके साथ सड़कों, कारखाने की इमारत, बिजली की सप्लाई और अन्य सेवाओं की सुविधा उपलब्ध करके ऐसी छिपी हुई योग्यताओं के फलने-फूलने के लिए आधार प्रस्तुत कर सकती हैं, ताकि एक उद्यम समूह वहां एक दूसरे से मिलकर काम करके सफलता प्राप्त कर सकें जब कि हो सकता है कि यदि वे अलग अलग विकास करने का प्रयत्न करते तो असफल हो जाते।

फर्म के आकार के बारे में भी यहां कुछ शब्द कह दिए जाएं। यह विश्वास पाया जाता है कि औद्योगिक विकास बड़े पैमाने के उद्यम की ओर कठोरता से अग्रसर होता है। यह बात कहां तक सत्य है? और आर्थिक कार्य-कुशलता के कारण बड़े पैमाने पर उत्पादन कहां तक आवश्यक हो जाता है? ऐसी भी परिस्थितियां होती हैं जिनमें तकनीकी कारण उत्पादन के लिए बड़े कारखानों का निर्माण अधिक लाभकर बना देते हैं। किन्तु बड़ी फर्मों की सफलता सदैव तकनीकी कारणों से नहीं होती। उदाहरणार्थ, ऐसी

1 हरिजन, 29 अगस्त, 1936

फर्मों को बडी मात्रा मे बिक्री तथा खरीद या ऋण प्राप्त करने की अन्य सुविधाए प्राप्त होती है। दो महायुद्धो के बीच के काल मे जापानियो के अनुभव का सर्वेक्षण करते हुए ई० पी० स्टेन्स ने लिखा था :

> अकेले टेक्नालाजी को काम मे लाने के क्षेत्र मे जापानियो ने अपनी छोटे पैमाने पर उत्पादन की प्रणाली को उस कार्य-पद्धति के अनुकूल बनाने मे अत्यधिक बुद्धि-कौशल का परिचय दिया है जिसमे उनकी स्थिति विशेष सुविधा सम्पन्न है । बहुत-से छोटे कारखानो मे देखा गया कि मशीन वाले एकक का सचालन कम से कम ऐसे बहुत से एककों के सचालन की भांति ही कार्यक्षम हो सकता है, यदि उनके बीच कोई क्रमबद्धता न हो।[1]

इस प्रकार बहुत-से मामलो मे छोटी फर्में अच्छा काम करती हैं जहा वे ऐसी बडी फर्मों के लिए काम करती है जो उन्हे ऋण और कच्चा माल दिलाने और उनके तैयार माल की बिक्री मे सहायता करती हैं। यदि यही सुविधाए सरकारी अभिकरणों या सहकारी सस्थाओं द्वारा दी जाए और इस प्रकार की व्यवस्थाओ मे कार्य-कुशलता हो, तो एक वैकल्पिक सस्थागत ढाचा उपलब्ध हो जाएगा जिसके अन्तर्गत छोटे-छोटे उत्पादन-एकक सफलतापूर्वक कार्य कर सकते है।

किन्तु उपरोक्त कथन की कुछ सीमाए हैं। जहा मानकीकरण की माग अधिक होती है वहा बडे उत्पादन-एकक प्राय विशेष लाभ की स्थिति मे होते हैं। यह बात कुछ कम महत्व की नही है कि जापान मे दो युद्धो के बीच की अवधि मे कताई-बुनाई की बडी मिले थी जो मुख्यत निर्यात के लिए मानकीकृत माल तैयार करती थी और इनके साथ कपडा बुनने के छोटे-छोटे कारखाने भी चलते थे, जो घरेलू आवश्यकताओ की पूर्ति करते थे। चूकि प्रशिक्षित तथा कुशल प्रबध कर्मिको की सख्या सीमित है इसलिए बडे उत्पादन-एकक या बहुत से छोटे एकक एक साथ मिल कर प्रबध क्षमता का पूरा-पूरा उपयोग करने मे सहायक हो सकते है। इससे एक बात और पैदा होती है। यद्यपि बडे पैमाने के उद्योग के टेक्नालाजी सम्बन्धी लाभ को बहुत बढा-चढाकर बताया जाता है तथापि एक ही क्षेत्र मे बहुत-सी फर्मों के जमा होने के पक्ष मे एक शक्तिशाली तर्क है। आर्थिक गतिविधियो को अलग अलग जगहो पर फैलाना तभी ठीक होता है जब महा-नगरीय क्षेत्र मे उद्योग तथा वाणिज्य का बहुत अधिक केन्द्रीकरण हो जाता है। किन्तु इस बात को बहुत दूर तक नही ले जाना चाहिए। किसी फर्म की कार्य-कुशलता उस फर्म मे किए गए पूजी निवेश पर ही निर्भर नहीं करती। सामाजिक पूजी भी एक चीज होती है जिसके लाभ किसी एक फर्म तक सीमित नहीं होते। सामान्य सेवाओं का पूरा-पूरा उपयोग उद्योगो को किसी एक केन्द्रीय स्थान पर लगाने से ही किया जा सकता है। बात

1 ई० पी० स्टेन्स, 'स्माल स्केल इण्डस्ट्री इन जापान', क्वार्टर्ली जर्नल आफ इकनामिक्स', कैम्ब्रिज, अगस्त, 1947

यह नहीं है कि अनेक गावों म कारखाने स्थापित किए जाएं बल्कि एक प्रकार के समूहों म समूचे देश म बनाए जाए। जापान में भी जहा उद्योग को ग्रामीण अथ-व्यवस्था क साथ सम्बद्ध करने का अद्भुत काय किया गया छोटे छोटे कारखाने खेतो म ही स्थित नहा थे बल्कि कृषि औद्योगिक बस्तियो में स्थित थे। ई० ए० जे० जानसन जिसके उद्धरण हमने पहले दिए हैं लिखता है यह मान लेना बहुत बडी भूल होगी कि मेजी काल म ग्रामीण उद्योग केवल कृषि हस्तशिल्प थे। यद्यपि इनके अपवाद भी थे तथापि य ग्रामीण वस्तु निर्माण सम्ब धी काय मुख्यत मडी वाले नगरो मे किए जाते थे।[1] महत्व की बात यह ह कि उद्योग का सवधन करत समय इन केन्द्रीय स्थानो का ग्रामो के साथ पर्याप्त रूप से आर्थिक सानिध्य होना चाहिए जिससे कि उनक बीच आदान प्रदान की सृजनात्मक प्रक्रिया चलती रहे।

नकसे की पुस्तक प्राबलम्स आफ कपिटल फार्मेशन इन अडरडवलप्ड कण्ट्रीज (1953) क प्रकाशन के पश्चात अल्प विकसित देशो म पूजी निर्माण के लिए ग्रामीण क्षत्र क फालतू श्रम का उपयोग करने की रीतियो तथा सम्भावनाओ क बारे म काफी चर्चा हो चुकी ह। यह धारणा मुख्यत सरचनात्मक कारणों से उत्पन्न होती है कि फालतू श्रम औद्योगिक रूप से पिछडे क्षत्रो में विद्यमान होता है। अथ व्यवस्था के सगठित क्षत्र मे जहा तकनीक अत्यधिक विकसित होती हैं और जहा उत्पादन का सगठन लाभ के लिए किया जाता है वहा अनिश्चित श्रम को नियोजित करने की दर बहुत हद तक निवेश की दर से सम्बद्ध होती है। किन्तु रोजगार चाहने वाले लोगो की कुल सख्या मे वृद्धि का निर्धारण मोट तौर पर जनसख्या की वृद्धि की दर जनता की आयु के ढाचे और कतिपय सामाजिक मान्यताओ के आधार पर किया जाता है। यदि सगठित क्षत्र काम पर लगाए जाने के लिए उपलब्ध सारे श्रम बल को अपने यहा लगाने मे असमर्थ हो तो इस प्रकार हर साल जो श्रमिक बच जाते है उन्हे मुख्यत प्राथमिक क्षत्र मे जाना होता है हालाकि कुछ लोग असगठित व्यापार मे भी जा सकते है जहा उनकी स्थिति तीसरे क्षत्र मे छिपे हुए बेरोजगारो की होती है और इनके अलावा कुछ ऐसे भी होते हैं जो शहरो मे बेरोजगार घूमते रहते हैं। उदाहरण के लिए हम युद्ध से पूव यूगोस्लाविया के मामले को लेते हैं। इस देश मे कृषि पर आश्रित लोगो की सख्या 1921 म 90 लाख थी। वह 1941 मे बढकर 125 लाख हो गई। इसी अवधि मे खानो तथा वस्तु निर्माण क्षत्र मे काम करने वालो की सख्या 2 लाख से 2 40 लाख हो गई। देहातो म जनसख्या का बाहुल्य अत्यधिक था। जैसा कि इआन हैमिल्टन ने अपनी पुस्तक युगोस्लाविया पैटन्स आफ इकनामिक एक्टिविटी मे लिखा है बढ हुए श्रम समुदाय के लिए जाने को कोई स्थान नहीं था और करने को कोई काम नहीं था शहरी बेरोजगारी से वृद्धि हो गई और 1938 मे जो आर्थिक प्रस्ताव का वष था रोजगार दफ्तर 100 प्राथियो म स केवल तीन क लिए काम मुहैया कर सकते थे। (पृष्ठ 10)।

1 ई० ए० ज० जानसन उपयुक्त प० 48-49

जैसे-जैसे धरती पर जनसंख्या का दबाव बढ़ता है वैसे-वैसे कृषि के ढांचे में कतिपय परिवर्तन आने अवश्यम्भावी होते हैं क्योंकि खेती देहातों में श्रम के आधिक्य को किसी प्रकार छिपाए रहती है। उदाहरण के लिए, जनसंख्या में स्वाभाविक वृद्धि होने से खेती की जमीन अधिक से अधिक बंटती चली जाती है और उसके बहुत छोटे-छोटे टुकड़े हो जाते हैं। इस प्रकार बढ़ी हुई जनसंख्या को खपाने के लिए कृषि के संगठन में परिवर्तन हो जाता है। हम कृषि में विद्यमान फालतू श्रम का उल्लेख इस प्रकार कर सकते हैं कि यदि उत्पादन का थोड़ा पुनर्गठन किया जाए किन्तु पूंजी के स्टाक में कोई विशेष वृद्धि न हो तो कृषि उपज के वर्तमान स्तर को बनाए रखते हुए श्रम बल के एक भाग को अन्य उत्पादक कार्य के लिए अन्तरित करना और सम्भव होना चाहिए।

किन्तु ऐसे फालतू ग्रामीण श्रम की सीमा निश्चित नहीं है बल्कि वह समय के अनुसार घटती-बढ़ती रहती है। कुछ लोगों का कहना है कि रोपाई तथा कटाई के समय वस्तुत. फालतू श्रमिक होते ही नहीं। बहरहाल वे भी आम तौर पर इस बात को मानते हैं कि बहुत-से अल्प विकसित देशों में सामयिक बेरोज़गारी और अपूर्ण रोज़गार की संख्या अधिक होती है। उन अर्थ-व्यवस्थाओं में यह स्थिति विशेष रूप से विकट होती है जहां ग्रामीण क्षेत्रों में कृषि से इतर धंधों के लिए अवसर बहुत सीमित होते हैं। उदाहरण के लिए हैरी टी० ओशिमा ने भी, जिसका कहना है कि कृषि में फालतू श्रमिकों की संख्या बढ़ा-चढ़ाकर बताई जाती है, निम्नलिखित विचार प्रकट किए हैं :

> जिन दिनों खेतों में काम नहीं होता, वयस्क पुरुषों की संख्या खेतों पर अपेक्षित श्रमिकों की संख्या से बहुत अधिक हो जाती है। एशिया के उन भागों में, जहां मशीनों पर बनी वस्तुओं के कारण ग्रामीण हस्तशिल्प या कृषि से इतर अन्य धंधे नष्ट नहीं हुए हैं, श्रमिक तथा किसान हस्तशिल्पों तथा अन्य कार्य-कलापों में काफी व्यस्त रहते हैं। आम तौर पर ये क्षेत्र आभ्यन्तर प्रदेश में स्थित होते हैं जो समुद्र तट या शहरी क्षेत्रों से बहुत दूर होते हैं। अन्य स्थानों पर, विशेष रूप से भारत के कुछ भागों में तथा युद्ध से पूर्व चीन में जिन दिनों खेती का काम मंदा होता है, हस्तशिल्पों के नष्ट होने के कारण बड़ी संख्या में पुरुष श्रमिकों के फालतू होने के संकेत मिलते हैं।[1]

इन विचारों से यह स्पष्ट हो जाता है कि अल्प विकसित अर्थ-व्यवस्था पर औद्योगीकरण के प्रभाव से प्रारम्भिक अवस्थाओं में फालतू ग्रामीण श्रम की समस्या विकट हो जाती है।

नर्कसे ने पिछड़े हुए क्षेत्रों के असंगठित क्षेत्र में विद्यमान फालतू श्रम में पूंजी

1. हैरी टी० ओशिमा, 'अंडर इम्प्लायमेंट इन बैकवर्ड इकनामीज़', 'जर्नल आफ पोलिटिकल इकनामी', शिकागो यूनिवर्सिटी, जून, 1958.

निर्माण की सम्भावनाओं को देखा। प्रश्न उठता है कि इस फालतू श्रम को ग्रामीण क्षेत्रों में कृषि के अलावा अन्य उत्पादक कार्य में लगाना क्यों सम्भव नहीं है? फालतू श्रम बल का उपयोग करने के लिए सड़क निर्माण, सिंचाई-कार्य और भवन निर्माण जैसी सामुदायिक विकास परियोजनाएं तैयार करना कठिन नहीं होना चाहिए। यह सच है कि इन कर्मकारों को उन्हें सौंपे गए कार्यों को पूरा करने के लिए कुछ पूंजीगत सामान की आवश्यकता होगी। जब वे काम में लगे हुए हों तब उनके भोजन की भी व्यवस्था करनी होगी। लेकिन जब वे बेरोजगार या अपूर्ण रोजगार की स्थिति में होते हैं तब भी समाज किसी न किसी तरह उनके भोजन की व्यवस्था करता है। सामाजिक दृष्टि से देखा जाए तो यह श्रमिक समुदाय रोजगार की स्थिति में जो उपभोग करेगा तथा रोजगार न रहने पर भी जो उपभोग करता, इन दोनों का अन्तर समुदाय के उपभोग कोश पर एक अतिरिक्त भार होता है। इसके अलावा मुख्य समस्या यह है कि ग्रामीण क्षेत्रों की अतिरिक्त जनशक्ति को काम पर लगाने के लिए इन नये प्रकार के कार्यों को कैसे संगठित किया जाए।

चीन के कम्यूनों ने एक रास्ता दिखाया है। कम्यूनों में सबके भोजन के लिए सामूहिक रसोईघर होते हैं और काम भी सामुदायिक आधार पर किया जाता है। इस प्रकार, कृषि सम्बन्धी कार्य से बचे हुए लोगों को अन्य परियोजनाओं में लगाया जा सकता है जिससे कुल सामाजिक पूंजी के स्टाक में वृद्धि हो जाएगी। इसी दौरान उपभोग के स्तर पर इच्छा के अनुरूप नियंत्रण रखा जा सकता है। यह दलील दी गई है कि 'महान छलांग' वाली अवधि के उत्साही कम्यूनों ने कृषि-सुधार के लिए प्रोत्साहन देने के सम्बन्ध में उचित प्रणाली प्रस्तुत नहीं की। किन्तु यह बात भिन्न है। उन्होंने फालतू ग्रामीण श्रम का उपयोग करने के लिए एक संगठनात्मक ढांचा अवश्य दिया। स्थानीय सामुदायिक स्तर पर थोड़ी-बहुत आयोजना के बिना इस समस्या को हल नहीं किया जा सकता। किन्तु, अन्य दिशाओं में विकास द्वारा इसकी गम्भीरता को बहुत कम किया जा सकता है। ग्रामीण क्षेत्रों में जिन दिनों खेती का काम मंदा होता है उन दिनों, जहां तक लोगों के पास पूरा रोजगार न होने की समस्या है, फसलों के चक्र में बार-बार परिवर्तन करते रहने से बहुत से क्षेत्रों में राहत मिल जाने की काफी सम्भावना हो गई है। शेष क्षेत्रों में औद्योगीकरण की प्रक्रिया ही कालान्तर में कृषि पर अतिरिक्त श्रम के भार को कम करेगी। उद्योगों के समूह के समूह को जगह-जगह फैलाने से भी इस समस्या का समाधान होने की आशा की जा सकती है और इससे प्रतिरोध भी कम से कम होने की सम्भावना है। औद्योगीकरण की जिस रूपरेखा का हमने यहां वर्णन किया है वह ऐसी नहीं है जो कि बाजार की शक्तियों की मुक्त क्रिया-प्रतिक्रिया के द्वारा निर्धारित हो। बाजार की शक्तियां तो उन स्थानों पर पूंजी के निवेश को प्रोत्साहन देंगी जहां एक निश्चित अवधि में अधिक से अधिक लाभ हो। हम यह पहले ही देख चुके हैं कि ये शक्तियां किस प्रकार विकसित क्षेत्रों को और अधिक विकसित करने और जो क्षेत्र

पिछड़ जाते हैं उन्हें और पीछे की ओर ले जाने में सहायक होती है। केन्द्रीय रूप से आयोजना करने से इस स्थिति में सुधार हो भी सकता है और नहीं भी हो सकता। कुछ चुने हुए स्थानों पर बड़ी मात्रा में निवेश करने की योजना बनाना सरल होता है। एक समय तक ऐसी नीति से राष्ट्रीय उत्पादन तथा पूंजी के स्टाक में बहुत तेजी से वृद्धि होने की आशा भी हो सकती है। किन्तु अन्ततोगत्वा इससे गम्भीर आर्थिक एवं सामाजिक समस्याएं उत्पन्न हो जाती हैं। कुछ आर्थिक विवेचना के अनुसार रोजगार का स्तर निवेश की दर पर आधारित होता है। यह बात कुछ प्रयोजनों के लिए चाहे उपयोगी हो पर इसकी अपनी गम्भीर सीमाएं हैं। राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था को एक इकाई मान कर पूंजी के स्टाक की वृद्धि की दर को अधिकतम बनाने की नीति का अनुसरण करने से ही आर्थिक रूप से दबे हुए क्षेत्रों में बेरोजगारी की समस्या को हल नहीं किया जा सकता। यदि यह बात ग्रेट ब्रिटेन जैसे अपेक्षाकृत छोटे तथा विकसित देश के लिए भी सच हो सकती है तो संसार के कुछ बड़े घनी आबादी वाले और अल्प विकसित देशों के लिए भी सच हो सकती है। ऐसे देशों में आर्थिक तथा क्षेत्रीय विषमताएं ऐसे दबाव पैदा करती हैं जिनके कारण आर्थिक खर्च बढ़ जाता है और सामाजिक अवरोध पैदा हो जाते हैं। इस प्रकार आर्थिक नीतियां अनिवार्य रूप से बृहत्तर सामाजिक उद्देश्यों के परिवेश के अन्दर ही बनानी पड़ती हैं।

हाल के वर्षों में कृषि तथा उद्योग में तकनीकों के चयन के प्रश्न पर कुछ वाद प्रतिवाद हुआ है। उदाहरण के लिए गलेन्सन तथा लीबेन्स्टीन ने इस आधार पर पूंजी प्रधान तकनीकों का जोरदार समर्थन किया कि समय होने पर ये पूंजी निर्माण की दर को अधिकतम कर देंगी।[1] अल्प विकसित अर्थ व्यवस्थाओं में कुछ ऐसी बात होती है जो तकनीकों के चयन के प्रश्न को खास तौर पर दिलचस्प बना देती हैं। बहुत से अल्प विकसित देशों में अर्थ व्यवस्था के संगठित पूंजीवादी क्षेत्र की तकनीकों तथा घरेलू क्षेत्र की तकनीकों में आश्चर्यजनक विषमता होती है। भारत में बैलगाड़ी तथा रेलों के बीच जो अन्तर है उस प्रकार का अन्तर उद्योगों में भी देखने को मिल जाता है। निश्चय ही ऐसा नहीं कि यह बात भारत में ही हो। इस शताब्दी के आरम्भ में हम रूस के उदाहरण को लेते हैं।[2] हमें बताया गया है कि दक्षिण के लोहा उद्योग में उत्पादन के हिसाब से धमन भट्टियों का आकार जर्मन उद्योग की तुलना में बड़ा था और ब्रिटिश उद्योग की तुलना में भी डयौढ़ा था। "फिर भी उस समय रूस में औद्योगीकरण का स्तर जर्मनी या ब्रिटेन से बहुत नीचे था। कारखानों से इतर हस्तशिल्प उद्योगों में जिनमें कारखानों की तुलना में दुगुने व्यक्ति काम में लगे हुए थे उत्पादन की तकनीक आधुनिक

1 डब्ल्यू० गलेन्सन तथा एच० लीबेन्स्टीन इन्वेस्टमेंट क्राइटेरिया प्रोडक्टिविटी एण्ड इकनामिक डेवलपमेंट क्वाटरली जनरल आफ इकनामिक्स कम्ब्रिज मसेच्युसेट्स अगस्त 1955

2 मौरिस डाब सोवियत इकनामिक डवलपमेंट सिंस 1917 रूटलेज एण्ड केगन पाल लंदन 1948 पृ० 34

क्षेत्र की अपेक्षा बहुत अधिक श्रम प्रधान थी। इस प्रकार की परस्पर विरोधी स्थिति की क्या व्याख्या हो सकती है ?

इसका आंशिक स्पष्टीकरण इस बात से मिल जाता है कि ऊपर दिए गए उदाहरणों में आधुनिक क्षेत्र में निवेश के निर्णय प्रायः विदेशी निवेशकर्ताओं द्वारा प्रभावित थे जो न केवल आधुनिक अत्यधिक समुन्नत तकनीकों से परिचित थे बल्कि सम्भवतः अपने देशों के इसी तरह के उद्योगों से मशीनों का आयात कराने में उनका निहित स्वार्थ था। किन्तु यह किसी प्रकार से भी पूर्ण स्पष्टीकरण नहीं है। यद्यपि विकासशील देशों में पर्याप्त संख्या में श्रमिक उपलब्ध होते हैं तथापि उनमें से अधिकांश आधुनिक उद्योगों के लिए कुशल तथा पर्याप्त रूप से प्रशिक्षित नहीं होते हैं। प्रबंध के दृष्टिकोण से, इन परिस्थितियों में यह बहुत उचित प्रतीत होगा कि मुख्यतः अकुशल कर्मकारों के बड़े तथा अव्यवस्थित समूह तथा श्रम प्रधान रीतियों के आधार पर कारखाने चलाने के बजाय अपेक्षाकृत छोटे तथा सगठित श्रम बल एवं पूंजी प्रधान रीतियों का उपयोग करते हुए उद्योग चलाए जाएं। कतिपय उद्योगों और अन्य प्रकार के उत्पादक सगठनों में इस बात का स्पष्टतः बहुत महत्व होगा जब कि अन्य उद्योगों अथवा उत्पादक सगठनों में इसका महत्व न हो।

इससे एक बात उत्पन्न होती है जो आर्थिक सिद्धान्त के दृष्टिकोण से विशेष रुचि की है। 'पूंजी प्रधान' क्षेत्र में निवेश सम्बन्धी निर्णय उसी आधार पर नहीं किए जाते जिस आधार पर घरेलू क्षेत्र में किए जाते हैं। 'पूंजी प्रधान' क्षेत्र की किसी फर्म का लक्ष्य लगाई गई पूंजी पर शुद्ध आय या लाभ की दर को अधिक से अधिक करने का होगा। हमने 'पूंजी प्रधान' शब्दों को विशेष महत्व दिया है क्योंकि सरकारी क्षेत्र के उद्यम भी इन्हीं सिद्धान्तों का अनुसरण कर सकते है। घरेलू अर्थ-व्यवस्था भिन्न आधार पर चलाई जाती है। कोई भी सामान्य परिवार अवकाश की गुंजाइश रखते हुए चालू उत्पादन या आय को अधिक से अधिक करने का प्रयत्न करता है। परंतु फर्म एक अतिरिक्त व्यक्ति को नियोजित करना मुनासिब समझेगी यदि उसके परिणामस्वरूप आय में कम से कम उतनी वृद्धि हो जितनी वृद्धि कि मजूरी के खर्च में होगी। बाजार में प्रतियोगिता को देखते हुए इसका अर्थ यह हुआ कि सेवा-नियोजन को उस बिन्दु तक बढ़ाया जाएगा जहां श्रम की सीमान्त उत्पादिता उसकी मजूरी के बराबर हो। परिवार पर आधारित उद्यम में निवेश के निर्णय इस आधार पर नहीं किए जाते। जहां तक हो सके परिवार के सदस्यों का बहरहाल पालन पोषण करना होगा, इसलिए परिवार का सदस्य तब तक काम करता रहेगा जब तक वह कुल उत्पादन में कुछ भी सहायता कर सकता है। यदि हम सीमान्त उपयोगिता या अवकाश से सम्बन्धित मूल्य की अवहेलना कर दें तो हम कह सकते हैं कि श्रम उस बिन्दु तक किया जाएगा जहां इसकी सीमान्त उत्पादिता शून्य से जरा ऊपर है। अल्प विकसित देशों में उत्पादन की तकनीकों की पूंजी प्रधानता में जो बहुत अधिक विभिन्नताएं पाई जाती हैं उनका कुछ

कारण तो यह है कि संगठित और असंगठित क्षेत्रों में निवेश के निर्णय अलग-अलग आधारों पर किए जाते हैं तथा अर्थ-व्यवस्था के विभिन्न भागों में श्रम की पूर्ति के सम्बन्ध में परिस्थितियों में बहुत अधिक असमानता है।

अब प्रश्न यह है कि समूची राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था के लिए नीति विषय पर निर्णयों का उचित आधार क्या हो? कुछ बातों को ध्यान में रख कर देखा जाए तो समूचा राष्ट्र प्रायः एक परिवार की भांति है और उपलब्ध पूंजी के स्टाक पर लाभ की दर के बजाय उत्पादन को अधिकतम करने का लक्ष्य अधिक उचित प्रतीत होता है। *किन्तु यह तर्क भी दिया जा सकता है कि वर्तमान उत्पादन के बजाय वृद्धि की दर को* अधिक से अधिक किया जाना चाहिए। प्रश्न यह है कि दो उद्देश्यों के बीच संघर्ष कैसे उत्पन्न हो सकता है? यदि हम वर्तमान उत्पादन को अधिक से अधिक बढ़ाते हैं तो *क्या इसका अर्थ यह भी है कि हमने उत्पादन तथा उपभोग के बीच अन्तर में या दूसरे* शब्दों में निवेश के लिए जो अधिशेष है उसमें भी वृद्धि की है? ऐसा होना जरूरी नहीं है, क्योंकि अनुमान है कि बेकारी अनुदान (या कोई समाज इसे कुछ और नाम दे दे) मजूरी से कम होते हैं। यदि श्रम की सीमान्त उत्पादिता मजूरी तथा बेरोजगारों के बेकारी अनुदान के बीच के अन्तर से कम है तो वर्तमान सेवानियोजन तथा उत्पादन को बढ़ाने का प्रयास करके निवेश योग्य अधिशेष की मात्रा को काफी कम किया जा सकता है। अगर जिन लोगों को नया काम मिला है वे अपनी सारी मजूरी खर्च कर दें, और संयुक्त परिवार अपने आश्रित सदस्यों को जो बेकारी अनुदान देता रहा है अब उसे अपने खर्च में ले आए और साधनों का इस प्रकार पुनर्विभाजन हो कि अधिक उपभोग सम्भव हो जाए तो वस्तुतः, उपभोग में उससे कहीं अधिक वृद्धि होगी जितनी कि यहां बताई गई है। किन्तु इस बात को भी ध्यान में रखा जाना चाहिए कि बढ़ा हुआ उपभोग खास तौर पर समाज के गरीब वर्गों में, अपने-आप में अच्छा है, और चूंकि आजीविका, स्वास्थ्य और कार्यकुशलता परस्पर सम्बन्धित हैं, इसलिए उपभोग तथा निवेश के बीच उस स्तर पर बहुत बड़ी विभाजक रेखा खींचना सम्भवतः एक गलती होगी।

इस प्रकार की समस्या विकसित अर्थ-व्यवस्थाओं के लिए इतनी महत्वपूर्ण नहीं है क्योंकि यह माना जा सकता है कि पूर्ण रोजगार के स्तर पर श्रम की सीमान्त उत्पादिता पर्याप्त रूप से अधिक होगी और इसलिए इन देशों को सामान्यतः ऊपर वर्णित कठिनाई का सामना नहीं करना पड़ेगा। इसके अलावा, औद्योगिक रूप से उन्नत देशों में विभिन्न क्षेत्रों में श्रम की उत्पादिता में इतना अधिक अन्तर नहीं होता और इस विचार से राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था काफी एकरूप होती है। अल्प विकसित अर्थ-व्यवस्थाओं में स्थिति बिल्कुल भिन्न होती है। वहां कृषि तथा संगठित उद्योग तथा व्यापार के बीच और विभिन्न प्रदेशों के बीच मजूरी तथा श्रम की उत्पादिता की भारी विषमता होती है। *विभिन्न क्षेत्रों तथा प्रदेशों के लिए तकनीकों के चयन में इन विषमताओं को ध्यान* में रखना होगा। कुछ लोगों ने सुझाव दिया है कि उन्नत क्षेत्रों में तकनीकों का चयन

वास्तविक मजूरी के आधार पर न होकर श्रम के कल्पित मूल्य के आधार पर किया जाना चाहिए। किसी उत्पाद का कल्पित मूल्य या उत्पादन का कारक इसके बाजार मूल्य स भिन्न होता है जिससे वह इसके सामाजिक लाभ या लागत को अधिक सही रूप से प्रतिबिम्बित कर सकता है। जैसे-जैसे उन्नत क्षेत्र का विस्तार होता है वैसे वैसे यह पिछड़े हुए उद्योगों से श्रमिक लेता जाता है। यह तर्क दिया जा सकता है कि इन परिस्थितियों में श्रम की सामाजिक लागत उतनी ही होगी जितना इस श्रम द्वारा अर्थ-व्यवस्था के असंगठित क्षेत्र में उत्पादन किया जाता। किन्तु इस समस्या को और तरह भी हल किया जा सकता है। आधुनिक क्षेत्र में अधिक श्रम नियोजन को प्रोत्साहित करने के लिए यह सुझाव दिया गया है कि उद्योग को मजूरी पर होने वाले व्यय के आधार पर आर्थिक सहायता दी जानी चाहिए।

आधुनिक क्षेत्र में श्रमिकों के रोज़गार को बढ़ाने के लिए कुछ भी उपाय किए जाएं देहाती क्षेत्रों तथा पिछड़े क्षेत्रों के लोग एक लंबे समय तक देहातों में ही रहते रहेंगे। उनके लिए उत्पादन कार्य के अवसर उन क्षेत्रों के आसपास ढूंढने होंगे जहां वे रहते हैं अन्यथा अल्प विकसित क्षेत्रों की समस्या हल नहीं हो पाएगी। इसलिए उत्पादन की तकनीकों को क्षेत्रीय आधार पर, उपलब्ध श्रम तथा ससाधनों के अनुरूप बनाना होगा। एक अर्थ में देखा जाए तो प्रत्येक अल्प विकसित देश समूचे संसार की समस्याओं को एक छोटे पैमाने पर प्रस्तुत करता है। आज की दुनिया विकसित तथा अल्प विकसित अमीर तथा गरीब राष्ट्रों में बटी है। यदि आगामी विकास को पूर्णतः बाजार की मुक्त शक्तियों पर छोड़ दिया जाए तो यह सम्भव है कि उन्नत देश आने वाले काफी समय तक सारे विनियोग के एक प्रमुख भाग को अपनी ओर आकृष्ट करते रहेंगे। समूचे संसार को एक इकाई मानने हुए कोई भी यह तर्क नहीं देता कि पिछड़े क्षेत्रों की गरीबी तथा बेरोजगारी की समस्याएं उन्नत क्षेत्रों में अधिक सेवानियोजन तथा पूंजी निर्माण से हल की जा सकती हैं। किन्तु अपने अपने देशों में विकसित तथा अल्प विकसित क्षेत्रों के बारे में भी यह बात काफी हद तक सही है। अमरीकी अर्थ-व्यवस्था में गति-शीलता भी है और ससाधनों के बावजूद देश के कुछ भाग तो समृद्ध हो गए परंतु कुछ भाग फिर भी निर्धन ही रह गए। यह सच है कि विकास की प्रारम्भिक अवस्था में कुछ क्षेत्रीय विषमताएं प्रायः अपरिहार्य होती हैं और सभी क्षेत्रों के समान विकास पर अधिक ज़ोर देने से संसाधनों का दुरुपयोग होने लगता है। किन्तु इस बात की जानकारी होना जरूरी है कि अलग अलग देशों के अन्दर तथा समूचे संसार में अल्प विकसित क्षेत्रों की समस्या विद्यमान है। तकनीकों के चयन के सम्बन्ध में आवश्यक निष्कर्ष भी इसीसे निकाले जाने चाहिए। संसार के औद्योगिक रूप से पिछड़े हुए देश विकास कार्यक्रम को आरम्भ करते समय उन्नत देशों से टेक्नालाजी उधार ले लेते हैं। अधिक से अधिक लोग अब इस बात को समझने है कि बाहर से टेक्नालाजी को लेने के बाद उसे सफल बनाने के लिए अपने अनुकूल बनाना होता है। विकासशील देशों और विकसित देशों में

उत्पादन के उपादान एक-दूसरे से बहुत भिन्न होते है और दोनो के प्राकृतिक तथा सास्कृतिक परिवेश मे भी बहुत अन्तर होता है। इन सब बातो के कारण टेक्नालाजी को अनुकूल बनाने मे काफी अनुसधान और नवीन प्रक्रियाओ का निर्माण करना पड़ता है। विकासशील देश के अन्दर विकसित और पिछडे क्षेत्रो के बीच टेक्नालाजी आदि को लेने और सावधानीपूर्वक उसे प्रदेश विशेष के अनुकूल बनाने की प्रक्रिया भी इसी तरह चलती रहती है।

अमीर राष्ट्रो की अत्यधिक समुन्नत टेक्नालाजी के साथ एक प्रतिष्ठा जुडी होती है। किसी 'कम' उन्नत चीज को स्वीकार करना विज्ञान की अवहेलना सी प्रतीत होती है। किन्तु यह विज्ञान के कार्य के सम्बन्ध में एक गलत धारणा है। विज्ञान का अर्थ नकल करना नही है बल्कि परीक्षण के आधार पर समस्याओ का समाधान खोजना है। जहा समस्याए भिन्न होनी है वहा हल भी उन्हीके हिसाब से भिन्न होगे। इस बात का स्पष्टीकरण अमरीका तथा जापान मे कृषि के सदर्भ मे पहले किया जा चुका है। अमरीका मे श्रम को बचाने वाली कृषि की सारी की सारी मशीनें लेकर घनी आबादी वाले देशो की समस्याओ को हल नही किया जा सकता। उद्योग के सम्बन्ध मे भी यह बात ठीक बैठती है। अल्प विकसित देशो को सावधानीपूर्वक देखभाल कर तथा प्रयोगो के द्वारा एक ऐसी टेक्नालाजी तैयार करनी होती है जो उनके परिवेश की आवश्यकताओ के लिए उपयुक्त हो। कुछ लोग इसे मध्यवर्ती टेक्नालाजी कहते हैं किन्तु नाम से कोई अन्तर नही पड़ता। अन्तर पड़ता है इसके कार्य से। 'इन्टरनेशनल डेवलपमेंट रिव्यू' (जून 1965) मे 'जान्स, फूड एण्ड पीपल' शीर्षक से प्रकाशित लेख मे गुन्नार मरडल ने समस्या के आधारभूत स्वरूप का सकेत दिया। उसने लिखा 'कई कारणो से अमीर देशो को अपने विकास के दौरान विशाल तथा बढते हुए श्रम अधिशेष को कृषि में नियोजित करने की आवश्यकता नही पडी। उनका अनुसधान का उद्देश्य कम जन-शक्ति से अधिक उत्पादन प्राप्त करना होता है। अल्प विकसित देशो के लिए यह रास्ता नहीं है।'[1]

कुछ उद्योग ऐसे हैं जिनकी उत्पादन की तकनीकें विभिन्न देशों मे लगभग एक जैसी होगी। उदाहरण के लिए, चीन द्वारा घर के पिछवाडे मे लोहे के उत्पादन के प्रयोग के बावजूद लोहे तथा इस्पात के सम्बन्ध मे यही स्थिति है। इन विशाल उद्योगो का एक बड़े देश की अर्थ-व्यवस्था में अनिवार्यतः एक छोटा-सा स्थान होता है। इसके अलावा गाव तथा कस्बो मे अनेक प्रकार की उत्पादक गतिविधिया फैली होनी चाहिए जो बढती हुई जनसख्या को रोजगार देने का प्रमुख साधन हो। महानगरो और उनके आसपास का औद्योगिक समूह आधुनिक टेक्नालाजी को इसके बहुत भव्य रूप मे प्रदर्शित करते है तथापि इस प्रकार के श्रम तथा विज्ञान के उत्पादक प्रयोग के साधारण किन्तु विस्तृत

1 अपनी प्रमुख रचना 'एशियन ड्रामा' (पैथियान, न्यूयार्क, 1968), मे गुन्नार मरडल ने इस समस्या के बारे मे विस्तार से चर्चा की है।

अवसरों के द्वारा ही उद्यम की भावना तथा निवेश के प्रति जागरूकता देहातों में प्रवेश कर सकती है और उन ससाधनों को जुटाने में सहायता कर सकती है जिनका अन्यथा उपयोग हो ही नहीं पाता। यह अवश्य है कि पहले से विकसित क्षेत्रों में निवेश को बढ़ा कर थोड़े ही समय में निश्चय ही आय में वृद्धि की जा सकती है परन्तु प्रादेशिक रूप से सतुलित विकास करने से लंबे अरसे में अधिक लाभ होने की सम्भावना है।

प्रादेशिक समस्याओं को विशेष रूप से सामने रखते हुए विकास करने की विचारधारा की इस आधार पर आलोचना की जा सकती है कि इस विचारधारा में आर्थिक विकास के सदर्भ में, राज्य के क्षेत्रीय अधिकार क्षेत्र को इकाई नहीं माना जाता। इस विषय पर ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में विचार करना उपयोगी होगा। पश्चिम में, औद्योगीकरण के साथ-साथ, योरप कई राष्ट्रों में बट गया और इनमें जो घरेलू मंडियां थी वे आपस में मिल गईं। सयुक्त राज्य अमरीका में, विशेष रूप से 1825 के बाद से, सघटक राज्यों ने स्वायत्तता के लिए जोरदार आग्रह किया। प्रादेशिक विकास के लिए प्रादेशिक स्वायत्तता होना ही पर्याप्त नहीं होता वरन इसके लिए केन्द्रीय सहायता तथा ताल मेल की आवश्यकता होती है। किन्तु केन्द्रीकरण की प्रवृत्ति भी सीमा से अधिक जा सकती है।

बड़ी तथा एकीकृत घरेलू मंडी कुछ उद्योग के लिए बहुत लाभकर हो जाती है क्योंकि ये उद्योग इस आधार पर अधिक प्रभावी ढंग से कार्य कर सकते हैं। इनके अलावा अन्य उद्योगों के लिए स्थानीय आधार लाभकर होता है। विकास की प्रारम्भिक अवस्था में जैसे पनपते हुए उद्योगों के लिए राष्ट्र सरक्षण की नीति अपनाना है वैसे ही देश के भीतर के प्रदेशों में प्रगति की क्षमता वाले उद्योगों के लिए विशेष सहायता की आवश्यकता होती है। इसका अर्थ यह नहीं कि इस प्रकार की सभी क्षेत्रीय मांगें न्यायोचित हैं। अब प्रश्न यह है कि उद्योग का चयन किस आधार पर किया जाना चाहिए? बहुत हद तक, राष्ट्रीय स्तर पर अथवा प्रादेशिक स्तर पर, उद्योगों के स्थान निर्धारण के लिए मापदण्ड लगभग एक से होते हैं। उन उद्योगों को सरक्षण प्रदान किया जाना चाहिए जो विशेष सहायता की अवधि समाप्त होने पर बिना सहारे स्वतंत्र तथा उचित प्रतियोगिता में कायम रह सकें और उन्हें केवल कुछ सुविधाएं हों जैसे उन्हें स्थानीय रूप से कच्चा माल उपलब्ध हो तथा वे अन्तिम उपभोक्ता के नजदीक हो ताकि परिवहन की लागत कम हो। हो सकता है कुछ उद्योग पिछड़े क्षेत्रों में विकास न कर सकें क्योंकि अन्य परिस्थितियां अनुकूल नहीं होतीं। इसलिए जब तक उन्हें, जो आवश्यक सुविधाएं उपलब्ध नहीं हैं उनको उपलब्ध कराने के लिए उपाय किए जाए, तब तक उन्हें सहारे की आवश्यकता हो सकती है किन्तु जिस उद्योग की स्थायी रूप से देखभाल करनी पड़े वह तो स्थायी जिम्मेदारी बन जाएगा। इसलिए, उसे सरक्षण नहीं देना चाहिए। एक ही प्रमुख बिन्दु है जहा आकर राष्ट्रीय तथा उपराष्ट्रीय स्तर पर इस तर्क की एकरूपता भग होती है। जिन उद्योगों का सम्बन्ध किसी बाहरी आक्रमण से रक्षा के

कार्य से होता है उन्हें तुलनात्मक लाभ का विचार किए बिना सरक्षण दिया जाता है। प्रादेशिक आर्थिक नीति में भी राष्ट्रीय सुरक्षा को छोड़ कर इस प्रकार की बातों पर विचार नहीं किया जा सकता। उन्नीसवीं शताब्दी में योरप का अनेक राज्यों में विभाजन आर्थिक दृष्टिकोण से निरी बुराई ही नहीं था। इस विभाजन के कारण ही योरप का विविधतापूर्ण और सम्यक् रूप से फैला हुआ आर्थिक विकास हुआ जो अन्यथा न हो पाता। इस विभाजन की प्रमुख आर्थिक लागत यह थी कि इसके नतीजे के तौर पर युद्ध हुआ।

10

विज्ञान, शिक्षा और विकास

पिछले दो सौ वर्षों मे वैज्ञानिक सिद्धान्त तथा व्यवहार के बीच जो अन्तर्क्रिया हुई है वह टेक्नालाजी के क्षेत्र में हुई प्रगति का एक अत्यधिक मनोहारी पहलू है।

यह सुविदित है कि कैसे सिद्धान्त प्राय व्यवहार से बहुत आगे निकल जाता है। हम एक उदाहरण लेते है। ऊष्मागतिकी तथा विद्युत चुम्बकीय विज्ञानो का आधार उन्नीसवी शताब्दी के आरम्भ म प्रस्तुत किया गया था।[1] किन्तु शुद्ध भौतिक विज्ञान की इस उल्लेखनीय उन्नति का उन्नीसवी शताब्दी मे उद्योगो पर बहुत थोडा प्रभाव पडा। औद्योगिक क्रांति का मूल आविष्कार शक्ति चालित मशीनो का उपयोग था। यह आविष्कार अठारहवी शताब्दी म किया गया था और उन्नीसवी शताब्दी म व्यावहारिक व्यक्तियो ने जिनकी नये भौतिक विज्ञान की बहुत थोडी जानकारी या इसमें दिलचस्पी थी इसका आगे विकास तथा विस्तार किया। उन्नीसवी शताब्दी म ससार के अत्यधिक समुन्नत देशो म भी अधिकाश उद्योग अठारहवी शताब्दी के विज्ञान पर ही आश्रित थे।

किन्तु व्यवहार भी सिद्धान्त से आगे निकल जाता है और इसकी ओर सदैव उचित रूप से ध्यान नही दिया जाता। यान्त्रिक समस्याओ का सैद्धान्तिक समाधान होने से पहले ही प्राय इन्हे व्यावहारिक रूप से हल कर लिया जाता है। इस शताब्दी के अन्त म भाप इजन से लेकर भाप के टरबाइन का उत्तरोत्तर विकास—जिसमें पृथक कडसर और मिश्र सिलिडर तक शामिल हैं—व्यावहारिक रूप से पहले हो गया था जब कि ऊष्मागतिकी के सैद्धान्तिक विवेचन म समाधान बाद म हुआ।[2] इस प्रकार सिद्धान्त

---

1 विद्युत के चुम्बकीय प्रभावो के सम्बन्ध मे ओसटड की खोज के परिणामस्वरूप विद्युत चुम्बक तथा विद्युत मोटर का विकास हुआ। 1831 मे फैराडे ने चुम्बक को विद्युत मे परिवर्तित करने की विपयय रीति की खोज की और अगली दशाब्दी मे जूल ने विद्युत ताप और यान्त्रिक शक्ति के परिमाणात्मक सम्बन्धो के बारे मे बहुत ही सूक्ष्म हिसाब लगाए। इस प्रकार आधुनिक भौतिक शास्त्र ने विद्युत शक्ति के परिरक्षण तथा इसके विभिन्न रूपो की परस्पर परिवर्तनीयता के सिद्धान्त की खोज की और इसे व्यवस्थित रूप दिया जो ऊष्मागतिकी का प्रथम नियम है। इसके साथ ही यान्त्रिक कार्य के लिए उपलब्ध विद्युत शक्ति की मात्रा की सीमाओ का अन्वेषण भी किया गया। इससे ऊष्मागतिकी का दूसरा नियम अस्तित्व मे आया।

2 ज० डी० बर्नाल साइस एण्ड इण्डस्ट्री इन दी नाइन्टीन्थ सन्चुरी, रूटलेज एण्ड केगन पाल लदन 1953 पृ० 27

का काम व्यवहार में जो चीज आ गई है उसके लिए तार्किक आधार प्रस्तुत करना था। किन्तु कभी-कभी व्यवहार में ऐसी समस्याएं आ जाती हैं जिनका कोई व्यावहारिक समाधान नहीं हो पाता तब सिद्धान्त को रास्ता बताना होता है। बीसवीं शताब्दी में विज्ञान ने जो प्रमुख भूमिका निभाई, वह सर्वविदित है।

टेक्नालाजी के क्षेत्र में होने वाली प्रगति केवल वैज्ञानिकों पर ही नहीं वरन् समूची सामाजिक परिस्थितियों पर निर्भर होती है, क्योंकि विज्ञान का व्यावहारिक प्रयोग उन परिस्थितियों पर ही निर्भर होता है। इस बात को एक उदाहरण देकर स्पष्ट किया जा सकता है। उन्नीसवीं शताब्दी में अमरीका तथा रूस की तुलना कीजिए। यदि वैज्ञानिक अनुसंधान की परम्परा का प्रश्न होता तो रूस को अपनी उपलब्धियों पर गर्व हो सकता था। लोमोनोसोव के उद्यम तथा नेतृत्व के कारण विज्ञान ने देश की अकादमियों तथा विश्वविद्यालयों में अपना उचित स्थान बना लिया। पिछली शताब्दी में रूस ने जेकोबी, लोबाचेव्स्की और मेंडेलीव जैसे प्रतिभावान वैज्ञानिक पैदा किए। किन्तु रूस अमरीकी आविष्कर्ताओं की चेतनता का मुकाबला नहीं कर सकता था। विज्ञान के व्यावहारिक प्रयोग में रूस पीछे रह गया, जबकि अमरीकी अर्थ-व्यवस्था ने अपनी गतिशीलता के कारण विशिष्ट स्थान प्राप्त किया। इसी प्रकार की विषमता अठारहवीं शताब्दी में इंग्लैंड तथा फ्रांस के बीच देखी जा सकती है। फ्रांस ने बड़े-बड़े वैज्ञानिक तथा गणितज्ञ पैदा किए, किन्तु इंग्लैंड में विज्ञान तथा उद्योग के बीच निकट का सम्बन्ध था। सेंट साइमन ने भविष्य के लिए कल्पित नए समाज का नेतृत्व, संयुक्त रूप से वैज्ञानिकों तथा उद्योगपतियों के हाथ में दे दिया।

वैज्ञानिक खोज, आविष्कार और नवीन प्रक्रिया के बीच भेद करना सामान्य बात है। वैज्ञानिक खोज का सम्बन्ध कार्य की अपेक्षा जानकारी से अधिक होता है, इसका काम प्रकृति की क्रियाविधि की अन्दर से खोज करना है तथा उस अन्तर्दृष्टि को वर्तमान व्यवस्थित ज्ञान में सम्मिलित करना होता है। गुरुत्वाकर्षण का नियम वैज्ञानिक खोज का एक उदाहरण है। आविष्कार का सम्बन्ध किसी परिणाम को प्राप्त करने के लिए काम की नई रीति या किसी उपकरण से होता है। अठारहवीं शताब्दी में भाप का इंजन एक आविष्कार था। नवीन प्रक्रिया से कोई काम कर लेना विकास या आविष्कार से कुछ भिन्न होता है। आर्थिक विकास के विद्यार्थी के लिए यह भेद महत्वपूर्ण है। आविष्कार मनुष्य को कुछ करने या बनाने की क्षमता प्रदान करता है। किन्तु इसे बनाने की लागत इतनी अधिक हो सकती है कि इसे बनाना वाणिज्यिक रूप से लाभकर न हो। इसका विकास करने तथा इसे आर्थिक रूप से उपयोगी बनाने के लिए काफी अनुसंधान करना आवश्यक है। विमानन का पर्याप्त रूप से विकास किया गया जिससे सारे संसार में वाणिज्यिक आधार पर उड़ान भरी जा सकती हैं किन्तु चन्द्रमा को जाने वाली उड़ान अभी इस श्रेणी में नहीं आती। वैज्ञानिक अनुसंधान का सम्बन्ध वस्तुतः खोज तथा आविष्कार एवं नवीन प्रक्रिया या विकास से है। नवीन प्रक्रिया निकाल कर कोई काम कर लेने की अवस्था

वैज्ञानिक अनुसधान की वह अवस्था है जिसका सीधा उपयोग अथवा आर्थिक जीवन मे मूल्य है। अक्सर यह समझा जाता है कि विशुद्ध विज्ञान का अध्ययन या उसे आगे बढाने का काम सम्भ्रात वर्ग का है। किन्तु आर्थिक परिणामो की प्राप्ति के विचार से विज्ञान के विकास पर विशेष ध्यान हाल मे ही दिया जाने लगा है।

उन्नीसवी शताब्दी मे अधिकाश आविष्कार तथा नवीन प्रक्रियाए निजी रूप मे किए गए प्रयत्नो का परिणाम थी। आविष्कर्ता तथा नवीन प्रक्रिया के स्थापक स्वय ऐसे व्यक्ति थे जिनका वैज्ञानिक प्रशिक्षण सीमित था। जे० डी० बेर्नाल लिखता है '(उन्नीसवी) शताब्दी के अन्त मे भी प्रमुख नवीन प्रक्रियाए ऐसे आविष्कर्ताओ द्वारा निकाली जा रही थी जो विश्वविद्यालयो मे पढे-लिखे नही थे और जिन्होने अपनी आवश्यकता के अनुसार थोडे-बहुत विज्ञान की जानकारी पुस्तको तथा वर्कशापो तथा अपने हाथो से बनाई गई प्रयोगशालाओ मे अपने अनुभव से प्राप्त की थी।'[1] उस समय आविष्कारो को प्रोत्साहन देने का शक्तिशाली तरीका यह था कि आविष्कर्ता को उसके द्वारा आविष्कृत प्रक्रिया या पेटट दे दिया जाता था। इससे वह एक निर्धारित समय के लिए इसे लाभप्रद रूप मे काम मे ला सकता था जिसमे उसके कोई प्रतियोगी नही होते थे। अन्ततोगत्वा, एक सफल आविष्कार को व्यापक रूप से अपना लिया जाता था या यो कहिए कि इसका समाजीकरण हो जाता था। किन्तु तब तक इसे उपयोग मे लाना विशेष रूप से लाभकर नही रह जाता था।

इस सम्बन्ध मे, उन्नीसवी शताब्दी की समाप्ति के बाद से परिस्थितिया बहुत बदल गई हैं। अब प्रमुख नवीन प्रक्रियाए वस्तुत उन प्रशिक्षित अनुसधानकर्ताओ द्वारा किए गए सामूहिक काय का परिणाम है, जो पर्याप्त वित्तीय ससाधनो वाली बडी सस्थाओ मे काम करते हैं। इस सम्बन्ध मे, एकाधिकार प्राप्त बडी फर्मे सीमित ससाधनो वाली छोटी फर्मो की तुलना मे अधिक अच्छी स्थिति मे होती है। यह बात एल्फ्रेड मार्शल के दिनो मे स्पष्ट होने लगी थी। *उसने कहा था कि बडी फर्मे अनुसधान तथा उत्पादन की रीतियो* मे सुधार पर प्राय अधिक खर्च करती है। एकाधिकार तथा आर्थिक विकास के सम्बन्ध का आकलन करते हुए इस बात को याद रखना चाहिए। रुकी हुई अर्थ-व्यवस्था मे वे गतिरोध का कारण बन जाते है, किन्तु गतिशील अर्थ-व्यवस्था मे वे नवीन प्रक्रियाओ तथा नियत्रित गतिशीलता के प्रमुख स्रोत के रूप मे कार्य करते है। बडे उद्योगो के अलावा सरकार को विकास कार्य सगठित करने तथा अनुसधान के लिए रुपया जुटाने मे प्रमुख भूमिका निभानी चाहिए। चूकि अनुसधान तथा विकास के परिणाम समूचे समाज को प्राप्त होते हैं इसलिए इस मद पर पूजी निवेश से आधारभूत सामाजिक पूजी का निर्माण होता है। अत यह उचित ही है कि सरकार को इसके सवर्धन मे प्रमुख रूप से योगदान करना चाहिए तथा विश्वविद्यालयो को भी अनुसधान की दिशा मे प्रमुख भूमिका निभानी चाहिए।

विकासशील देशो मे, शुद्ध विज्ञान तथा ऊपर बताई गई अनुसधान की उत्तरवर्ती

1 जे० डा० बेर्नाल, उपर्युक्त, पृ० 151

प्रावस्थाओं में से सापेक्षिक रूप से किसको महत्व दिया जाना चाहिए, यह चर्चा का विषय रहा है। विकास के मार्ग पर विलम्ब से अग्रसर होने वाले देश समुन्नत देशों से वैज्ञानिक खोज की नवीनतम जानकारी सीखते हैं या उधार लेते हैं, किन्तु उन्हें इस ज्ञान को अपने अनुकूल बनाना पड़ता है और अपनी निजी आवश्यकताओं के अनुरूप और आविष्कार करने पड़ते हैं तथा जीवन प्रक्रियाएं निकालनी पड़ती हैं। विकासशील देशों में वैज्ञानिक अनुसंधान को काफी हद तक विकासोन्मुख बनाने की आवश्यकता है।

किन्तु, शुद्ध विज्ञान में कुछ हद तक काम किए बिना वैज्ञानिक विकास के बारे में जानकारी रखना सम्भव नहीं होता, और कई बार विज्ञान की अत्यधिक विकसित शाखा ही व्यावहारिक रूप से बहुत महत्व की होती है। शुद्ध विज्ञान में दिलचस्पी के साथ इसके व्यावहारिक उपयोग के इस सम्मिश्रण के लिए वांछित संस्थागत आवश्यकताओं पर अब हम थोड़ा विचार करेंगे।

कुछ विकासशील देशों में काफी लागत से राष्ट्रीय प्रयोगशालाएं और अनुसंधान संस्थाएं स्थापित की गई हैं। यह सब बहुत ही प्रशंसनीय प्रयास है किन्तु किसी अनुसंधान संस्थान के बाहरी कलेवर का निर्माण उस वातावरण को उत्पन्न करने की अपेक्षा सुगम है, जिसमें वैज्ञानिक अनुसंधान फलता-फूलता है। व्यावसायिक स्तर कायम करना, एक-दूसरे *के सहयोग से मिलकर कार्य करने की आदत डालना, सत्यान्वेषण में तटस्थ भाव से खुलकर* आलोचना करने और उसे स्वीकार करने की भावना पैदा करना और वैज्ञानिक तथा अवैज्ञानिक के बीच भेद करना तथा इस भेद के आधार पर वैज्ञानिक कार्य के लिए पुरस्कृत करना कोई सरल बात नहीं है। जहां एक ओर अनुसंधान संस्थाओं में बौद्धिक स्तर को ऊंचा करना आवश्यक है वहां अनुसंधानशालाओं तथा उद्योगों के बीच निकट सम्बन्ध कायम करना भी महत्वपूर्ण है। इसकी जिम्मेदारी दोनों को ग्रहण करनी चाहिए। उद्योगों को भी अनुसंधानोन्मुख होना चाहिए। राष्ट्रीय अनुसंधानशालाओं को उनके सामने प्रस्तुत की गई या औद्योगिक व्यवहार से उत्पन्न समस्याओं के सम्बन्ध में कार्य करने के लिए तैयार रहना चाहिए। किन्तु फर्मों को यह आशा नहीं करनी चाहिए कि उन्हें अपनी व्यक्तिगत समस्याओं के लिए पूर्णतया तैयार हल मिल जाएंगे। अधिक से अधिक लाभ प्राप्त करने के लिए विकास की प्रावस्था में कुछ अनुसंधान कार्य औद्योगिक उद्यमों को अपने यहां कराना चाहिए। विभिन्न संस्थाओं तथा विश्वविद्यालयों में अनुसंधान केन्द्रों के बढ़ जाने के कारण कुछ देशों ने इन नानाविध गतिविधियों के समन्वय तथा उनको बढ़ावा देने के लिए राष्ट्रीय परिषदें बनाना उपयोगी समझा है। ऐसे समन्वय के अभाव में बहुत-से कार्य ऐसे होते हैं जिन पर कई जगह एक साथ काम हो जाता है जिससे बचा जा सकता है और लगातार एकत्र की जा रही बहुत-सी जानकारी 'संग्रह' करने की उचित व्यवस्था न होने के कारण नष्ट हो जाती है। अनुसंधान कार्य का राष्ट्रीय स्तर पर निरन्तर सर्वेक्षण करने से गलत प्राथमिकताओं का पता लगाना तथा उनका उपचार करना भी आसान हो जाता है। इसके अलावा, केन्द्रीय निकाय, जहां आवश्यक होता है वहां विज्ञान

की कई शाखाओं के मिले जुले अध्ययन को बढ़ावा दे सकता है। सार्वजनिक नीति में सम्बन्धित विषयों के बारे में अनुसंधान के लिए ऐसा करना खास तौर पर उपयोगी होता है।

हाल के वर्षों में वैज्ञानिक प्रतिभा के देश से बाहर चले जाने की समस्या पर व्यापक चर्चा हुई है। जैसे किसी एक देश म महानगर अन्य सभी क्षेत्रों से सर्वाधिक शिक्षित व्यक्तियों को खींच लेते हैं उसी प्रकार सारे संसार में इस समय अल्प विकसित देशों के वैज्ञानिक तथा तकनीशियन बड़ी संख्या म अत्यधिक उन्नत देशों में चले जाते हैं। वैज्ञानिकों के दूसरे देशों म जाने से उनकी सेवाओं के लिए ऊंची कीमत मिलती है और यही 'प्रतिभा प्रवास' का कारण है। प्रश्न यह है कि आर्थिक विकास पर इस प्रक्रिया का प्रभाव किस प्रकार पड़ता है।

कुछ लोगों ने तक दिया है कि वैज्ञानिकों तथा विशेषज्ञों क कम आय वाले देशों से ऊंची आय वाले देशों में चले जाने से कोई विशेष आर्थिक समस्या खड़ी नहीं होती। चूंकि जिन देशों में वे जाते हैं वहां उनकी सेवाओं की ऊंची कीमत मिलती है इसलिए यह मान कर चलना होगा कि वे वहां पर अधिक मूल्यवान सेवा कर रहे हैं। यह सुविदित है कि अधिक समृद्ध समाज वैज्ञानिक काय के लिए अधिक अच्छे अवसर उपलब्ध करते हैं। अत यह आशा करना युक्तियुक्त है कि बाहर जाने वाले व्यक्ति विदेशों म उससे कहीं अधिक अच्छा काय कर दिखाएंगे जैसा कि वे अपने देश म रह कर करते। ज्ञान एक प्रकार से अन्तर्राष्ट्रीय सम्पत्ति है। अनुसंधान क परिणाम तैयार होने पर अमीर तथा गरीब सभी देशों को एक समान उपलब्ध हो जाते हैं। अत वैज्ञानिकों तथा विशेषज्ञों के सम्बन्ध म पूर्ण स्वतंत्रता की नीति का अनुसरण करना अच्छा है। चूंकि विदेशों में काम करने वाले व्यक्ति अपने देश में रिश्तेदारों को पैसा भेजते रहते हैं और चूंकि वे अपने देश में किसी तरह भी संतोषजनक काम नहीं प्राप्त कर सकते थे इसलिए 'प्रतिभा प्रवास' को हानि नहीं माना जा सकता।

किन्तु यह तक देखने म जितना दृढ़ लगता है वास्तव म उतना दृढ़ नहीं है। इस बात से कि सेवा क लिए विदेशी बाजार म ऊंची कीमत मिलती है यह सिद्ध नहीं होता कि इससे अधिक अपरिहार्य आवश्यकता की भी पूर्ति होती है। जहां सेवा को खरीदने वाले दो बिल्कुल अलग आय वर्गों से सम्बन्ध रखते हों वहां धन की सीमान्त उपयोगिता दोनों वर्गों क लिए लगभग कहीं नहीं हो सकती। एक अमीर आदमी किसी डाक्टर को एक गरीब आदमी की अपेक्षा दस गुना अधिक फीस देने में समथ हो सकता है किन्तु इसका अथ यह नहीं कि उसकी जरूरत दस गुना बड़ी है। इंग्लैंड में काम करने वाले भारतीय डाक्टर वहां पर इसलिए मूल्यवान सेवा नहीं कर रहे हैं कि उन्हें वहां कमाई अधिक होती है। इसी प्रकार गरीब देश अपने अनुसंधान-कर्ताओं को अमीर देशों की भांति पारिश्रमिक देने म समथ नहीं होते इससे यह सिद्ध नहीं होता कि इन समस्या प्रधान देशों में अनुसंधान की कम आवश्यकता है। ज्ञान सब की सम्पत्ति है—यह बात बड़ा-

चढ़ा कर नहीं गई है। बहुत ऊंचे स्तर पर यह बात सही हो सकती है। किन्तु संसार के सभी देशों पर यह बात लागू नहीं होती। विभिन्न देशों की व्यावहारिक समस्याएं एक सी नहीं हैं। अमीर समाजों में अधिकांश अनुसंधान-कार्य ऐसी समस्याओं के सम्बन्ध में किए जाते हैं जो उनकी आवश्यकताओं के अनुरूप हों। गरीब देशों में, वहां की समस्याओं पर कार्य करने के लिए वैज्ञानिकों की आवश्यकता होती है। वैज्ञानिक कार्य की अच्छी से अच्छी परम्परा कायम करने के लिए भी उनकी बड़ा आवश्यकता है। वैज्ञानिक कार्य में जो रुकावटें आती हैं, उनको दूर करना भी उनके काम का एक भाग है, इसलिए वे यह मान नहीं कर सकते कि पहले रुकावटें दूर कर दी जाए तब वे कार्य शुरू करेंगे। अल्प विकसित देशों को विकसित देशों के साथ सम्पर्क बनाए रखने तथा उनसे जानकारी तथा तकनीकें उधार लेने की आवश्यकता होती है। किन्तु इस जानकारी तथा इससे सम्बद्ध तकनीकों को अल्प विकसित देशों के बिल्कुल भिन्न परिवेश में प्रयोग में लाने से समस्याएं पैदा होती हैं जिनका मौके पर ही हल किया जा सकता है। प्रतिभा प्रवास के कारण मौके पर इस प्रकार का काम करने के लिए वैज्ञानिकों की कमी हो जाने से यह एक समस्या बन जाती है। इस सम्बन्ध में मुक्त बाजार के सिद्धान्त के निर्बाध प्रभाव बहुत संतोषजनक नहीं है।

किन्तु, कुछ अल्प विकसित देशों में 'प्रतिभा प्रवास' की अपेक्षा एक बहुत अधिक गम्भीर समस्या शिक्षित बेरोजगारों तथा दोषपूर्ण शिक्षा-पद्धति की है।

यहां हम शिक्षा-पद्धति का कुछ सामान्य रूप में उल्लेख करते हैं। पारम्परिक समाजों में शिक्षा का मुख्य प्रयोजन परम्परा को एक पीढ़ी तक ले जाना है। ऐसे समाजों में पूंजी के स्टाक की तरह वस्तुतः ज्ञान का कोश भी निश्चित होता है। इससे ज्ञान के प्रति एक विशेष रवैया पैदा हो जाता है। यह मान लिया जाता है कि सत्य पहले ही ज्ञात है। विद्यार्थी इसे अध्यापक से सीखते हैं जिसे यह पहले से ज्ञात है। इस प्रकार, इस प्रणाली में रट कर याद करने पर जोर दिया गया है। अनेक विकासशील देशों में शिक्षा-पद्धति पर ज्ञान तथा शिक्षा के प्रति इस परम्परागत रवैये का गहरा प्रभाव पड़ा है। इनमें से कुछ देशों में शिक्षा-पद्धति में एक दूसरा दोष यह होता है कि इसमें तकनीकी प्रशिक्षण की पर्याप्त व्यवस्था नहीं होती। वस्तुतः शारीरिक श्रम तथा तकनीकी कौशल के लिए पुरानी शिक्षा-पद्धति एक प्रकार की नफरत पैदा करती है और ऐसे कामों पर अधिक ध्यान देती है जिसमें लोगों को मिट्टी में अपने हाथ न सानने पड़ें। तीसरे, अल्प विकसित देशों में साक्षरता का आधार सामान्यतः संकुचित होता है। किन्तु, गरीब देशों में उच्च शिक्षा प्राप्त लोगों तथा कुल साक्षरों के अनुपात में काफी अन्तर पाया जाता है। उदाहरण के लिए, स्वतन्त्रता के समय भारत में यह अनुपात घाना, नाइजीरिया या कांगो की अपेक्षा बहुत ऊंचा था।

इस अन्तिम बात से शैक्षिक विकास की नीति के सम्बन्ध में एक प्रश्न सामने आता है, जिस पर हम अन्य प्रश्नों पर विचार करने से पहले चर्चा कर सकते हैं। प्राथ-

मिक, माध्यमिक और उच्चतर शिक्षा के बीच भेद करना सामान्य बात है। इन्हें हम सामान्य रूप से शिक्षा के प्रथम, द्वितीय और तृतीय स्तर भी कह सकते हैं। शिक्षा के लिए कुल धनराशि निर्धारित करने के निर्णय के साथ ही यह निर्णय करने का प्रश्न भी होता है कि इस कुल धनराशि को इन तीन स्तरों मे कैसे विभाजित किया जाए। प्रश्न यह है कि आर्थिक विकास की प्रारम्भिक अवस्था मे शिक्षा के किस स्तर की ओर अधिक ध्यान दिया जाना चाहिए ? एक और प्रश्न भी है कि इस अवस्था मे उच्च शिक्षा को कितना महत्व दिया जाना चाहिए ? इस सम्बन्ध मे जैसा कि हमने पहले देखा है अलग अलग देश अलग अलग रास्ते अपनाते हैं। इग्लैंड मे विकास की प्रारम्भिक अवस्था मे उच्चतर शिक्षा को अधिक महत्व दिया गया था जिसका उद्देश्य विशिष्ट वर्ग को शिक्षा देना था। इस दौरान यहा पर जन साधारण मे शिक्षा के प्रसार पर अधिक ध्यान नही दिया गया था। प्राथमिकता के इस क्रम का कारण बहुत सीधा है। विकास चाहने वाले देश के लिए यह आवश्यक है कि उसमे एक शिक्षित नेतृत्व हो—ऐसा नेतृत्व जो चीजो को विस्तृत दृष्टिकोण से देखने समूचे राष्ट्र की आवश्यकताओं का सर्वेक्षण करने विकास के लिए योजनाए बनाने, और एक बड़े सामाजिक सक्रमण काल के तनावो तथा परेशानियो मे देश को एक तार मे पिरोये रखने मे समर्थ हो। भारत मे उच्चतर शिक्षा की ओर अधिक ध्यान दिया गया था और इसका कम से कम एक अच्छा परिणाम हुआ जिसको एक बहुत ही योग्य अफ्रीकी पर्यवेक्षक के शब्दो मे हम नीचे उद्धृत कर रहे हैं। नाइजीरिया का प्रख्यात शिक्षाविद आयो ओगुनशेये लिखता है

> भारत की तुलना मे जहा सिविल सेवा मे भारतीयो की सख्या अधिक थी, पश्चिमी अफ्रीका की सिविल सेवाओ मे अधिकाश उच्च अधिकारी विदेशी थे। 1951 मे घाना की सिविल सेवा मे पाच उच्च विदेशी अधिकारियो के पीछे केवल एक अफ्रीकी अधिकारी था। अत सरकारी सेवाओ मे अफ्रीकीकरण की गति को तेज करने के लिए उच्चतर शिक्षा का महत्व है।[1]

किसी अल्प विकसित देश को एक ऐसा प्रशासन तथा नेतृत्व प्रदान करने मे उच्चतर शिक्षा की महत्वपूर्ण भूमिका है जो आधुनिकीकरण के मूल्य को समझता है तथा अपनी आकाक्षाओ को कार्यान्वित करने के लिए साधन ढूढ निकालने मे समर्थ होता है।

इसके साथ ही यह बात भी बिल्कुल स्पष्ट है कि ग्राम लोगो मे साक्षरता का न होना भी आर्थिक विकास के मार्ग मे एक प्रमुख अड़चन है। इस अड़चन को दूर किए बिना केवल सीमित मात्रा मे विकास सम्भव है। जापान तथा ताइवान दोनो ने किसानो

1 यह उद्धरण 1957 मे टोक्यो मे आर्थिक विकास की समस्याओ के सम्बन्ध मे हुई अन्तर्राष्ट्रीय गोष्ठी मे प्रस्तुत किए गए एक पत्र से लिया गया है। देखिए प्राब्लम्स आफ इकनामिक ग्रोथ मे प्रकाशित आयो ओगुनशेये का लेख एप्रोचेज टु एजूकेशनल प्लानिंग इन अण्डरडवलप्ड कण्ट्रीज सम्पा० एन० के० हालदार और आर० घोष दिल्ली, 1960 पृ० 80

में साक्षरता फैलाने के कार्यक्रम को कृषि के गतिरोध को तोड़ने की अपनी नीति में सम्मिलित किया। औद्योगीकरण की प्रगति के साथ लगातार बढ़ती हुई संख्या में कुशल कर्मकार उपलब्ध हैं। इसके लिए भी साक्षरता के विस्तृत आधार की आवश्यकता होती है। यह ठीक है कि भारत की स्वतंत्रता के समय देश में प्रशिक्षित एवं मुख्यतः भारतीय सिविल कर्मचारी उपलब्ध थे। किन्तु, भारतीय विश्वविद्यालयों के स्नातकों में बड़ी संख्या में जो बेरोजगारी है उससे शैक्षिक विकास के असंतुलित होने का प्रमाण मिलता है। हाल में फ्रेडरिक हारबिसन और चार्ल्स मायर्स ने 75 देशों के प्रति व्यक्ति सकल राष्ट्रीय उत्पादन और 'मानवीय संसाधनों के विकास के मिश्र सूचकांक' के बीच के परस्पर सम्बन्ध को मापने का प्रयास किया। यह मिश्र सूचकांक केवल '(1) स्कूल में पढ़ाई की अवधि के अनुसार 15 से 19 वर्ष के आयु वर्ग की प्रतिशतता के रूप में शिक्षा के दूसरे स्तर में छात्रों की संख्या और (2) आयु वर्ग की प्रतिशतता के रूप में शिक्षा के तीसरे स्तर में छात्रों की संख्या के पांच गुने का गणितीय जोड़ है।'[1] इसी आधार पर संसाधन विकास के चार स्तरों के अनुरूप देशों को चार वर्गों में बांटा गया था। जैसी कि आशा थी, प्रति व्यक्ति आय और आर्थिक विकास के बीच निश्चयात्मक सम्बन्ध पाया गया। इसमें आर्थिक विकास की गणना प्रति व्यक्ति आय और शैक्षणिक विकास की गणना ऊपर बताई गई रीति से की गई थी। दिलचस्पी की बात है कि भारत में इसके आर्थिक विकास की तुलना में मानव संसाधन विकास का स्तर ऊंचा होने के कारण एक विशेष स्थिति सामने आई। इस विसंगति के अवश्य कई कारण हैं। किन्तु इनमें से एक कारण तो यह निश्चित रूप से है कि मानव संसाधन विकास का अनुमान लगाने के लिए हारबिसन तथा मायर्स द्वारा अपनाई गई रीति में ही विसंगति है। इस प्रक्रिया में उच्च शिक्षा को विशेष महत्व दिया गया है जब कि प्राथमिक या प्रथम स्तर की शिक्षा को हिसाब में शामिल नहीं किया गया जिसके कारण भारत की स्थिति अपेक्षाकृत अच्छी हो गई है। यह एक प्रकार की गलती है क्योंकि अगर मानव संसाधन के विकास के सूचकांक की गणना में जनता की शिक्षा को भी शामिल किया जाता तो स्थिति कुछ और होती।

औद्योगीकरण के लिए सार्वजनिक शिक्षा की बात अपेक्षाकृत हाल में सामने आई है। कुछ प्रारम्भिक औद्योगिक देशों ने औद्योगीकरण के विकास का लक्ष्य इसके बिना ही प्राप्त कर लिया। इंग्लैंड में अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा 1870 में अर्थात् औद्योगिक क्रांति आरम्भ होने के बहुत बाद शुरू की गई थी। औद्योगीकरण के मार्ग पर विलम्ब से अग्रसर होने वालों ने सार्वजनिक साक्षरता के कार्यक्रम को अपने विकास की अपेक्षाकृत प्रारम्भिक अवस्था में अपनाया। जापान ने अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा इंग्लैंड के कुछ बाद शुरू की। सभी देशों में अनिवार्य शिक्षा की अवधि आर्थिक विकास की प्रगति

1. फ्रेडरिक हारबिसन तथा चार्ल्स मायर्स, 'एजुकेशन, मैनपावर एण्ड इकनामिक ग्रोथ स्ट्रेटेजीज आफ ह्यूमन रिसोर्स डेवलपमेंट', मेकग्रा-हिल, न्यूयार्क, 1964, पृ० 31–32

के साथ धीरे-धीरे लबी हो जाती है। सोवियत सघ मे चार वर्ष की प्रारम्भिक शिक्षा 1930 मे *अनिवार्य की गई थी, शहरो तथा औद्योगिक ज़िलो के लिए यह अवधि सात* वर्ष नियत की गई थी। 1958 मे स्कूली आयु के सभी बच्चो के लिए आठ वर्ष की अनिवार्य शिक्षा शुरू की गई थी।[1] औद्योगिक विकास के साथ तकनीकी प्रशिक्षण के अनेक प्रकार के विशेषीकृत पाठ्यक्रमो की भी अधिक व्यवस्था की जाती है। जैसे-जैसे अर्थ-व्यवस्था बहुविध होती जाती है और जैसे-जैसे 'श्रम विभाजन' के साथ विशेषीकरण का क्षेत्र बढता जाता है, वैसे-वैसे शिक्षा-पद्धति को अर्थ-व्यवस्था की आवश्यकताओ के अनुसार बदलना पडता है। यदि पर्याप्त तेजी के साथ ऐसा नही होता तो इस विसगति के कारण बेरोजगारी हो जाती है तथा शिक्षा और रोजगार के अवसरो मे कोई तालमेल नही रहता तथा आर्थिक विकास की गति धीमी हो जाती है।

माध्यमिक शिक्षा को प्राय दो भागो, अवर माध्यमिक तथा प्रवर या उच्चतर माध्यमिक, मे विभाजित किया जाता है। अवर माध्यमिक स्कूल मे पढाई की समाप्ति पर कुछ छात्र तकनीकी सस्थाओ मे व्यावसायिक प्रशिक्षण के विभिन्न पाठ्यक्रमो मे प्रवेश ले लेते है या काम करने के साथ-साथ प्रशिक्षण भी प्राप्त करते रहते है, जब कि अन्य छात्र उच्चतर माध्यमिक पाठ्यक्रम पूरा करते है। जो छात्र दूसरी श्रेणी मे होते हैं वे विश्वविद्यालय मे शिक्षा के लिए जा सकते हैं। उच्चतर माध्यमिक शिक्षा की समाप्ति पर वे तकनीकी प्रशिक्षण भी ले सकते हैं। सोवियत सघ की एक अत्यधिक प्रशसनीय उपलब्धि यह है कि इसने शिक्षा तथा तकनीकी प्रशिक्षण की सुविधाओ मे विशेष रूप से 1930 के पश्चात्, बहुत वृद्धि कर दी है। प्रथम पचवर्षीय योजना मे वहा श्रम उत्पादित नियोजित लक्ष्यो को प्राप्त करने मे विफल ही नही रही बल्कि लक्ष्य और सफलता मे बहुत बडा अन्तर रह गया। इसके कारण स्टालिन ने तकनीकी रूप से प्रशिक्षित कर्मकार तथा इजीनियर तैयार करने को अत्यधिक महत्व दिया। द्वितीय पचवर्षीय योजना मे देश के सामने नई तकनीको मे पारगत होने का लक्ष्य प्रमुख रूप से रखा गया। स्टालिन ने 1935 मे दिए गए भाषण मे जो नारा दिया, वह भी इस सम्बन्ध में महत्वपूर्ण है। *उसका नारा था कि 'हर बात का निर्णय सवर्ग (केडर) करता है।' इस नारे मे* अल्प विकासशील देशो के लिए भी शिक्षा निहित है। अनेक विकासशील देशो मे वास्तविक कठिनाई उच्चतम स्तर पर कुछ प्रमुख वैज्ञानिक तथा विशेषज्ञ पैदा करने की नही है बल्कि मध्यम स्तर पर बडी सख्या मे पर्याप्त रूप से अर्हता प्राप्त व्यक्ति पैदा करने की होती है। उद्योग तथा शिक्षा के दृष्टिकोण से इसका अर्थ यह है कि किसी देश का उद्योग उतना ही मजबूत होता है जितनी माध्यमिक स्तर पर इसकी शिक्षा पद्धति तथा तकनीकी प्रशिक्षण के लिए सुविधाए मजबूत होती है।

शिक्षा के मध्यम स्तर से सम्बन्धित कुछ विशेष समस्याए हैं। एक विवादास्पद

---

1 'एजुकेशन इन द यू० एस० एस० आर०', भारत में सोवियत सघ दूतावास का सूचना विभाग नई दिल्ली, 1967, पृ० 6, 43, 44

प्रश्न यह है कि शिक्षा के कार्यक्रम मे विशेषीकरण कितनी जल्दी शुरू किया जाए और माध्यमिक स्कूलो मे पाठ्यक्रमो को कहा तक बहुविध बनाया जाए। कुछ देशो मे छात्रो को अपेक्षाकृत शुरू की अवस्था मे बहुत-से ऐच्छिक या वैकल्पिक पाठ्यक्रम दिए जाते है जब कि अन्य देशो मे अधिकांश छात्रो के लिए अनिवार्य समेकित पाठ्यक्रम होते हैं जिसमे विकल्प बहुत कम होते हैं। यहा इन दोनो के विषय मे कुछ कहना आवश्यक है। सम्भवत इनमे दूसरी प्रणाली उत्तम है। यद्यपि बढती हुई अर्थ-व्यवस्था को अनेक प्रकार के विशेषीकृत कौशल की आवश्यकता होती है तथापि किसी औद्योगिक समाज की गतिविधियो मे बुद्धिमत्तापूर्वक भाग लेने के लिए अधिकाश लोगो के पास सामान्य ज्ञान का भण्डार होना चाहिए। इस सामान्य ज्ञान का आधार प्रस्तुत करना माध्यमिक शिक्षा का एक मुख्य उद्देश्य होना चाहिए।

इस विषय मे एक भिन्न दृष्टिकोण से भी तर्क किया जा सकता है। अब यह व्यापक रूप से स्वीकार किया जाने लगा है कि शिक्षा सम्बन्धी आयोजना जनशक्ति की आयोजना का महत्वपूर्ण अग है। इसमे यह प्रयत्न किया जाता है कि विविध प्रकार की शिक्षा और विशेष प्रशिक्षण पाने वाले लोगो की सख्या तथा लबे अरसे मे इन लोगो के लिए माग के बीच एक सतुलन रखा जाए। प्रत्येक आर्थिक गतिविधि के लिए कतिपय अर्हताओ वाले श्रमिको की एक निर्दिष्ट सख्या मे जरूरत होती है। यदि हम भविष्य मे किसी विशेष समय पर होने वाली विभिन्न प्रकार की आर्थिक गतिविधियो की मात्रा का अनुमान लगा सकें, जो उस तारीख को पैदा होने वाले कुछ घरेलू उत्पादन की मात्रा तथा उसकी विविध वस्तुओ से सम्बद्ध है, तो हम यह पता लगा सकते हैं कि इसके लिए विशिष्ट प्रकार की अर्हताओ वाले कितने व्यक्तियों की माग होगी। यदि हमारे पास विभिन्न प्रकार के कुशल व्यक्तियो अर्थात् आवश्यक अर्हताओ वाले व्यक्तियो की सख्या के बारे मे ठीक-ठीक सूचना हो और साथ ही यह पता हो कि विभिन्न कारणों से, जैसे मृत्यु अथवा अवकाश ग्रहण करने अथवा विभिन्न व्यवसायों मे लोगो के चले जाने के कारण इस सख्या मे किस हिसाब से कमी हो रही है तो हम इस बात का हिसाब लगा सकते है कि किसी निश्चित अवधि के अन्त मे पूर्ति तथा माग को बराबर रखने के लिए ऐसे व्यक्तियों की सख्या मे कितनी वृद्धि करने की आवश्यकता होगी। इसके आधार पर शिक्षा तथा प्रशिक्षण के विभिन्न पाठ्यक्रमो में प्रवेश के बारे मे पहले से योजना बनाना सम्भव है। किन्तु, यदि हम इस विषय पर थोडा विचार करे, तो इसके कुछ दोष तुरन्त हमारे सामने आएगे। शिक्षा के पूरा होने मे काफी समय लगता है, अर्थात् शिक्षा शुरू होने और रोजगार के लिए अर्हता प्राप्त व्यक्ति के उपलब्ध होने के बीच एक लबा अरसा होता है। यह समय कितना होगा, यह अपेक्षित कुशलता की मात्रा पर निर्भर करता है। उदाहरण के लिए एक डाक्टर को अपनी शिक्षा पूरी करने मे एक नर्स की अपेक्षा अधिक समय लगता है। भविष्य मे होने वाली आर्थिक गतिविधियो की मात्रा तथा स्वरूप के बारे मे हमारे अनुमान मे सदैव गलती की गुजाइश होती है और यह गलती कई बार

बहुत बड़ी होती है। गतिशील अर्थ-व्यवस्था में उत्पादन की तकनीकें लगातार बदलती रहती हैं, जिसमें पुरानी कुशलता का उपयोग कम होता जाता है और नयी-नयी कुशलताओं के लिए मांग पैदा होती जाती है। इस प्रकार, आयोजना में रखे गए अनुमान गलत हो सकते हैं। विशिष्ट प्रशिक्षण पाने वाले व्यक्ति के लिए और भी कठिनाइयां होती हैं। भले ही किसी निश्चित तारीख को किसी विशेष प्रकार की कुशलता के लिए मांग तथा पूर्ति बराबर हो जाए, फिर भी इस बात का कोई यकीन नहीं कि बाजार की परिस्थितियों में अगले कुछ वर्षों में भारी परिवर्तन नहीं होगा। लोग भविष्य के सम्बन्ध में अनुमान लगाकर विशेष योग्यता प्राप्त करते हैं। किन्तु विकासशील अर्थ-व्यवस्था में परिस्थितियां तेजी से बदलती हैं और लोग सारी उम्र पूर्वजों का धंधा करने और वही धंधा अपने बच्चों को सौंप देने की आशा नहीं कर सकते। अत, औद्योगिक समाज में शिक्षा के द्वारा लोगों को केवल विशेष प्रकार की कुशलताओं का ज्ञान ही नहीं कराना चाहिए बल्कि उनके अन्दर एक प्रकार का लचीलापन तथा विज्ञान और संस्कृति की सामान्य जानकारी पैदा करनी चाहिए जिससे नई परिस्थितियों के अनुरूप ढलने में कम कठिनाई हो।

कर्मकार का प्रशिक्षण व्यावसायिक स्कूलों में अथवा काम के स्थान में हो सकता है। इन दोनों में किसी एक ही स्थान पर प्रशिक्षण प्राप्त करने के बजाय दोनों स्थानों पर प्रशिक्षण प्राप्त करने के अच्छे परिणाम होते हैं। औद्योगिक सेवा-नियोजक व्यावसायिक स्कूलों में से निकले हुए लोगों पर विश्वास नहीं करते और अपेक्षाकृत अकुशल व्यक्तियों को काम में रखकर प्रशिक्षण देना ठीक समझते हैं। तकनीकी संस्थाओं के प्रमाण पत्र या डिप्लोमा प्राप्त लोग अपने धन्धे में प्रायः ठीक नहीं बैठते और उन्हें अपनी योग्यता के बारे में जो ख्याल होता है उसमें तथा उनके प्रति उनके सेवा-नियोजकों का जो विचार होता है इनमें एक प्रकार का संघर्ष होता है। इस व्यावहारिक कठिनाई से बचने के उपाय ढूंढने के प्रयास किए गए हैं। उदाहरण के लिए, स्वीडन के व्यावसायिक प्रशिक्षण का उल्लेख किया जा सकता है जो एक ओर सरकार या स्थानीय समुदाय और दूसरी ओर निजी उद्यम के बीच निकट सहयोग पर आधारित है। प्रशिक्षार्थी की शिक्षा दो भागों में विभाजित होती है, एक वह स्कूल की वर्कशाप में प्राप्त करता है और दूसरी उद्योग में कार्य के विशिष्ट स्थान पर। इस प्रकार, छात्र को स्कूल में विज्ञान के सामान्य सिद्धान्तों तथा इसकी मोटी-मोटी पृष्ठभूमि की जानकारी देना सम्भव है जब कि उद्योग में वह छात्र किसी कार्य विशेष में कुशलता का विकास कर सकता है।

हमने पहले देखा है कि शिक्षा तथा प्रशिक्षण के लिए किए गए पूंजी निवेश को समुदाय के पूंजी के स्टाक का एक अंग मानना उचित है, हालांकि पूंजी की पुरानी परिभाषाओं में केवल भौतिक स्टाक सम्मिलित होता है। इसके अलावा, ऐसा प्रतीत होता है कि औद्योगिक रूप से उन्नत देशों में हाल की दशाब्दियों में पूंजी के स्टाक के इस भाग में अन्य की अपेक्षा तेजी से वृद्धि हुई है। थियोडोर डब्ल्यू० शुल्ज़ ने संयुक्त राज्य अमरीका के सम्बन्ध में अनुमान लगाया था कि 1900 तथा 1956 के बीच श्रम बल में शिक्षा का

स्टाक साढे आठ गुना बढ़ गया, जब कि पारम्परिक विचार से पूजी के स्टाक मे केवल साढे चार गुना वृद्धि हुई।[1] शिक्षा मे पूजी निवेश के सम्बन्ध में कुछ विशेष बातें है जिनके कारण इस पर होने वाले व्यय का बहुत-सा भाग सरकार को देना उचित है। यहा पर सरकार शब्द का प्रयोग विस्तृत अर्थ मे किया गया है जिसमे सार्वजनिक निकाय भी आ जाते है। शिक्षा निवेश की उचित रूप से योजना बनाई जाए तो उससे हर दृष्टि से बहुत लाभ है। किन्तु, जैसा कि मार्शल ने बहुत समय पहले बताया था, कुछ विशेष कारणो से अधिकाश अल्प शिक्षित तथा अल्प वित्त परिवारद्वारा शिक्षा पर व्यय इष्टतम से कम रहने की बहुत सम्भावना होती है। सबसे पहली बात तो यह है कि शिक्षा मे किए गए निवेश का फल प्रायः निवेशकर्ताओ को, यानी प्राय. मा-बाप या बडे भाई वगैरह को नही मिलता बल्कि दूसरो को, जैसे बच्चो को या अन्य छोटे लोगो को मिलता है। सम्भवतः यह अपने-आप मे कोई बडी बात नही है किन्तु एक दूसरी परिस्थिति है जो, पहली के साथ मिलकर, इसे और गम्भीर बना देती है। इस प्रकार के निवेश के फल एक लबे समय के बाद उपलब्ध होते हैं। अधिकाश साधारण लोगो मे 'भविष्य को स्पष्ट रूप से अनुभव करने, तथा दूर की बात को निकट वर्तमान के समान समझ कर महत्वपूर्ण मानने की आदत नही होती। यह ऐसी बात है जो···अधिक उन्नत राष्ट्रो के मध्यम तथा उच्च वर्गो मे तो होती है परतु अन्यत्र कम ही होती है।'[2]

प्रशिक्षण के लिए निवेश प्राय- कर्मकार का परिवार नही करता वरन् उद्योग करता है। मान लीजिए कि दो प्रकार के निवेश हैं जिनमे निवेश और उनमे से होने वाला लाभ दोनो समान हैं। एक मे निवेशकर्ता को नई मशीनरी खरीदनी होती है और दूसरे मे कुशल निवेश कर्मकार को प्रशिक्षित करने के लिए होता है। इन स्थितियो मे उद्योगपति के दूसरी तरह के निवेश के बजाय पहली तरह के निवेश की ओर अधिक आकृष्ट होने की सम्भावना है, क्योंकि वह मशीनरी को मुकम्मल तौर पर अपने कब्जे मे रख सकता है जब कि हो सकता है कि कर्मकार किसी और सेवा-नियोजक के पास चला जाए। इस सम्बन्ध मे सरकार लबे समय को ध्यान मे रख कर काम करने की स्थिति मे होती है। कुशल कर्मकार एक फर्म या उद्योग से दूसरी फर्म या उद्योग मे चले जाने पर भी समूचे समाज की सपत्ति रहते है। इसके अलावा, शिक्षा के कतिपय सामान्य लाभ भी होते है जो निजी प्रतिष्ठानो के सतुलन पत्रो मे पर्याप्त रूप से प्रतिबिम्बित नहीं होते, किन्तु तिस पर भी जिनका समाज के लिए बहुत महत्व होता है।

विकासशील देशो मे पूर्ण सेवा नियोजन के लिए सरकारी निवेशो के अन्तर्गत शिक्षा के लिए निवेश भी सम्मिलित किया जाना चाहिए। उन्नत पूजीवादी देशों तथा

1. देखिए, टी० डब्ल्यू० शुल्ज, 'कैपिटल फार्मेशन बाई एजुकेशन', 'जर्नल आफ पोलिटिकल इकनामी', शिकागो विश्वविद्यालय, दिसम्बर, 1960.

2. एल्फ्रेड मार्शल, 'एलीमेंट्स आफ इकनामिक्स आफ इण्डस्ट्री', मैकमिलन, लदन 1958, पृ० 126

औद्योगिक रूप से अल्प विकसित अर्थ-व्यवस्थाओ मे बेरोजगारी के स्वरूप तथा कारण एक दूसरे से बिल्कुल विपरीत होते है। पूंजीवादी देशो मे बेरोजगारी (यदि हम दबे हुए क्षेत्रों की विशेष समस्याओ को ध्यान मे न रखे) अनुवर्ती अथवा थोडे-थोडे अरसे के लिए थोडी-बहुत दिखाई पडती है जब कि अल्प विकसित अर्थ-व्यवस्थाओ मे यह हमेशा बनी ही रहती है। एक स्थिति मे, यह कुल माग की कमी के कारण होती है, दूसरी स्थिति मे, कारण 'सरचनात्मक' होते हैं। इस बात पर पहले ही विचार किया जा चुका है। एक और विशेष बात है जिस पर इस समय जोर देने की आवश्यकता है। अल्प विकसित अर्थ व्यवस्थाओ मे बेरोजगारी (या अपूर्ण रोजगार) के सरचनात्मक कारणो के बारे मे सामान्यत विभिन्न क्षेत्रो के सदर्भ मे चर्चा की जाती है जैसे कृषि तथा उद्योग अथवा *पारम्परिक क्षेत्र तथा आधुनिक क्षेत्र। दोषपूर्ण शिक्षा प्रणाली प्राय बेरोजगारी का एक* अतिरिक्त कारण होती है। स्वाधीनता के पश्चात्, श्रीलका ने शिक्षा के लिए काफी पैसे की व्यवस्था की है। किन्तु अन्तर्राष्ट्रीय श्रम सगठन के 'मैचिग एम्प्लायमेंट अपार्चु-निटीज एण्ड एक्सपेक्टेशस - ए प्रोग्राम आफ एक्शन फार सीलोन (जिनेवा 1970)' नामक प्रकाशन मे उस देश के सदर्भ मे उल्लेख किया गया है - 'कोई युवा जितना शिक्षित होगा उतनी ही इस बात की सम्भावना है कि वह, 'क' स्तर तक, बेरोजगार रहेगा—जहा पर रोजगार की दर कम हो जाती है।' यदि कोई विकासशील देश अपनी शिक्षा प्रणाली को पर्याप्त रूप से बहुविध नही कर पाता—और यदि व्यावसायिक तथा तकनीकी प्रशिक्षण की सुविधाओ का उचित समय पर तेजी से विस्तार नहीं किया जाता, तो माध्यमिक स्कूलो से विश्वविद्यालयो मे प्रवेश के लिए छात्रो की सख्या बहुत अधिक बढ जाती है। इसके कई परिणाम हो सकते है। एक तो यह कि इसमे विश्वविद्यालय शिक्षा का स्तर गिर जाता है। दूसरे, इसके परिणामस्वरूप अधिकाश छात्र ऐसे हो जाते है जिनकी शिक्षा का समाज की व्यावहारिक जरूरतो के साथ कोई सम्बन्ध नही होता। शिक्षा सम्बन्धी निवेश के नितान्त दोषपूर्ण स्वरूप तथा अर्थ व्यवस्था मे गम्भीर सरचनात्मक असतुलन के मिश्रण से ही, जिसमे प्रथम दूसरे को और बल देता है, इन देशो मे बेरोजगारी इतनी चिरस्थायी बन जाती है कि इसका कोई इलाज नही हो पाता। अत, अल्प विकसित देशो मे बेरोजगारी का मुकाबला करने के लिए किसी भी प्रभावी आर्थिक कायक्रम मे उचित रूप से तैयार की गई शैक्षिक नीति होनी चाहिए जिसमें पर्याप्त मात्रा मे सरकारी निवेश की व्यवस्था हो।

शिक्षा का एक और कार्य भी है जिस पर पर्याप्त बल नही दिया गया है। यदि इसकी उचित रूप से आयोजना की जाए और सारे समाज मे इसका प्रसार किया जाए तो यह एक बहुत बडी समकारी शक्ति है। औद्योगिक रूप से अधिक उन्नत समाजो मे पाई जाने वाली असमानता की कटुता को शात करने मे सम्भवत इसका सबसे अधिक योग-दान है। *समाजिक असमानता को लबे समय के लिए कम करने का इससे अधिक निश्चया-*त्मक और कोई तरीका नही है कि सभी को उनकी अभिरुचि तथा स्वाभाविक रुझान

के अनुसार शिक्षा उपलब्ध की जाए। फिर भी इस सम्बन्ध मे अवसरो का पूर्णत बराबर होना असाधारण रूप से कठिन है और वस्तुतः विकसित देशो मे भी ऐसा नही हो पाया है। अमीर तथा गरीब के बीच, ऊची नौकरी वालो तथा औद्योगिक श्रमजीवी वर्ग के परिवारो के बच्चो के बीच, औद्योगिक वर्गों तथा किसानो के बीच, और एक ही देश मे अधिक विकसित तथा अल्प विकसित क्षेत्रो के बीच शिक्षा के अवसरो मे अन्तर होता है। सोवियत समाजशास्त्री वी० एन० शुबकिन ने इस विषय मे अपने देश के बारे मे जो कुछ लिखा है वह अन्य देशो के लिए भी उतना ही समीचीन है। उसने लिखा है : 'यद्यपि स्कूल मे पहली कक्षा मे कर्मकारो तथा किसानो के बच्चो की सख्या अधिक होती है तथापि विश्वविद्यालयो मे प्रथम वर्ष के पाठ्यक्रमो मे बुद्धिजीवियो और सफेदपोश नौकरीपेशा लोगो के बच्चो की सख्या अधिक होती है। यह एक बहुत जटिल समस्या है⋯किन्तु यदि *हम इसे हल करना चाहते हैं तो हमे इन तथ्यो की उपेक्षा करने का कोई अधिकार नही* है।'[1] तथ्यो के बारे मे जागरूक होना और प्रवृत्तियो के स्वरूप का अध्ययन करना, वस्तुत, इस दिशा मे एक आवश्यक कदम बढ़ाना है।

अगर बाहर से अवसरो को सब के लिए समान कर भी दिया जाए तब भी कुछ परिवारो का घरेलू वातावरण अन्य परिवारो के घरेलू वातावरण की अपेक्षा प्रभावी शिक्षा या उच्चतर अध्ययन के लिए अधिक प्रेरक होता है। यह केवल व्यक्तिगत परिवारो पर ही नही बल्कि बड़े सामाजिक वर्गों तथा क्षेत्रो पर भी लागू होती है। शिक्षा की दृष्टि से पिछड़े हुए समुदाय मे पिछड़ा बने रहने की प्रवृत्ति होती है। यह एक ऐसा दुश्चक्र है जिसमे से बहुत ही दृढ निश्चय के साथ किए हुए प्रयास के बिना नही निकला जा सकता। शिक्षित व्यक्तियो मे परस्पर मिलने जुलने और विचार-विमर्श से बौद्धिक कार्यों के लिए प्रेरक वातावरण उत्पन्न होता है। उन्नत देश या क्षेत्र ऐसे पारस्परिक आदान-प्रदान के लिए उपयुक्त परिस्थितिया उत्पन्न करने मे अधिक समर्थ होता है। मार्शल के प्रसिद्ध 'बाह्य मितव्ययिता' के सिद्धान्त की चर्चा हम पहले कर चुके हैं। बाह्य मितव्ययिताए, जैसा कि हम जानते है, उद्योगो के एक स्थान पर केन्द्रीभूत होने के फलस्वरूप होती है। शिक्षा को उद्योग मान लिया जाए तो उसमे भी इससे मिलती-जुलती स्थिति होती है। अधिक उन्नत क्षेत्र केवल पूजी को ही आकृष्ट नही करते बल्कि अल्प उन्नत क्षेत्रो से प्रतिभा वाले व्यक्तियो को भी खीच लेते है। अल्प उन्नत क्षेत्रो मे न केवल ज्ञान के अर्जन की सुविधाए सीमित होती है बल्कि जो कुछ अर्जित किया जाता है, वह भी, उसकी अभिवृद्धि न होने के कारण तेजी से नष्ट हो जाता है। अल्प विकसित देश मे, चाहे आर्थिक हो या शैक्षिक, किसी भी गतिविधि मे फैल कर व्याप्त होने की प्रवृत्ति कमजोर होती है।

इस प्रकार, शैक्षिक विषमताए आर्थिक असमानता से उत्पन्न होती हैं और वे

1 'कोनी चेस्तवेनीये मेतादू सोसिओलोजी', मास्को, 1966, पृ० 15, 'एनालिसिस आफ करण्ट डेवलपमेंट इन द सोवियत यूनियन', मे उद्धृत, इस्टीट्यूट फार द स्टडी आफ द यू० एस० एस० आर०, म्यूनिख, 10 नवबर, 1970.

आर्थिक असमानता को विविध रूपों में मजबूत करती है। इस असतुलन को दूर करने के लिए बिना सोचे-समझे उच्चतर अध्ययन के केन्द्रों में वृद्धि करने की आवश्यकता नहीं है। आवश्यकता इस बात की है कि हर गाव के आसपास स्कूल हो और माध्यमिक तथा उच्चतर शिक्षा के लिए 'केन्द्रीय स्थानों' में प्रादेशिक आधार पर सस्थानों की एक कड़ी हो, शिक्षा तथा रोजगार के अवसरों के बीच उचित तालमेल हो और शिक्षा की दृष्टि से समाज के कमजोर वर्गों के लिए उदारतापूर्वक सहायता की व्यवस्था हो।

11

मुद्रास्फीति, कराधान और आर्थिक विकास

बहुत-सी बातें ऐसी है जिनका इस पुस्तक मे विस्तार से विवेचन नही किया जा सकता। सरकारी वित्त प्रबंध तथा आयोजन सम्बन्धी तक्नीकों की समस्याए ऐसी ही है। फिर भी इन बातो की पूर्णतः उपेक्षा नही की जा सकती। पुस्तक की मुख्य विषय-वस्तु के विवेचन मे, किसी न किसी स्थान पर, चाहे सक्षेप मे ही सही, पर इन विषयों की चर्चा अवश्य करनी पड़ेगी। इस अध्याय मे हम आर्थिक विकास के सदर्भ मे मुद्रास्फीति तथा कराधान के विषय मे थोडा विचार करेंगे।

सबसे पहले हम मुद्रास्फीति के व्यापक रूप से स्वीकृत सिद्धान्त को लेते है। जब आय का योग भौतिक रूप मे राष्ट्रीय उत्पादन की अपेक्षा तेजी से बढ जाता है तब मुद्रास्फीति हो जाती है। किन्तु राष्ट्रीय उत्पादन आय के योग के अनुरूप क्यों नहीं बढ पाता? मान लीजिए हम ऐसी स्थिति से कार्य आरम्भ करें जब ससाधन व्यर्थ पडे है, श्रमिक बेरोजगार हैं और उद्योगो मे उत्पादक क्षमता का उपयोग नही हो रहा है। व्यापार चक्र में मदी के समय ऐसा हो जाना सामान्य सी बात है। ऐसी स्थिति मे कल्पना कर ली जाए कि तकनीकें भी निश्चित हैं। यदि इस स्थिति मे बाजार मे क्रय-शक्ति का समावेश किया जाए तो कुछ समय के लिए आय तथा उत्पादन मे प्राय. एक ही अनुपात से वृद्धि होनी चाहिए। किन्तु जैसे ही पूर्ण रोजगार की सीमा आ जाती है वैसे ही राष्ट्रीय उत्पादन मे वृद्धि की गति धीमी हो जाती है। इस सीमा से आगे पूजी का निवेश मुद्रास्फीति का खतरा मोल लेकर ही किया जा सकता है।

अल्प विकसित देशो मे मुद्रास्फीति के साथ उत्पन्न होने वाली कुछ महत्वपूर्ण शक्तियो तथा उपादानो की ओर यहा पर ध्यान नही दिया गया है। हमे एक ऐसे व्याख्यात्मक विवरण की आवश्यकता है जिसका इन देशो की स्थिति से अधिक निकट का सम्बन्ध हो। आर्थिक विकास की 'प्रस्थान' की अवस्था मे मुद्रास्फीति होना कोई असामान्य बात नही है। यह ऐसी अवस्था है जब राष्ट्रीय आय मे काफी वृद्धि होती है, जिसका निवेश उत्पादनकारी ढग से कर दिया जाता है। इस बढे हुए पूजी निवेश से रुपये के रूप मे आय मे वृद्धि हो जाती है। किन्तु निवेश के फल को भौतिक रूप से विक्रय तथा क्रय के लिए उपलब्ध होने मे समय लगता है। इसमे कितना समय लगेगा यह निवेश के स्वरूप पर

निर्भर करता है। औद्योगिक प्रस्थान की अवस्था मे ज्यादातर पूजी आर्थिक विकास के लिए सरचना तैयार करने में लग जाती है। आधुनिक परिवहन व्यवस्था, बडी मात्रा मे बिजली पैदा करने की बडी परियोजनाएं और विभिन्न प्रकार की जनोपयोगी सेवाओ के लिए किया जाने वाला पूजी निवेश इसी प्रकार का है। ये नानाविध अर्थ-व्यवस्था के विकास के लिए एक सरचना, एक सामान्य आधार तैयार करती हैं। इस प्रकार के निवेश का लाभ प्राप्त होने मे प्राय एक लबा समय लग जाता है। इस कारण सक्रमण काल मे अर्थ व्यवस्था मे मुद्रास्फीति होने की बहुत सम्भावना रहती है। जब निश्चित पूजी गुणाको तथा निवेश की स्थिर दर के आधार पर अविरत विकास करने के बजाय, अर्थ-व्यवस्था मे निवेश को बहुत अधिक बढा दिया जाए और निवेश से प्राप्त होने वाले लाभ मे लबा समय हो तब यह आशा की जानी चाहिए कि स्वेच्छा से की जाने वाली बचत मे नई परिस्थिति के अनुसार परिवर्तन नही आ पाएगा और इसके परिणामस्वरूप कीमतो पर भारी दबाव पडेगा।

जब उद्यमकर्ता बडे पैमाने पर निवेश करने का निर्णय करते हैं तब उन्हे ऋण सस्थाओ से कर्ज लेना पडता है। समान गति से विकास कर रही अर्थ व्यवस्था मे कुछ लोग ऋण का भुगतान करते रहेगे और कुछ नये ऋण लेते रहेगे और इस प्रकार इनमे सतुलन बना रहेगा। परन्तु औद्योगिक प्रस्थान की अवस्था मे हालात अपेक्षाकृत भिन्न होते है। शुम्पीटर ने आर्थिक विकास के अपने सिद्धान्त मे इस विषय का विस्तार से विवेचन किया। उसने योजना युग से पूर्व के पूजीवादी विकास के अनुभव के आधार पर अपना सिद्धान्त बनाया जिसमे कुछ बातों मे उसकी अन्तर्दृष्टि आज भी मूल्यवान है। आर्थिक इतिहास पर पीछे की ओर दृष्टिपात करने पर पता चलता है कि वास्तविक विकास मे गतिशील सतुलन की शर्तों का पूरा होना कितना कठिन होता है। आर्थिक विकास ऐसी सर्जनात्मक तथा नवीन प्रक्रियाओ के दम पर चलता है जो नई परिस्थितियो और तकनीको के अनुरूप बदल सकती है। इस प्रकार की नयी-नयी प्रक्रिया इक्की दुक्की नही होती बल्कि उनकी गिनती करना कठिन है। इसके साथ ही विकास भी लगातार नहीं होता रहता। कुछ क्षेत्रो की नवीन प्रक्रियाएं अन्य क्षेत्रो की प्रक्रियाओ को प्रेरित करती है। कुछ आगे निकल जाती है और बाकी उनके पीछे चलती हैं। कुछ उद्योगो के विस्तार से अन्य उद्योगो के लिए माग पैदा होती है। इस प्रकार नवीन प्रक्रियाओ का एक प्रकार से विस्फोट होता है और निवेश मे तेजी आ जाती है जिससे कि आर्थिक विकास की शात गति मे हलचल पैदा हो जाती है। मनोवैज्ञानिक उपादान इस प्रवृत्ति को मजबूत बनाते हैं। आशावादिता भी उसी तरह फैलती है जैसी विपरीत परिस्थितियो मे निराशा फैलती है। ऋण प्रणाली मे सामान्यत. बहुत अधिक लचीलापन होता है जिससे इन परिस्थितियो मे ऋण की स्फीति की भी सम्भावना हो जाती है। एक बार ऋण की स्फीति होने से मूल्यो तथा लागत मे वृद्धि हो जाती है जिसके कारण और अधिक ऋण की माग होने लगती है, और इस प्रकार स्फीति की स्थिति उस समय तक चलती है जब तक इसको रोकने की

शक्तियां जोर नहीं पकड़ लेती। कुछ अरसे के बाद निवेश से होने वाला लाभ बाजार में उपलब्ध होने लगता है और ऋणों की अदायगी शुरू हो जाती है तथा कुछ क्षेत्रों में नवीन प्रक्रियाओं की सम्भावनाएं अस्थायी तौर पर खत्म हो जाती है। इस तरह, ज़ोरदार गतिविधि के बाद मंदी आ जाती है। विकास के कार्य में तेज़ी और मंदी के इन सिलसिलों के बावजूद स्फीतिकारी शक्तियां कुल मिलाकर लंबे समय तक मजबूत बनी रह सकती हैं। यदि विकास की अन्तर्निहित शक्तियां ज़ोरदार हों तो अनेक विकासशील देशों में एक सामान्य बात है संरचनात्मक असंतुलन। इसके साथ, आधुनिक क्षेत्र में विकास की शक्तियां मिल जाएं तब स्फीति की सम्भावना और भी अधिक हो जाती है। ऐसे असंतुलन का सबसे महत्वपूर्ण उदाहरण कृषि में गतिरोध है। अल्प आय वाले देशों में आय के हिसाब से खाद्य के लिए मांग अधिक होने के कारण आय में होने वाली वृद्धि का अधिकांश भाग कृषि की वस्तुओं पर खर्च हो जाता है। किन्तु कृषि में गतिरोध होने के कारण कृषि द्वारा पैदा होने वाली चीज़ों की पूर्ति आयात किए बिना तत्काल नहीं बढ़ाई जा सकती। बढ़ते हुए पूंजी निवेश और कृषि की वस्तुओं की पूर्ति में वृद्धि की सम्भावना के अभाव के कारण विकासशील अर्थ-व्यवस्थाओं में खाद्य पदार्थों की कीमतें बढ़ जाती हैं। किन्तु खाद्य पदार्थों की कीमत का जीवन निर्वाह लागत से, खास तौर पर शहरी श्रमजीवी वर्ग की जीवन निर्वाह लागत से, निकट का सम्बन्ध होता है। अतः श्रमजीवी वर्ग खाद्य वस्तुओं के ऊंचे मूल्यों को पूरा करने के लिए वेतन में वृद्धि के लिए ज़ोर देता है। ऊंचे वेतनों से उत्पादन की लागत बढ़ जाती है। इस प्रकार, खाद्य के मूल्य निर्वाह लागत और वेतन एक-दूसरे के पीछे भागने लगते हैं और इसमें एक स्फीतिकारी चक्र पैदा हो जाता है। जब लोग इस आशा के साथ चीज़ों को दबाने लगते हैं कि मूल्य और ऊपर जाएंगे तब स्थिति और भी खराब हो जाती है। 1966-68 में भारत में जो मुद्रास्फीति पैदा हुई, उससे ऊपर वर्णित सारी स्थिति अच्छी तरह से स्पष्ट हो जाती है। काफी समय तक पिछड़ी हुई खेती भारत के आर्थिक विकास में एक प्रमुख रुकावट रही है। 1966-68 की मुद्रास्फीति ने इस समस्या के स्वरूप को नाटकीय बना दिया। 1965-66 में अनाज का उत्पादन पिछले वर्ष की तुलना में 20 प्रतिशत कम था। इसके बाद अगले वर्ष भी फसल अच्छी नहीं हुई। 1966-67 में खाद्य के मूल्यों में 18 प्रतिशत की और 1966-68 में 21 प्रतिशत की वृद्धि हो गई और अन्य चीज़ों के मूल्य इसी चक्कर में बढ़ गए।

बहुत-से अन्य उपादान भी इस स्थिति को अक्सर बिगाड़ देते हैं। हम फिर एक उदाहरण लेते हैं। चिली 1953-55 में एक स्फीतिकारी संकट से गुज़रा। उन वर्षों में स्थिति के अत्यधिक खराब होने से पहले भी देश लंबे समय तक लगातार मुद्रास्फीति से पीड़ित रहा था। किन्तु 1952-5, में कुछ परिस्थितियों के मेल के कारण सरकार की वित्तीय स्थिति तेज़ी से बिगड़ गई। यह स्थिति अंशतः राजनीतिक कारणों और अंशतः इस कारण से उत्पन्न हुई कि चिली द्वारा निर्यात की वस्तुओं के सम्बन्ध में विश्व बाज़ार में काफी उलट-फेर हो गए थे। 1952 के राष्ट्रपति चुनाव के आंदोलन से पहले

ऐसे कानून बनाए गए जिनसे सरकारी कर्मचारियों के वेतन तथा उनकी पेन्शन में काफी वृद्धि हो गई और निर्वाह लागत की वृद्धि के अनुरूप वेतन का समायोजन करने की गारंटी मिल गई। यह गारंटी निजी उद्यमों में काम करने वाले सफेदपोश कर्मचारियों को भी दे दी गई थी। इसके परिणामस्वरूप सरकार ने देखा कि बहुत अधिक व्यय उसके जिम्मे पड़ गया है। इसी समय चिली की मुख्य निर्यात वस्तु तांबे के मूल्य में गिरावट आ गई, जिसके परिणामस्वरूप सरकार को तांबा-कर से होने वाली आय कम हो गई।

जिस प्रकार की शक्तियों ने मिलकर चिली में स्फीति का संकट उत्पन्न किया, वे अन्य देशों में बहुत आम हैं। मुद्रास्फीति के समय कमज़ोर सरकार अदूरदर्शी नीति के द्वारा स्थिति को बहुधा खराब कर देती है। किसी ऐसी सरकार द्वारा मजूरी तथा वेतन को बढ़ाने का वचन देना बिल्कुल साधारण बात है, जो ऐसे साधनों से लोकप्रिय बने रहना चाहती है, हालांकि उसे पता होता है कि वह ऐसे वचनों को केवल घाटे की अर्थ-व्यवस्था के द्वारा ही पूरा कर सकती है और इसके परिणामस्वरूप मूल्यों में और वृद्धि हो जाती है। इस प्रकार मुद्रास्फीति को बनाए रखने के लिए राज-नीति बाजार की शक्तियों के साथ मिल जाती है।

मुद्रास्फीति को कई बार आर्थिक विकास के लिए सहायक उपादान माना जाता है। इस तर्क पर आवश्यकता से अधिक ध्यान देने की जरूरत नहीं है। यदि इतिहास पर दूर तक दृष्टि डाली जाए तो देखने में आएगा कि आर्थिक विकास तथा मूल्यवृद्धि प्रायः साथ-साथ होते हैं। सोलहवीं शताब्दी की 'मूल्य क्रांति' के बाद से पश्चिमी योरप के आर्थिक विकास के प्रमुख चरणों के सम्बन्ध में यह बात मोटे तौर पर सही प्रतीत होती है। किन्तु ऐसे ऐतिहासिक संयोगों के आधार पर एकदम निष्कर्ष पर पहुंच जाना खतरे से खाली नहीं है। एक ख्याल से यह संयोग स्थायी नहीं है। दूसरे ख्याल से, जब दो चीजें एक-दूसरे से सम्बद्ध पायी जाती है तब हो सकता है कि उनमें कार्य-कारण सम्बन्ध न हो। इस विषय में जरा गहराई से विचार करने की आवश्यकता है। प्रश्न यह है कि क्या ऐसा मानने का कोई कारण है कि मुद्रास्फीति से आर्थिक विकास को बढ़ावा मिलता है। यहां तर्क दिया गया है कि कई तरीकों से ऐसा होता है जिनमें से दो खास तौर पर महत्वपूर्ण हैं।

मुद्रास्फीति आय का पुनर्वितरण करती है। जैसा कि हम पहले के एक अध्याय में देख आए हैं, इसमें आय के उद्यमशील वर्ग में ही बंट जाने की प्रवृत्ति होती है तथा वह ऐसे लोगों में नहीं पहुंचती जिनकी आय संविदाओं के आधार पर निश्चित होती है। किराया, वेतन और ब्याज का भुगतान सामान्यतः संविदाओं के द्वारा निर्धारित होता है। किन्तु मुनाफा एक 'अनिश्चित' आय है। संविदाओं में, निश्चय ही, संशोधन किया जा सकता है, किन्तु इसके लिए समय लगता है। मुद्रास्फीति के काल में, आय के लाभेतर तत्त्व पीछे रह जाते हैं। यदि हम यह कल्पना करें कि लाभ अर्जित करने वाला वर्ग भी बचत करेगा और इसे शेष समाज की तुलना में प्राप्त होने वाली सारी आय में से एक

बड़े हिस्से को फिर से उद्योग में लगा देगा, तो मुद्रास्फीति के द्वारा आय में जो पुनर्वितरण होता है उससे आशा की जा सकती है कि पूजी के निर्माण में तेजी आएगी। कुछ लोगों ने इस सारे तर्क को, आधुनिक विश्व में, उन्नीसवीं शताब्दी के पूंजीवाद के दिनों की अपेक्षा कमजोर पाया है। यह कहा गया है कि मजदूर संघ आदोलन आज यह सुनिश्चित करता है कि वेतन तथा मूल्यों के बीच अन्तर अधिक न हो और मुद्रास्फीति के कारण उद्योगपति को जो ज्यादा लाभ हुआ है, उसे आय कर खींच लेता है जिसकी दर अधिक होती है और उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है। किन्तु अब भी यह तर्क दिया जा सकता है कि मुद्रास्फीति न केवल आय का पुनर्वितरण करती है बल्कि इस आशा को भी जीवित रखती है कि मूल्य लागत से अधिक तेजी से बढ़ेंगे और इस प्रकार केन्स के विचारों के अनुरूप पूजी की सीमान्त उपयोगिता बनी रहेगी। इस प्रकार स्फीति व्यापार के वातावरण को पूजी निवेश के लिए अधिक अनुकूल बना देती है।

इस प्रकार की दलील के विरुद्ध कई तर्क दिए जा सकते हैं। हाल के वर्षों में अनुभवसिद्ध साक्ष्य से पता चलता है कि मुद्रास्फीति का प्रभाव, खास तौर पर जब यह जोर पर हो, यकीनी तौर पर आर्थिक विकास के प्रतिकूल होता है। इसे हम कतिपय सामान्य कारणों के रूप में स्पष्ट करने का प्रयत्न करेंगे। पूजी-निवेश की मात्रा पर मुद्रास्फीति का कुछ भी प्रभाव क्यों न हो, इसमें संदेह नहीं हो सकता कि इसका निवेश के गुणात्मक पक्ष पर हानिकर प्रभाव पड़ता है। मुद्रास्फीति संसाधनों को कई प्रकार से गलत दिशा में मोड़ देती है। मुद्रास्फीति के प्रभाव से बचने के लिए व्यापारी माल को रोक लेते हैं। खाद्य पदार्थों के बढ़ते हुए मूल्यों को देखकर इस आशा में कि मूल्य और अधिक बढ़ेंगे अनाज का बहुत-सा स्टाक दबा लिया जाता है। कुछ ऐसे क्षेत्रों में निवेश अधिक होने लगता है जिनको लोग समझते हैं कि वे मुद्रास्फीति के प्रभाव से मुक्त हैं। उदाहरण के लिए वे संपत्ति, सोना या विदेशी मुद्रा खरीदने लगते हैं। मुद्रास्फीति से राष्ट्रीय उत्पादन की 'गुणता' (क्वालिटी) में गड़बड़ हो जाती है। ऐसा दो तरह से होता है। कुल उत्पादन का उत्पादन संतुलन बिगड़ जाता है। इसके अलावा, जब खरीदने के लिए थोड़ी सी चीजें और बहुत-सा धन होता है तब विक्रेता अपने सामान की किस्म के बारे में लापरवाह हो सकता है और खरीदार के पास उसे खरीदने के अलावा और कोई चारा नहीं होता। इसी कारण से अकुशल उत्पादक मुद्रास्फीति द्वारा उत्पन्न वातावरण में अधिक आसानी से टिका रह सकता है।

अगर मूल्य स्थिर हों तो एक मुनासिब समय के आयाम में लाभ के विषय में पक्का अनुमान लगाया जा सकता है। मुद्रास्फीति के दौर में लोग अपने-अपने अनुमान पर चलते हैं। इसलिए सट्टे की प्रवृत्ति ऊपर हो जाती है। चूंकि बहुत आगे के बारे में अनुमान लगाना कठिन होता है इसलिए पूजी निवेश ऐसी जगहों पर अधिक होता है जहां थोड़ी अवधि में लाभ होने की सम्भावना हो। आर्थिक विकास के लिए निवेश की एक युक्तिसंगत तथा दूरदर्शी नीति की आवश्यकता होती है। सट्टेबाजी उस समय तो

ठीक होती है जब इसका मुख्य कार्य उन छोटी मोटी अनिश्चितताओं का लाभ उठाना हो जो विकास के विस्तृत कार्यक्रम में होती रहती हैं। आर्थिक गतिविधियों के सामान्य स्वरूप और दिशा का निर्धारण इसी विस्तृत कार्यक्रम के आधार पर होना चाहिए। मूल्यों में स्थिरता से इस लक्ष्य को प्राप्त करने की अधिक सम्भावना होती है। मुद्रास्फीति से हमारी आर्थिक दृष्टि का प्रसार सकुचित हो जाता है।

व्यापार सतुलन पर मुद्रास्फीति के प्रभाव से एक और समस्या खडी हो जाती है। यदि विचाराधीन देश मे मूल्यों मे अन्य देशो की अपेक्षा अधिक वृद्धि हो तो विश्व बाजार मे उसकी निर्यात वस्तुओं की अन्य देशों की वस्तुओं की तुलना मे स्थिति खराब हो जाती है। इसी के साथ और अधिक उपभोक्ता वस्तुओं का आयात करने के लिए कड़ा दबाव बना रहता है। ऐसा कई तरीकों से हो सकता है। मुद्रास्फीति से अमीर लोगो के हाथो मे और धन आ सकता है जो अपनी अतिरिक्त आय मे से कुछ राशि विदेशो मे बनी उपभोक्ता वस्तुओं पर खर्च करना चाह सकते है। यदि मुद्रास्फीति खाद्य की कमी के कारण हुई हो तो खाद्य का अतिरिक्त मात्रा मे आयात आवश्यक हो सकता है। व्यापार सतुलन के बिगड़ जाने पर विदेशो से पूजीगत वस्तुओं के आयात मे कटौती करनी होगी। अत इसके परिणामस्वरूप देश के निवेश कार्यक्रम मे भी कटौती करनी होगी। ऐसा करना इसलिए भी आवश्यक हो सकता है कि सरकार स्फीति को रोकने के लिए व्यय को कम करना चाहे। चूकि, राजनैतिक तथा अन्य कारणो से रक्षा, प्रशासन और ऋण के भुगतान जैसी मदो पर सरकारी व्यय मे कटौती करना कठिन होता है इसलिए वित्तीय तनाव के समय इसका असर विकास कार्यक्रमो तथा सामाजिक सेवाओ पर पड़ता है। इस प्रकार मुद्रास्फीति के परिणामस्वरूप विकास की गति धीमी पड जाती है। ऊपर हमने जो उदाहरण दिए हैं, उनमे ऐसा ही हुआ है।

इससे एक दुविधा पैदा हो जाती है। मुद्रास्फीति के प्राय अवाछनीय परिणाम होते हैं। किन्तु स्फीति को रोकने के उपायो का प्रभाव भी कम से कम कुछ समय तक हानिकर हो सकता है। यदि बैंक दर बढा दी जाए या सरकारी व्यय मे भारी कटौती कर दी जाए तो इसके परिणामस्वरूप आवश्यक निवेश मे भी कटौती हो सकती है या बेरोजगारी मे वृद्धि हो सकती है। अत, स्फीति को रोकने के उपाय चुनते समय सावधानी रखनी पडती है। उदाहरण के लिए, ब्याज की दर मे सामान्य वृद्धि करने के बजाय कुछ वस्तुओं पर दिए जाने वाले ऋण पर नियत्रण किया जा सकता है या इन दोनो तरीको को उपयुक्त रूप से मिलाया जा सकता है। दीर्घकालीन दृष्टिकोण से कुछ और बाते अधिक महत्वपूर्ण हैं। मुद्रास्फीति के कारण 'सरचनात्मक' होने आवश्यक है, केवल आर्थिक उपचार पर्याप्त नही होंगे। ऋण नीति इस प्रकार की बनानी होगी जिससे अन्ततोगत्वा सरचनात्मक असतुलनो को दूर करने में सहायता मिले। उदाहरण के लिए यदि कृषि पिछडा हुआ क्षेत्र है तो किसानो की स्थिति को सुधारने के लिए ऐसे उपाय करने होंगे जिनसे उन्हें अधिक मात्रा मे ऋण उपलब्ध हो। चूकि राष्ट्रीय आय मे से

अधिक हिस्सा प्राप्त करने के लिए विभिन्न सामाजिक वर्गों (जैसे मुनाफा कमाने वाले सरकारी अधिकारियों, औद्योगिक कर्मकारों और किसानों) में होने वाले संघर्ष से मुद्रास्फीति की स्थिति प्रायः बिगड़ जाती है, इसलिए मुद्रास्फीति पर नियंत्रण पाने के किसी प्रभावी कार्यक्रम में आय सम्बन्धी ऐसी नीति होनी चाहिए जिसमें समाज के अधिकांश वर्गों की सहमति हो। चूंकि मुद्रास्फीति और भुगतान शेष की समस्या परस्पर *सम्बन्धित हैं* इसलिए *उपचारी उपायों में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार* को ध्यान में रखना होगा। यह एक ऐसा विषय है जिसके बारे में हम बाद में कुछ और विचार रखेंगे। चूंकि अल्प विकसित अर्थ-व्यवस्थाओं में मुद्रास्फीति की जड़ में आधारभूत समन्वयहीनता यह है कि निवेश सम्बन्धी आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए स्वत: तथा संस्थाओं के माध्यम से प्राप्त सामान्य बचत उपलब्ध नहीं होती इसलिए विकास के कार्य को आगे बढ़ाने के लिए तथा स्फीति के निराकरण के लिए भी देश में बचत के स्तर को बढ़ाने का दीर्घकालीन कार्यक्रम बनाना आवश्यक होता है। बहुत-से देशों में अब विकास के लिए राष्ट्रीय आर्थिक योजनाओं का निर्माण सामान्य सी बात है। इन राष्ट्रीय आर्थिक योजनाओं में, उत्पादन के विभिन्न क्षेत्रों में लगी हुई पूंजी के लाभ को प्राप्त होने में लगने वाले अलग-अलग समय को ध्यान में रखते हुए पूंजीगत वस्तु उद्योग तथा उपभोक्ता वस्तु उद्योग के बीच कुछ हद तक संतुलन रखने से विकास और स्थिरता दोनों आ सकती हैं। देश के लिए किसी विकासशील अर्थ व्यवस्था को कुछ सावधानियों के साथ, सामयिक मुद्रास्फीति पर उसी तरह काबू पा लेना चाहिए जैसे कोई स्वस्थ व्यक्ति साधारण ज्वर पर काबू पा लेता है।

सरकार को बचत को बढ़ावा देने वाली संस्था के रूप में एक विशेष भूमिका निभानी होती है। पहली बात यह है कि सरकार स्वयं एक बचतकर्ता है या जैसे वह निवेश करती है उसी तरह बचत भी कर सकती है। इसके अलावा, वह कराधान की व्यवस्था के द्वारा अच्छे के लिए या बुरे के लिए, गैरसरकारी क्षेत्र में बचत तथा निवेश को प्रभावित कर सकती है। राजकीय वित्त जैसे कुछ ही क्षेत्र ऐसे हैं जिन पर अर्थशास्त्रियों ने लंबे समय तक तत्परता से विचार किया है। अनेक अर्थशास्त्रियों की रुचि राजकीय वित्त में इसलिए थी कि वे आर्थिक विकास में भी रुचि रखते थे। किन्तु, हम इस विषय पर केवल बहुत संक्षेप में चर्चा कर सकते हैं।

सामान्यत: अल्प विकसित देशों में कर के रूप में राजस्व विकसित देशों की अपेक्षा राष्ट्रीय आय का बहुत थोड़ा अनुपात होता है। आर्थिक विकास के साथ-साथ इस अनुपात का लगभग 10 प्रतिशत से बढ़कर 30 प्रतिशत या अधिक हो जाना सामान्य बात है। इस वृद्धि पर विचार करने के दो तरीके हैं। पहले का सम्बन्ध अर्थ-व्यवस्था की कर लगाए जाने की क्षमता से है जिस रूप में वह इसके विकास के स्तर से परस्पर सम्बन्धित है। अल्प विकसित देशों में राष्ट्रीय आय का स्वल्प भाग ही करों से प्राप्त होता है और इसका सीधा सा कारण यह है कि इससे अधिक कर लगाना कठिन होता है। लोगों की गरीबी

केवल आंशिक कारण है। मुद्रारहित अर्थ-व्यवस्था मे कराधान की गुजाइश सीमित होती है। किराया जिन्स मे वसूल किया जा सकता है, किन्तु वह एक भिन्न वस्तुस्थिति है। यद्यपि जनता की गरीबी एक ओर से सीमा निश्चित कर देती है तथापि अमीर वर्गों या समृद्ध व्यक्तियो की ओर से कर अदा करने मे किया जाने वाला सकोच, जो राशि वसूल की जा सकती है, उस पर और नियत्रण लगा देता है। इस विषय के दूसरे पहलू का सम्बन्ध राज्य तथा नागरिको के एक दूसरे के प्रति दायित्वो की बदलती हुई धारणा से है। करो का औचित्य सरकार के 'कर्तव्यो' से सिद्ध होता है। आर्थिक विकास के साथ सरकार का व्यय राष्ट्रीय आय की अपेक्षा तेजी से बढता है क्योंकि परम्परा से पीढी-दर-पीढी परिवार या वश या कबीले द्वारा की जाने वाली अनेक सेवाओ को सरकार धीरे-धीरे अपने हाथ मे ले लेती है। रक्षा एव सामाजिक सुरक्षा या गरीबो को दी जाने वाली राहत के सम्बन्ध मे भी यह बात लागू होती है। केन्द्रीकृत शासन के विकास के साथ प्रशासन की लागत बढ जाती है। इसके अलावा, सरकार को गैर समाजवादी देशों मे भी सामाजिक ऊपरी पूजी (सोशल ओवरहेड कैपिटल) की व्यवस्था करने तथा कई प्रकार के उद्योगो के लिए वित्त प्रबन्ध करने की महत्वपूर्ण भूमिका निभानी पडती है। विकास की प्रारम्भिक अवस्था मे पर्याप्त राजस्व जुटाने की समस्या स्वय ही सरकारी व्यय के बढने पर नियत्रण रखने का कार्य करती है किन्तु ये नियत्रण आर्थिक प्रगति के साथ-साथ कमजोर पडते जाते हैं।

कराधान की आवश्यकता को मानते हुए अगला प्रश्न करो के चयन के बारे मे है।

इस प्रश्न के मूल मे एक 'अन्तर्विरोध' है। पुराने अर्थशास्त्रियों को इसका सामना करना पडा था और इससे आज भी कराधान के बारे मे वाद विवाद होता है। अंग्रेजी शासकीय मत को मानने वाले बहुत-से व्यक्ति बैंथम के उपयोगितावाद से न्यूनाधिक मात्रा मे प्रभावित हुए थे। योरप के अर्थशास्त्रियो मे भी इसी प्रकार की विचारधारा पाई जाती है। यदि कराधान का उद्देश्य राष्ट्रीय आय से अधिक सतोष प्राप्त करना हो तो कराधान को समान रूप से वितरित करने का तर्क बहुत मजबूत होता है। उस स्थिति मे कराधान का लक्ष्य यह होना चाहिए कि आय (तथा धन) को अमीरो से लेकर गरीबो मे बाट दिया जाए। किन्तु वर्तमान राष्ट्रीय आय को उचित रूप से वितरित कर देना ही पर्याप्त नही है। यह भी वाछनीय है कि समय के साथ-साथ इसमे वृद्धि हो। दूरदर्शी उपयोगितावादी आगे आने वाली पीढियो के हितो को ध्यान मे रखेगा और इस प्रकार वह चाहेगा कि आर्थिक विकास हो। ऐसा करने के लिए निवेश के हेतु प्रलोभन तथा उत्पादन कार्य के लिए प्रोत्साहन देना आवश्यक है। कराधान के लिए आमूल रूप से समतावादी कार्यक्रम निवेश तथा उत्पादन कार्यों के प्रति उत्साह को कम कर सकता है। उद्देश्यो के इस सघर्ष ने कुछ पुराने अर्थशास्त्रियो को परेशान किया था और आज भी अन्य अर्थशास्त्रियो को परेशान किए हुए है।

पुराने अर्थशास्त्रियों ने इस सन्दर्भ पर कैसे काबू पाया ? वे लाभ (या आय) पर कर लगाने के पक्ष में तो नहीं थे किन्तु लगान, किराये या अधिशेष (रेण्ट) पर कर लगाने के पक्ष में थे। उनमें से कुछ ने, जैसे जान स्टुअर्ट मिल ने, उत्तराधिकार-कर की भी सिफारिश की थी। इस मूलभूत विचार का संक्षेप में वर्णन किया जा सकता है। लाभ पर कर लगाने से निवेश में कमी हो जाएगी। किन्तु (रिकार्डो का) 'शुद्ध' लगान निवेश पर होने वाली आय नहीं थी और वह जनसंख्या की वृद्धि के साथ कालान्तर में बढ़ता रहता था। व्यक्तियों को उनके काम तथा निवेश के लिए प्रतिफल मिलना चाहिए। चूंकि अधिशेष अर्थात् रेण्ट में वृद्धि समाज की सामान्य प्रगति के फलस्वरूप होती है इसलिए समाज की ओर से सरकार द्वारा इसके एक बड़े हिस्से को ले लेना उचित होगा। मिल या वाल्रस जैसे नरम अर्थशास्त्रियों के लिए ऐसे विचार बहुत उग्र नहीं थे। किन्तु आय या लाभ पर कर लगाने के बजाय भूमि पर कर लगाने के लिए अधिक व्यावहारिक दलील भी थी। एडम स्मिथ ने इसका स्पष्ट रूप से वर्णन किया था और इसे उन्नीसवीं शताब्दी में अन्य लोगों ने व्यापक रूप से अपना लिया था। एडम स्मिथ का विचार था कि किसी व्यक्ति के पास जो भूमि होती है उसका परिमाण तथा मूल्य सदैव ठीक ठीक सुनिश्चित किया जा सकता है, किन्तु पूंजी को बहुत आसानी से छिपाया जा सकता है, यह निरन्तर घट-बढ़ भी सकती है। करों को लोगों के अनुरूप लगाया जाए इसके लिए हर आदमी के निजी हालत की इतनी छानबीन करनी पड़ेगी और उससे लगातार इतनी परेशानियां पैदा होंगी कि कोई भी इसका समर्थन नहीं करेगा।' इसके अलावा, भूमि को स्थानान्तरित नहीं किया जा सकता किन्तु यदि पूंजी पर अधिक कर लगाए गए तो वह देश से बाहर भी जा सकती है।[1] इस प्रकार मात्र भूमि पर ही कर लगाने की चरम सीमा तक पहुंचे बिना, पुराने अर्थशास्त्रियों ने ऐसे तर्क प्रस्तुत किए जो इस प्रकार के कर पर अधिक निर्भर होना उचित ठहराते हैं।

व्यवहार में, अनेक देशों में विशेष रूप से औद्योगीकरण के प्रारम्भिक चरण में, थोड़े बहुत हेरफेर के साथ भूमि-कर पर बहुत अधिक निर्भर किया। इस सिलसिले में जापान की स्थिति पर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है। 1873 में एक नया भूमि-कर लगाया गया था। पहले यह भूमि के मूल्य पर 3 प्रतिशत की दर से लगाया गया था किन्तु 1877 के गृहयुद्ध के पश्चात् इसकी दर घटाकर 2.5 प्रतिशत कर दी गई। जापान के आर्थिक विकास के इस प्रारम्भिक काल में यह बहुत हद तक कर-राजस्व का प्रमुख स्रोत बन गया। 1893 तक भूमि कर से 388 लाख येन प्राप्त होते थे जब कि सरकार का कुल खर्च 846 लाख येन था।[2] उसी वर्ष में कुल कर-राजस्व में आय कर का अंशदान केवल 12 लाख येन था। परन्तु प्रथम महायुद्ध के दौरान आय-कर की महत्ता अपेक्षाकृत बढ़ गई और

1 एडम स्मिथ 'द वैल्थ आफ नेशन्स', एव्रीमैंस लाइब्रेरी लंदन, खण्ड 2 पृ० 330

2 देखिए मोतोकाज़ु किमुरा, 'फिस्कल पालिसी एण्ड इण्डस्ट्रियलाइजेशन इन जापान, 1868–1895', द एनल्स आफ द हितोत्सुबाशी एकेडेमी, अप्रैल, 1956, तोक्यो।

इससे आगे के वर्षों में कर-राजस्व का लगभग पांचवां हिस्सा आय-कर से प्राप्त होने लगा।

भारत जैसे कुछ विकासशील देशों में इस समय आय-कर बहुत ऊंची दर से लगाया जाता है। भूमि पर कर न लगा सकने के कारण स्वाधीनता के पश्चात् मुनाफों तथा व्यक्तिगत आय पर आवश्यकता से अधिक ऊंची दर से कर लगाया गया। यह स्थिति ब्रिटेन, जापान और सोवियत संघ जैसे उन देशों के विपरीत थी जिन्होंने प्रत्यक्ष करों को तब तक कम रखना पसंद किया जब तक कि देश में अच्छी तरह से औद्योगीकरण नहीं हो गया। 1874 में ग्लैडस्टन ने आर्थिक कार्यक्रम के आधार पर चुनाव लड़ा। इस कार्यक्रम में आय कर को समाप्त करने का प्रस्ताव भी सम्मिलित था। वह चुनाव में हार गया और आय कर को समाप्त नहीं किया गया। परन्तु शांतिकाल में आय-कर की दरें कम थीं जो 2 पेंस से 10 पेंस प्रति पौंड तक थीं। क्रीमिया युद्ध के समय यह दर बढ़कर 1 शिलिंग 4 पेंस हो गई। परन्तु वास्तव में यह दर भी आज के हिसाब से बहुत कम है। दूसरे महायुद्ध से पहले और बाद में भी, सोवियत संघ में आय-कर राजस्व का एक गौण स्रोत था। युद्ध से पूर्व बजट राजस्व प्रत्यक्ष करों का अंशदान पांच प्रतिशत से कम था। 1952 में इन से 4,740 करोड़ रूबल प्राप्त हुए जबकि कुल आय लगभग 50,000 करोड़ रूबल थी। ऐसा प्रतीत होता है कि मुख्यतः उत्पादक कार्य को प्रोत्साहन देने के विचार से आय-कर की दरें कम रखी गई हों। कुछ लोगों के लिए (अर्थात् उन लोगों के लिए जो सरकारी उद्यमों से बाहर व्यक्तिगत रूप से कार्य करते हैं) बहुत ऊंची दरें लागू थीं, परन्तु ये अपवाद हैं। नियोजित औद्योगीकरण के वर्षों में जो सोवियत कर-प्रणाली विकसित हुई उसकी सम्भवतः मुख्य विशेषता तथाकथित 'पण्यावर्त कर' (टर्नओवर टैक्स) को दिया गया स्थान था। यह कर मुख्यतः उपभोक्ता वस्तुओं पर लगाया गया था और दरें बहुत ऊंची थीं। 1952 में कुल बजट राजस्व का लगभग आधा हिस्सा इस स्रोत से प्राप्त हुआ, 1930 के बाद वाली दशाब्दी में इसका अंशदान अपेक्षाकृत और भी बढ़ गया।

अधिकांश विकासशील देशों में सरकारी राजस्व का बड़ा भाग परोक्ष करों से प्राप्त होता है। इन देशों में उन दो परस्पर विरोधी उद्देश्यों का, जिनकी व्याख्या पहले की गई है हल यह निकाला गया कि दो में से एक उद्देश्य को छोड़ दिया गया। फिर भी, विकासशील देशों को कई बार प्रत्यक्ष करों पर उससे कहीं अधिक ध्यान देना पड़ता है जितना कि ग्लैडस्टन के जमाने की वित्तीय व्यवस्था में देना आवश्यक होता था। भारत के मामले का पहले जिक्र किया जा चुका है। यहां भी करों से प्राप्त होने वाले कुल राजस्व में अधिकांश भाग परोक्ष करों से प्राप्त होता है। परन्तु उच्चतर स्तरों पर आय-कर की दरें बढ़ती जाती हैं हालांकि जिन लोगों पर इन दरों से कर लगता है वे इससे बच निकलते हैं। स्वाधीनता के पश्चात कृषि से होने वाली आय पर पर्याप्त कर नहीं लगाए गए, इसके कारण अंशतः राजनीतिक थे। इसकी आंशिक पूर्ति आय-कर की ऊंची दरों से हो गई। परन्तु यह समस्या भारत तक ही सीमित नहीं है। उन्नीसवीं शताब्दी के मुकाबले इस समय विकासशील देशों में सामाजिक न्याय की मांग ज़ोर पकड़ गई है।

क्रमश बढ़ता हुआ आय कर यथाभाग न्याय का एक साधन है। विकसित देशों में निश्चित रूप से यही स्थिति है। जिस जमाने में किसी भी देश में कराधान के क्रमश बढ़ते रहने की प्रणाली न हो उस जमाने में विकासशील देश इस तरफ ध्यान न दें यह और बात है परन्तु जब कुछ देशों में ऐसी व्यवस्था पहले ही विद्यमान हो तब स्थिति बिल्कुल भिन्न होती है। जिस राजनीतिक तथा मनोवैज्ञानिक वातावरण में विकास होता है वह इस बात को आवश्यक बना देता है कि किसी देश के औद्योगिक रूप से विकसित होने से पहले ही क्रमश बढ़ते हुए कराधान की ओर कुछ ध्यान दिया जाए।

इस प्रकार, हम मूल समस्या पर लौट आते हैं। प्रश्न यह पैदा होता है कि हम करों का वितरणशील प्रयोजनों के लिए कैसे उपयोग कर सकते हैं और इसके साथ ही पूंजी निवेश तथा उत्पादक कार्य को निरुत्साहित करने से कैसे बच सकते हैं? भारत जैसे देश भूमि-कर, आय-कर की कम दरों और क्रमश तेजी से बढ़ते हुए उत्तराधिकार-कर के मिश्रण के प्रयोग कर सकते हैं। कर लगाने की कुछ नवीन प्रक्रियाएं भी विचार करने योग्य हैं। हम आय-कर के मामले पर फिर विचार करेंगे। आय-कर के विरुद्ध मुख्य तर्क यह दिया जाता है कि इससे बचत को धक्का पहुंचता है। आय पर कर लगाते समय यह ख्याल नहीं किया जाता कि उस आय की बचत की जाती है या उसे उपभोग के लिए खर्च किया जाता है। बचाई गई (या निवेश की गई) राशि पर प्राप्त हुए ब्याज (या लाभांश) पर पुन कर लगाया जाता है, जिससे उपभोग न करने की भावना कमजोर पड़ जाती है। इस समस्या का क्या उपचार है इसका संकेत इस समस्या से ही मिल जाता है। बचत की राशि को आय कर से छूट दी जा सकती है। पारम्परिक आय-कर के स्थान पर आंशिक रूप से या पूर्ण रूप से व्यय कर लगाने के बारे में काल्डोर के प्रस्ताव से इस विचार का स्पष्टीकरण हो जाता है। विकल्प के रूप में सरकार निवेश के वांछित भाग या स्वरूप को विनिर्दिष्ट कर सकती है और इस प्रकार लगाई गई सारी आय को आय कर से छूट दी जा सकती है। शेष आय पर क्रमश बढ़ती हुई दर से कर लगाया जा सकता है। यह वित्तीय क्षेत्र में नवीन प्रक्रिया का एक उदाहरण मात्र है जो विकास तथा सामाजिक न्याय को साथ साथ रखने में काफी योगदान कर सकती है।

सरकारी राजस्व से ही सरकारी खर्च चलता है। परन्तु सरकारी खर्च का औचित्य क्या है? इस प्रश्न पर बाद के अध्याय में पूरी तरह चर्चा की जाएगी, परन्तु यहां पर इसका संक्षेप में उल्लेख किया जा सकता है। कुछ प्रकार की सेवाएं ऐसी होती हैं जिनके लिए सामूहिक रूप से मांग होती है। सेवा ऐसी हो सकती है कि जो छोटी विभाज्य मात्रा में ऐसे व्यक्ति के हाथ न बेची जा सकती हो जो इसे चाहता हो। उदाहरण के लिए, राष्ट्रीय रक्षा या विदेशी आक्रमण से सुरक्षा ऐसी ही सेवा है। सरकार इस सेवा की व्यवस्था समूचे राष्ट्र के लिए करती है। सार्वजनिक स्वास्थ्य भी कुछ हद तक इसी श्रेणी में आता है। कोई व्यक्ति डाक्टर को बुला कर निजी सेवा के लिए उसकी फीस अदा कर सकता है, परन्तु सामुदायिक सफाई और सार्वजनिक स्वास्थ्य

के लिए सामूहिक रूप से व्यवस्था करनी पड़ेगी। ऐसी सेवाओं की व्यवस्था में सरकार तथा प्रादेशिक स्थानीय, नगरपालिका और वार्ड के स्तरों पर अन्य सरकारी निकायों का आवश्यक योगदान होता है। निस्सन्देह, ऐसी गैर-सरकारी और 'निजी' संस्थाएं भी हैं जो इस प्रकार की सामूहिक मांग को पूरा करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकती हैं और निभाती हैं। परन्तु इस समय हम उन पर विचार नहीं करेंगे। कई बार किसी वस्तु के लिए व्यक्तियों की ओर से मांग की जाती है और, वास्तव में, वह ऐसी वस्तु भी नहीं होती जो पूरी तरह से अविभाज्य हो, परन्तु फिर भी कई कारणों से सरकार तथा अन्य सरकारी प्राधिकरण उसे अपने हाथ में रखना चाहेंगे। इसके कई कारण हो सकते हैं। आवश्यक उपक्रम इतना बड़ा हो सकता है कि गैर सरकारी संगठनों के लिए उसकी व्यवस्था करना कठिन प्रतीत हो, या हो सकता है कि गैर-सरकारी उद्यम को उससे पर्याप्त लाभ प्राप्त न हो या राजनीतिक कारणों से यह गैर सरकारी निकायों के लिए उपयुक्त न हो, क्योंकि इससे उन लोगों को बहुत अधिक शक्ति प्राप्त हो जाएगी। उदाहरण के लिए बिजली को लीजिए जो इस विचार में एक विभाज्य वस्तु है, विभिन्न व्यक्तियों की जरूरत के अनुसार इसे भिन्न भिन्न मात्रा में सप्लाई किया जा सकता है और फिर भी बिजली का बड़ी मात्रा में उत्पादन तथा वितरण करने का काम किसी सरकारी प्राधिकरण को सौंपना उचित समझा जा सकता है। शिक्षा के लिए मांग भी व्यक्तियों की ओर से की जाती है और इसे निजी उद्यम के सिद्धान्तों के अनुसार बाजार में खरीदा तथा बेचा जा सकता है। परन्तु इसके कुछ विशेष पहलू होते हैं जो इसे एक अलग श्रेणी में रखते हैं।

स्वास्थ्य की भांति शिक्षा का सम्बन्ध भी व्यक्ति से होता है परन्तु इसका पास-पड़ोस पर भी काफी प्रभाव होता है। कोई व्यक्ति डाक्टर को फीस देने के बजाय बीमार रहना पसंद कर सकता है। परन्तु पड़ोसियों को उसका विरोध करने का अधिकार है, खास तौर पर जब उसे कोई संक्रामक रोग हो। कुछ चीजें ऐसी होती हैं जिनमें किसी प्रभाव को वह चाहे अच्छा हो या बुरा—फैलाने का गुण होता है। जिस प्रकार रोगिष्ठ स्वास्थ्य का प्रभाव फैलता है उसी प्रकार शिक्षा के अभाव का प्रभाव भी फैलता है। इन कारणों से समाज कुछ वस्तुओं की मांग तथा पूर्ति का निर्धारण पूर्णतः खरीदारों तथा विक्रेताओं पर छोड़ने के बजाय उनके उत्पादन पर अधिकतम सामाजिक भलाई की अवधारणा के अनुसार अपना नियंत्रण रखने का निर्णय कर सकता है। इस नियंत्रण का स्वरूप क्या होगा, यह एक भिन्न प्रश्न है। इसमें भी सरकार क्या करे और क्या न करे इसमें चुनने की गुंजाइश होती है। उदाहरण के लिए, सरकार करों या राज-सहायता के द्वारा किसी वस्तु की मांग को घटा या बढ़ा सकती है। *ए० सी० पीगू ने अपनी पुस्तक 'द इक्नामिक्स आफ वेलफेयर' में सीमान्त* सामाजिक निवल उत्पादन और निवल के बीच अन्तर बताते हुए इस विषय पर चर्चा की है। किसी समुदाय के उत्पादन को उपयुक्त प्रतिरोधक-कर लगाकर रोका जा

सकता है या काफी बड़ी मात्रा में राज सहायता देकर प्रोत्साहित किया जा सकता है किन्तु यह इस बात पर निर्भर करता है कि समाज को होने वाले आकस्मिक बिना मुआवज़े के नुकसान अथवा निःशुल्क लाभ के कारण सीमान्त सामाजिक निवल उत्पादन, सीमान्त निजी निवल उत्पादन से कितना कम या ज्यादा है। विकल्प के रूप में, सरकार उस वस्तु के उत्पादन का राष्ट्रीयकरण करने का निर्णय कर सकती है।

एक दूसरे प्रकार की भिन्नता सरकारी वित्त में और तरह की समस्याओं को जन्म देती है। बड़े देशों में कई प्रकार की आर्थिक गतिविधियाँ ऐसी होती हैं जिन्हें केन्द्रीय सरकार के सीधे नियन्त्रण में रखने के बजाय क्षत्रीय तथा स्थानीय निकायों पर छोड़ देना अच्छा समझा जाता है। उदाहरण के लिए केन्द्रीय प्राधिकरण की अपेक्षा ये नीचे के निकाय कृषि तथा सामुदायिक विकास, लघु उद्योग, स्वास्थ्य तथा सामाजिक कल्याण की प्रायः अच्छी तरह देखभाल कर सकते हैं। दूसरी ओर, बहुत से उत्पादक कर ऐसे होते हैं जिनकी वसूली केन्द्रीय प्राधिकरण अधिक आसानी से कर सकता है। इस प्रकार क्षत्रीय तथा स्थानीय प्राधिकरणों की वित्तीय शक्तियों और आर्थिक तथा सामाजिक जिम्मेदारियों के बीच एक प्रकार की असंगति होती है। यह संघीय वित्त की समस्या का एक अंग है। केन्द्रीय सरकार द्वारा वसूल किए गए राजस्व में से संघीय एककों को एक निश्चित अंश देकर इस समस्या का हल करने की कोशिश की जाती है। ये अंश सामान्यतः कुछ मिले जुले सिद्धान्तों के आधार पर निश्चित किए जाते हैं क्योंकि किसी भी एक सिद्धान्त को पूर्णतः सन्तोषजनक नहीं माना जाता। केन्द्रीय या संघीय सरकार द्वारा प्रत्येक संघटक राज्य से वसूल की गई राशि का ध्यान में रखा जाता है। राजस्व के वितरण के लिए उनके आकार तथा उनकी जनसंख्या की ओर भी प्रायः ध्यान दिया जाता है। केन्द्रीय राजस्व की इस विभाज्य रकम का इस आधार पर वितरण करते समय पिछड़े हुए राज्यों या क्षत्रों को विशेष सहायतानुदान देने पड़ते हैं। ऐसा करने के कारण स्पष्ट हैं। यदि प्रत्येक संघटक राज्य को अंश उसी अनुपात से प्राप्त हो जिस अनुपात से उसके यहाँ से केन्द्रीय राजस्व कर आ रहा है तो अधिक विकसित तथा अपेक्षाकृत समृद्ध राज्यों को अधिक हिस्सा मिलेगा और कम समृद्ध राज्यों को कम हिस्सा मिलेगा। जनसंख्या के अनुपात में राजस्व का वितरण करने से भी उसका हल निकल आना जरूरी नहीं है क्योंकि लोग अधिक विकसित क्षत्रों की ओर प्रायः अधिक आकृष्ट होते हैं जिससे वहाँ की जनसंख्या अधिक हो सकती है।

इसलिए क्षत्रीय विषमता पर काबू पाने के लिए केन्द्रीय सहायता के एक भिन्न सिद्धान्त की आवश्यकता है। पिछड़े हुए क्षत्रों को अपेक्षाकृत पिछड़ा हुआ होने के कारण विशेष सहायता दी जानी चाहिए। साथ ही यह भी उचित है कि सभी प्रदेशों का समान रूप से आर्थिक विकास हो। यथासम्भव न्याय की भाँति सरकारी वित्त व्यवस्था में महत् उद्देश्यों को ध्यान में रखा जाना चाहिए। इसके लिए थोड़े समय में अधिकाधिक वृद्धि की गणना के बजाय समाज की कुल आवश्यकताओं को ध्यान में रखना जरूरी है।

विकसित क्षेत्र स्वयं इस बात को नहीं समझेंगे कि आर्थिक तथा शैक्षिक रूप से पिछड़े हुए क्षेत्रों के लिए अधिक आर्थिक साधन उपलब्ध किए जाने चाहिए। परन्तु केन्द्रीय सरकार का कर्तव्य है कि वह अपने देश के दीर्घकालीन हितों को ध्यान में रखे और कुछ भागों के अस्थायी हितों के बजाय इन क्षेत्रों को प्राथमिकता दे।

12

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार, सहायता और विकास

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार आजकल किसी भी देश के सामान्य आर्थिक जीवन का एक आवश्यक अंग है। युद्ध काल में राष्ट्रीय आत्म-निर्भरता के लिए प्रयत्न किया जाता है और कुछ देशों ने युद्ध की आशंका से ही आत्म निर्भरता को लक्ष्य बना लिया है।

प्रश्न उठता है कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से किसी देश को क्या लाभ होता है? एक लंबे अरसे से इस प्रश्न का जो किताबी जवाब दिया जाता है वह रिकार्डो तथा रिकार्डो के अनुयायियों द्वारा प्रतिपादित तुलनात्मक लागतों के सिद्धान्त पर आधारित है। एडम स्मिथ ने रिकार्डो के सिद्धान्त का पूर्वाभास दे दिया था। एडम स्मिथ ने लिखा, 'यदि कोई दूसरा देश उस कीमत से कम पर कोई वस्तु हमें सप्लाई कर सकता है जिस कीमत पर हम स्वयं उसे बना सकते हैं तो अच्छा होगा कि हम वह वस्तु उस देश से खरीद लें और उसके बदले उस देश को उस वस्तु का निर्यात कर दें जो हम सस्ती बना सकते हैं।'[1] कई बार यह सोचा जाता है कि स्मिथ ने श्रम के अन्तर्राष्ट्रीय विभाजन के आधार के रूप में निरपेक्ष लाभ का प्रतिपादन किया जबकि रिकार्डो ने अपेक्षाकृत लाभ के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था। यह बात पूरी तरह से सही नहीं है। यह सच है कि रिकार्डो ने इस बात को स्पष्ट किया था कि दो देशों के बीच दो वस्तुओं के व्यापार में, एक देश, दूसरे देश की तुलना में दोनों वस्तुओं के उत्पादन में निरपेक्ष लाभ की स्थिति में हो सकता है, पर फिर भी यदि यह लाभ एक वस्तु में दूसरी की अपेक्षा अधिक हो तो दोनों देश एक दूसरे के साथ व्यापार कर सकते हैं जिसमें दोनों देशों को ही लाभ हो तथा पहला देश, जिस वस्तु के उत्पादन में उसकी स्थिति अपेक्षाकृत अधिक अच्छी हो, उसके उत्पादन में विशेष दक्षता प्राप्त करेगा तथा दूसरा देश उस वस्तु के उत्पादन में विशेष दक्षता प्राप्त करेगा जिसमें उसकी स्थिति अपेक्षाकृत कम खराब हो। हालांकि स्मिथ ने इस विषय में अपने विचारों को औपचारिक रूप से स्पष्ट नहीं किया पर वह जानता था कि उद्योग तथा कृषि के सम्बन्ध में, अधिक उन्नत देशों की स्थिति कम उन्नत देशों की अपेक्षा सामान्यतः अच्छी होती है। फिर भी इन दोनों प्रकार के देशों में व्यापार हो सकता है जिसमें अधिक उन्नत देश वस्तुओं के निर्माण में अधिक ध्यान दे तथा कम उन्नत देश कृषि सम्बन्धी उत्पादन में अपना ध्यान लगाए। संसार के परिप्रेक्ष्य

1 एडम स्मिथ, 'द वेल्थ आफ नशन्स', खण्ड 1, एवीमैन लाइब्रेरी, लदन, पृ० 401.

में यह, निस्सदेह, इग्लैंड तथा पुर्तगाल के बीच व्यापार की विलक्षणताओं की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण था, जो उस समय तुलनात्मक लागत के सिद्धान्त का अच्छा उदाहरण माना जाता था।

इस सिद्धान्त की सबसे बडी कमजोरी यह थी कि इसके अनुसार, अन्तराष्ट्रीय व्यापार से होने वाले लाभ के प्रश्न पर विश्लेषण के एक पूर्णतः स्थिर ढाचे मे विचार किया जाता था। हमारे सामने दो देश थे, जिनके ससाधन, तकनीकें आदि निश्चित थी और जिनमे व्यापार से लाभ तुलनात्मक लागत मे अन्तर के कारण हुआ था। निस्सदेह, आर्थिक विकास मे दिलचस्पी रखने वाले व्यक्ति के लिए किसी विषय पर गौर करने का यह बहुत ही सकुचित तरीका है। ऐतिहासिक दृष्टिकोण को अपनाने ही हमे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से होने वाले विभिन्न लाभो का पता चल जाता है। एडम स्मिथ को, जिसे सैद्धान्तिक रूप देने मे खास दिलचस्पी नही थी परतु जो क्रम विकास की विचारधारा से सहज ही प्रभावित था, व्यापार के प्रभाव के कारण होने वाले विकास की पूरी तरह से जानकारी थी। उसने कुछ वस्तु-निर्माण उद्योगो को 'विदेशी व्यापार का परिणाम' बताया है।[1] उसने बताया है कि कुछ ऐसे देशो मे बढिया तथा उन्नत निर्माण वस्तुओ के लिए अभिरुचि विदेशी व्यापार के कारण पैदा हुई जहा पहले ऐसे उद्योग विद्यमान नही थे। "जब इस अभिरुचि के कारण माग काफी बढ गई तो कुछ व्यापारियो ने ढुलाई के खर्च को बचाने के विचार से इसी प्रकार के कुछ वस्तु निर्माण उद्योग अपने देश मे ही स्थापित करने का प्रयत्न किया।[2] अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार किसी देश की उत्पादक गतिविधियो के भौगोलिक आधार का बहुत विस्तार कर देता है और ऐसे उद्योग स्थापित करना सम्भव कर देता है जो देश म उपलब्ध ससाधनो के आधार पर नही चल सकते। विदेशो के साथ व्यापार नई वस्तुओ और ससाधनो को ही नही बल्कि नये ज्ञान को, जो सम्भवत और भी महत्वपूर्ण है, और एक नये परिवेश को भी, जिसमे इस ज्ञान का उपयोग किया जा सकता है, देश के विस्तार क्षेत्र के अन्तर्गत ले आता है। इससे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार विकास का अत्यधिक शक्तिशाली साधन बन जाता है।

उत्पादन की तकनीकों मे लगातार सुधार मे आर्थिक विकास की गति बनी रहती है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार इस विशद प्रक्रिया मे नई तकनीको से महत्वपूर्ण योगदान करता है। देश के जो उद्योग सरक्षण के सहारे चलते हैं और जिनका विकास रुक गया है उनको विदेशी प्रतियोगियो के सामने ले आता है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का एक और लाभ यह है कि जानकारी के विस्तार तथा उत्पादित वस्तुओ के लिए बाजार के विस्तार के कारण विदेशो से बढिया टक्नालाजी उधार लेने में सुविधा हो जाती है। अधिक पूजी लागत वाली कोई भी श्रेष्ठ तकनीक प्राय तभी आर्थिक रूप से लाभकर तथा स्वीकार्य होती है जब उत्पादन को बडी मात्रा मे बाजार मे बेचा जा सकता हो। अत देश के अन्दर बाजार

1 एडम स्मिथ, 'द वेल्थ आफ नेशन्स', खण्ड 1 एवरीमैन लाइब्रेरी, लदन, पृ० 359
2 वही।

के सीमित होने के कारण किसी गरीब देश को उत्पादन के अधिक उन्नत तरीकों को अपनाने में कठिनाई हो सकती है परन्तु विश्व बाजार में प्रवेश का मार्ग मिलने से एक निश्चयात्मक अन्तर पड जाता है और इससे विकास की गति तेज होती है। जान स्टुअर्ट मिल ने एडम स्मिथ के विचार में यह दोष पाया कि उसने विदेश व्यापार को 'अधिशेष के लिए एक मार्ग' समझा है। परन्तु स्मिथ ने इस विचार को प्रस्तुत करने में निश्चय ही मिल की अपेक्षा अधिक इतिहास-बोध का परिचय दिया है।

इसलिए, विदेश व्यापार तथा विकास के बीच अन्त क्रिया को ठीक प्रकार समझने के लिए ऐसे दो कल्पित देशों को सामने रखकर तर्क वितर्क में पडना पर्याप्त नहीं होता है जो विकास के अपने वर्तमान स्तरों से चिपटे हुए हैं और जो इन अपरिवर्तनशील स्थितियों में व्यापार चलाते है। हमें ऐसी अर्थ-व्यवस्थाओं पर विचार करना होगा जो एक अवस्था से आगे की ऊची अवस्था पर पहुचने के लिए संघर्ष कर रही हैं और जहा विदेश व्यापार नीति इस श्रम-विकास को शीघ्रता से पूरा करने मे सहायता देने वाली हो। अधिकाश देश अपनी प्रारम्भिक अवस्था मे बहुविध विदेश व्यापार नहीं करते थे। उन्हें निर्यात से होने वाली आय का मुख्य भाग थोडी-सी वस्तुओ के निर्यात से प्राप्त होता था। औद्योगिक प्रस्थान की अवस्था मे इग्लैंड से सूती कपडे का निर्यात अधिक हुआ जबकि उससे एक शताब्दी पहले ऊन का निर्यात जोरो पर था। मेजी काल के प्रारम्भ में जापान मुख्य रूप से रेशम का निर्यात करता था। उन्नीसवी शताब्दी मे अमरीका प्रमुख रूप से कपास और उसके बाद गेहू का निर्यात करता था। हाल मे अल्प विकसित देशो ने कुछ वस्तुओ, जैसे कॉफी या कोको, तेल या टिन के निर्यात पर अधिक ध्यान दिया गया है। ये बातें भली प्रकार विदित है, इसलिए इनके विस्तार मे जाना अनावश्यक है। चन्द वस्तुओ के निर्यात पर ही निर्भर करने की बात किसी देश के आर्थिक विकास क्रम मे बहुत थोडे समय तक ही रहती है। जैसे ही अर्थ व्यवस्था का विकास होता है वैसे ही वह अधिक बहुविध हो जाती है, उसी तरह उसके निर्यात का ढाचा भी बदल जाता है। जब यह समझ लिया जाता है कि स्थिति मे परिवर्तन हो रहा है और इसका क्रमिक विकास हो रहा है तब यह बात सरलता से समझ मे आ जाती है कि किसी देश के व्यापार के ढाचे से केवल उसके विकास की वर्तमान अवस्था का परिचय नहीं मिलना चाहिए वरन् अगली ऊची अवस्था मे पहुचने के लिए इसके द्वारा किए जा रहे प्रयास का भी आभास होना चाहिए। व्यवहार में इसका क्या प्रभाव होता है, यह बात किसी देश के विकास की वास्तविक अवस्था पर निर्भर करती है। निश्चय ही, सभी अवस्थाओं में स्थिति एक-सी नहीं होती।

इस बात की व्याख्या 'सरक्षणवादी' नीति के सदर्भ मे की जा सकती है। किसी उद्योग को सरक्षण दिया गया है, इस बात का सीधा अर्थ यह निकलता है कि वही वस्तु किसी अन्य देश से अधिक सस्ते मे मगवाई जा सकती थी। इस प्रकार, सरक्षण उपभोक्ता समुदाय पर एक बोझ लाद देता है। यह बात भी बिल्कुल स्पष्ट है कि कुछ उद्योग ऐसे

होते हैं, जिनका विकास किसी न किसी प्रकार का सरंक्षण देकर किया जा सकता है, और यदि ऐसा नहीं किया जाता तो वे विकास नहीं कर सकते। प्रश्न यह है कि संरक्षण के फायदे और नुकसान की तुलना करने के बाद इस प्रश्न पर कौन-सा आर्थिक निर्णय युक्तिसंगत होगा? इस प्रश्न का उत्तर बहुत हद तक अर्थ-व्यवस्था के विकास की अवस्था पर निर्भर करता है जिसके बारे में हमें निर्णय करना है। यहां पर यह बड़ी दिलचस्पी की बात है कि एडम स्मिथ तथा फ्रीडरिक लिस्ट के बीच मतभेद का कारण यह नहीं था कि इन दोनों में से कोई अर्थशास्त्री शैशवकाल में उद्योग को संरक्षण देने के लाभ या अलाभ को न देख पाया हो। मतभेद उनके द्वारा परस्पर विरोधी विचारों को दिए गए सापेक्ष महत्व से उत्पन्न हुआ था जिसका संकेत उनके लेखन के समय इंग्लैंड तथा जर्मनी के आर्थिक विकास की अवस्था से मिल जाता है। एडम स्मिथ ने संरक्षणवादी तर्क की मुख्य बात को स्पष्ट रूप से स्वीकार कर लिया जो उसके निम्न उद्धरण से स्पष्ट है "विनियमनों के द्वारा कोई वस्तु कई बार अपेक्षाकृत जल्दी प्राप्त की जा सकती है, और कुछ समय के पश्चात् देश में ही उसका विदेशों की भांति सस्ती लागत पर या वहां से भी सस्ती लागत पर निर्माण किया जा सकता है।" इतना स्वीकार करने पर भी उसका यह विचार रहा कि ऐसे विनियमन अपने देश के हितों के विरुद्ध होते हैं। सामान्यीकरण का जिक्र करते हुए वह इस निष्कर्ष पर पहुंचा कि

> यद्यपि ऐसे विनियमनों के अभाव में समाज को प्रस्तावित निर्माण वस्तु शायद कभी भी प्राप्त न होती तथापि उसके न होने से समाज को अपने जीवन काल में कोई नुकसान भी न होता। प्रत्येक कालावधि में उसकी समूची पूंजी तथा उद्योग विभिन्न प्रयोजनों के लिए ऐसे ढंग से काम में लगे हुए होंगे जो उस समय उसके लिए अधिक लाभकर होंगे।[1]

इस प्रकार यहां पहुंच कर एडम स्मिथ का प्रचुर ऐतिहासिक विवेक जवाब दे गया। 'प्रिंसिपल्स आफ पालिटिकल इकनामी' (खण्ड 5, अध्याय 10) में मिल ने लिखा है कि 'विकासशील तथा उदीयमान राष्ट्र' में संरक्षण देने के उपाय ठीक माने जाएंगे बशर्ते कि वह संरक्षण ऐसे उद्योगों तक सीमित हो जिनमें पूरी आशा हो कि जिनको संरक्षण दिया जा रहा है वे कुछ समय के बाद अपने पैरों पर खड़े हो जाएंगे। निर्बाध व्यापार, वास्तव में, संसाधनों के ऐसे आवंटन और व्यापार के ऐसे ढांचे को बढ़ावा देगा जो 'उस समय अत्यधिक लाभकर हों' अर्थात् जो उस समय की तुलनात्मक लागत के बहुत ही अनुरूप हो। परंतु कुछ नये उद्योग ऐसे होते हैं जो अस्थायी रूप से असुविधा की स्थिति में होते हैं परंतु वे राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था के विकास के संघर्ष का सही प्रतिनिधित्व करते हैं। ये उद्योग नये विचारों तथा संगठन के नये रूपों के सम्बन्ध में प्रयोग करते हैं,

1 वही, पृ० 402

जो भविष्य में अनेक पारस्परिक आर्थिक गतिविधियों की तुलना में अधिक लाभकर सिद्ध होते हैं। यह बात याद रखने की है कि लिस्ट भी चाहता था कि संरक्षण विवेकपूर्वक दिया जाना चाहिए और वह भी केवल संक्रमण काल में थोड़े अरसे के लिए। उसने वाणिज्यवादियों की इस बात के लिए आलोचना की कि वे 'व्यापार की सार्वभौमिक स्वतन्त्रता के लक्ष्य को स्वीकार नहीं करते जिस लक्ष्य पर पहुंचने के लिए सभी राष्ट्रों को परिश्रम करना चाहिए।'[1]

एक समय था जब निर्बाध व्यापार तथा संरक्षण, व्यापार नीति के क्षेत्र में विवाद के मुख्य विषय थे। अतीत में जिस स्थूल ढांचे के अन्तर्गत यह वाद प्रतिवाद चला था, उसका संकेत ऊपर किया गया है। इस समस्या के कुछ समकालीन पहलुओं पर आगे चल कर विचार किया जाएगा। संक्रमणकाल में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से सम्बन्धित अन्य मामले युद्ध के बाद के वर्षों में उभर कर सामने आए। इनमें से कुछ का अब विवेचन किया जाएगा।

राउल प्रेबिश[2] के जोरदार हस्तक्षेप के कारण विकसित तथा अल्प विकसित देशों के बीच व्यापार की शर्तों की समस्या पर हाल के वर्षों में काफी ध्यान दिया गया है। कुछ लोगों ने यह देखा है कि लंबे अरसे में व्यापार की शर्तें प्राथमिक उत्पादक देशों के विरुद्ध जाती है और इस कथित प्रवृत्ति के कारणों की उन्होंने व्याख्या प्रस्तुत की है। कुछ अन्य लोगों ने कहा है कि ऐसी प्रवृत्ति वास्तव में है ही नहीं। हम दोनों पक्षों की ओर से दिए गए तर्कों पर विचार करेंगे। इसमें सम्बन्धित एक और बात पर विचारों में बहुत समता पाई जाती है। औद्योगिक रूप से पिछड़े हुए देशों के व्यापार की शर्तों में भारी उतार-चढ़ाव होता रहता है। परन्तु अधिक से अधिक स्थिरता वांछनीय होती है। यह बात हमें नीति विषयक प्रश्न की ओर ले जाती है। व्यापार की शर्तों को स्थिर करने के क्या सम्भव उपाय हैं? इसके बाद व्यापार सतुलन से सम्बन्धित समस्याएं सामने आती हैं। इन विकास के दौरान बहुत-से अल्प विकसित देशों का आयात उनके निर्यात की तुलना में अधिक होता है। प्रश्न यह है कि इस घाटे के सम्बन्ध में क्या किया जाना चाहिए? यदि इस घाटे की पूर्ति विदेशी पूंजी की सहायता से करने का निर्णय किया जाता है तो विदेशी सहायता या निवेश के अत्यधिक उपयुक्त रूप के सम्बन्ध में प्रश्न उठते हैं जिन पर ध्यान दिया जाना चाहिए। अन्ततोगत्वा अल्प विकसित देशों को इस सहायता का त्याग करने योग्य होना चाहिए। दूसरे शब्दों में, आयात व्यापार का मुकाबला करने के लिए निर्यात व्यापार में पर्याप्त वृद्धि की जानी चाहिए और यथासम्भव

---

1. फ्रीडरिक लिस्ट, 'द नेशनल सिस्टम आफ पॉलिटिकल इकनामी', लागमैन्स, ग्रीन एण्ड कम्पनी, लन्दन, 1909 पृ० 272

2 उदाहरण के लिए देखिए, संयुक्त राष्ट्र संघ के इकनामिक बुलेटिन फार लेटिन अमरीका, फरवरी, 1962 में प्रकाशित उसका लेख द इकनामिक डेवलपमेंट आफ लेटिन अमरीका एण्ड इट्स प्रिंसिपल प्राब्लम्स'।

पुराने कर्जों का भुगतान किया जाना चाहिए। इस लक्ष्य की प्राप्ति कैसे हो ? ये कुछ ऐसे प्रश्न है जिनके विवेचन की आवश्यकता है।

सबसे पहले हम व्यापार की शर्तो से सम्बन्धित प्रश्न को लेते है। आरम्भ मे हम कतिपय 'सैद्धान्तिक' सम्भावनाओ को लेकर आगे बढ़ेगे और बाद मे तथ्यो से तुलना करके इनकी जाच करेंगे। प्राचीन अर्थशास्त्रियो का ख्याल था कि व्यापार की शर्ते वस्तु निर्माताओ के विरुद्ध जाएगी। उत्पादन के कतिपय आधारभूत नियमो के कारण ऐसा होने की आशा की जाती थी। एडम स्मिथ के समय से सामान्यत: यह माना जाता रहा है कि कृषि मे ह्रासमान प्रतिफल का नियम विशेष शक्ति के साथ लागू होता है और *उद्योगो मे वर्द्धमान प्रतिफल नियम लागू होता है। पिछली शताब्दी के अन्त मे मार्शल* ने अपनी रचनाओ मे इन विचारो को कुछ परिवर्तन के साथ या वैसे का वैसा अपना लिया। उत्पादन की तकनीकों मे सुधार होने के परिणामस्वरूप निर्मित वस्तु के उत्पादन के लिए आवश्यक श्रम की मात्रा लगातार कम होती गई परतु कृषि के मामले मे ऐसा नही हुआ। अत यह आशा की जानी चाहिए कि जैसे-जैसे समय बीतता जाएगा, कृषि उत्पाद की एक इकाई के उत्पादन के लिए औद्योगिक उत्पादन की एक इकाई की तुलना मे श्रम की अधिक मात्रा लगेगी। यदि वस्तुओ के विनिमय की जड म उत्पादन के विविध क्षेत्रो मे श्रम का विनिमय है तो यह मानना होगा कि व्यापार की शर्ते उद्योगो के प्रतिकूल हो जाएगी, दूसरे शब्दो मे, कृषि उपज की एक निश्चित मात्रा प्राप्त करने के लिए बडी मात्रा म निर्मित वस्तुए देनी पडेंगी। माल्थस के युग मे अर्थशास्त्रियो मे यह आशका आम थी और बीसवी शताब्दी के प्रारम्भ मे मार्शल के अनुयायियो का मत भी मूल रूप से भिन्न नही था।

अब हम तथ्यो की ओर आते है। उन्नीसवी शताब्दी के आरम्भ से ब्रिटेन मे व्यापार की शर्तो से सम्बन्धित जो आकड़ उपलब्ध थे, उनका समीक्षाधीन विषय के सम्बन्ध मे सामान्य सिद्धान्त बनाने के लिए साख्यिकी आधार के रूप मे व्यापक रूप से प्रयोग किया गया है। चूकि ब्रिटेन के निर्यात मे मुख्यत निर्मित वस्तुए और उसके आयात म खाद्य तथा कच्चा माल होते थे इसलिए ब्रिटेन के लिए निर्यात तथा आयात के मूल्यो के बीच के अनुपात को विश्व बाजार मे, निर्मित तथा प्राथमिक उत्पादों के बीच विनिमय की शर्तो का उचित सकेत देने वाला माना गया है। इन आकडो से पता चलता है कि उन्नीसवी शताब्दी के मध्य तक व्यापार की शर्ते स्पष्ट रूप से ब्रिटेन के प्रतिकूल हो गई थी। इसके बाद की तीन दशाब्दियो मे यही प्रवृत्ति चलती रही परतु इसका जोर बहुत कम हो गया। इस प्रकार, नेपोलियन के युद्धो के अन्त से लेकर 1870 के बाद वाली दशाब्दी तक के ब्रिटिश अनुभव से उस बात की जोरदार पुष्टि हो जाती है *जिसे हम व्यापार की शर्तो की दीर्घकालीन प्रवृत्ति के सम्बन्ध मे माल्थस की परिकल्पना* कह सकते हैं। इसके पश्चात् स्थिति बदल गई। 1880 के बाद वाली दशाब्दी से व्यापार की शर्तों की प्रवृत्ति विपरीत दिशा मे हो गई।

परन्तु प्रमुख अर्थशास्त्री बढते हुए प्रतिकूल लक्षणों के बावजूद पहले वाली परिकल्पना का ही समर्थन करते रहे। बीसवी शताब्दी के आरम्भ मे, जब व्यापार की शर्तों के ब्रिटेन के अनुकूल तथा प्राथमिक उत्पादक देशों के प्रतिकूल होने की प्रवृत्ति अस्थायी तौर पर रुक गई तब इन अर्थशास्त्रियों मे जो प्रतिक्रिया हुई उससे इस प्रश्न के सम्बन्ध मे उस समय पाए जाने वाले मत का स्पष्ट सकेत मिलता है। 1912 मे जे० एम० केन्स ने 'इकनामिक जर्नल' मे लिखा

> *इस देश की दृष्टि से (व्यापार की शर्तों का) ह्रास कच्चे उत्पादों के लिए ह्रासमान प्रतिफल नियम के लागू होने के कारण है, जो अस्थायी स्थिरता के बाद, अभी हाल के कुछ वर्षो मे तेजी से शुरू हो रहा है व्यापार का लाभ औद्योगिक देशो को अपेक्षाकृत कम हो रहा है।*[1]

पीछे की ओर दृष्टिपात करने से अब यह स्पष्ट हो गया है कि केन्स ने स्थिति का गलत अनुमान लगाया था। 1880--90 से 1930--40 तक की अवधि मे, व्यापार मे अपेक्षाकृत लाभ दीर्घकालीन प्रवृत्ति का विषय था, जो प्राथमिक उत्पादो के प्रतिकूल जा रही थी और जब केन्स ने ऊपर उद्धृत शब्द लिखे थे तब उसने 'अस्थायी स्थिरता' पर गौर अवश्य किया था परन्तु यह स्थिति, जो स्थिति वह समझ रहा था, उससे बिल्कुल भिन्न थी।

अभी हाल के वर्षो मे क्या हुआ ? समकालीन इतिहास से सामान्य नियम बनाना सदैव कठिन होता है। हम केवल इतना कह सकते है कि यद्यपि युद्ध काल मे व्यापार की शर्तो की प्रवृत्ति प्राथमिक उत्पादक देशो के अनुकूल रही है—जैसा कि कोरिया का उदाहरण है—तथापि इस बात का कोई प्रमाण नही मिलता कि माल्थस की परिकल्पना सामान्य दृष्टि से ठीक उतरी है। इसकी व्याख्या कैसे की जाए ?

हम एक बार फिर इस समस्या को बयान करते है। यह सच है कि विकसित देशो मे उद्योग तथा कृषि दोनो मे उत्पादन की रीतियो मे सुधार हो गया है। परन्तु यदि विकसित अर्थ-व्यवस्थाओ की, जहा राष्ट्रीय उत्पादन का बडा भाग औद्योगिक उत्पादन से प्राप्त होता है, तुलना अल्प विकसित अर्थ-व्यवस्थाओ से की जाए, जहा अधिकाश उत्पादन कृषि से प्राप्त होता है, तो आधुनिक टेक्नालाजी के प्रभाव मे जो अन्तर है उसके बारे मे कोई सन्देह नही रह सकता। काफी समय से विकसित देशों के उद्योगो मे श्रम की उत्पादिता मे निरन्तर वृद्धि हुई है, जब कि अल्प विकसित अर्थ-व्यवस्थाओ मे कृषि मे अपेक्षाकृत कोई परिवर्तन नही हुआ। तब क्या कारण है कि व्यापार की शर्ते निश्चयात्मक रूप से *उद्योगों के प्रतिकूल नही हुई ? इस प्रश्न के उत्तर* मे यह कहना ठीक नही है कि व्यापार की शर्ते प्राथमिक उत्पादक देशो के भी प्रतिकूल नही गई। अब प्रश्न यह है कि उस पुराने तर्क मे क्या गलती है जिसके कारण अर्थशास्त्रियो को यह विश्वास हो गया कि

1. द इकनामिक जर्नल, 1912, पृ० 630–31

'विनिमय के अनुपात की सामान्य प्रवृत्ति वस्तु निर्माण के प्रतिकूल और कृषि समुदायों के अनुकूल होने की है?'

हेन्स डब्ल्यू० सिंगर ने इस प्रश्न का एक उत्तर दिया है।[1] बढ़ी हुई श्रम उत्पादिता से होने वाले लाभ दो भिन्न तरीकों से लोगों में वितरित किए जा सकते हैं। श्रम उत्पादिता में वृद्धि से मजूरी में वृद्धि हो सकती है या इसके परिणामस्वरूप कीमत घट सकती है। पहली स्थिति में तकनीकी सुधार के लाभ लोगों को उनके उत्पादक होने की हैसियत में मिलते है। दूसरी स्थिति में, समुदाय उपभोक्ताओं के निकाय के रूप में तकनीकी प्रगति का लाभ उठाता है। किसी निर्दिष्ट समाज को इससे कोई अधिक अन्तर नहीं पड़ता कि इन दोनों में कौन सा तरीका अपनाया जाता है क्योंकि यह माना जा सकता है कि उत्पादकों का साधारण निकाय और उपभोक्ताओं के साधारण निकाय एक जगह पर आकर मिल जाते हैं, हालांकि पेंशनभोगियों जैसे विशेष श्रेणियों के व्यक्तियों के लिए दोनों बात एक सी नहीं हो सकती। परन्तु यदि हम एक दूसरे के साथ व्यापार करने वाले दो भिन्न समाजों को लें तो यह तादात्म्य टूट जाता है। एक देश के निर्यात वस्तुओं के उत्पादक वही व्यक्ति नहीं होते जो उन वस्तुओं के उपभोक्ता होते है। औद्योगिक रूप से समुन्नत देशों में टेक्नालाजी सम्बन्धी प्रगति के साथ श्रम बहुत महंगा हो गया है। इसका अर्थ यह है कि ऐसी प्रगति के लाभ, विकसित समाजों में उत्पादकों के साधारण निकाय को प्राप्त हुए हैं और अल्प विकसित देशों में उपभोक्ताओं को नहीं दिए गए हैं। दूसरी ओर इन अल्प विकसित देशों में निर्यात क्षेत्र में तकनीकी प्रगति से मजूरी के स्तर को ऊंचा करने की अपेक्षा मूल्यों को नीचे रखने में सहायता मिली है। अतः, इसके लाभ विकसित अर्थ व्यवस्थाओं में प्राथमिक उत्पादों के उपभोक्ताओं द्वारा बांट लिए गए हैं।

व्यापार की शर्तों की प्रवृत्ति सम्भवतः प्राथमिक उत्पादक देशों के विरुद्ध उतनी सतत या निश्चयात्मक नहीं होती जितनी कि हम में से कुछ का विश्वास है। ब्रिटेन के आंकड़ों से निष्कर्ष निकालने में सावधानी बरती जानी चाहिए। एक लंबे समय में उत्पादित वस्तुओं की किस्म में जो सुधार हुए है वे कृषि की अपेक्षा औद्योगिक वस्तुओं के क्षेत्र में अधिक हुए हैं और इन सुधारों का इन आंकड़ों में पर्याप्त संकेत नहीं मिलता। इसके अलावा ब्रिटेन का अनुभव सभी विकसित देशों का प्रतीक नहीं हो सकता। व्यापार की शर्तों के सम्बन्ध में योरप के औद्योगिक आंकड़ों की स्थिति इस सम्बन्ध में ब्रिटेन की दीर्घकालीन स्थिति से भिन्न है।

यह बात बिल्कुल निश्चित है कि अल्प विकसित देशों के व्यापार की शर्तों में उससे कहीं अधिक उतार-चढ़ाव होता है जितना कि उनकी अर्थ-व्यवस्थाओं के लिए ठीक होता है। कुछ चुने हुए विकसित तथा अल्प विकसित देशों के व्यापार की शर्तों के मध्यदर्शी

1 दखिए उसका लेख 'द डिस्ट्रिब्यूशन आफ गेन्स बिटवीन इन्वेस्टिंग एण्ड बारोइंग कन्ट्रीज', अमरीकन एकनामिक रिव्यू पेपर्स एण्ड प्रोसीडिंग्स मई 1950

मूल्यों की तुलना करने के पश्चात् मोगन इस निष्कर्ष पर पहुचा कि "अभी हाल में अल्प विकसित देशों में अतिशय परिवर्तन हुए हैं और उनमें ह्रासोन्मुख प्रवृत्ति अधिक नजर आती है।"[1] यह कोई अप्रत्याशित बात नहीं है। अनेक अल्प विकसित देश थोडी सी निर्यात वस्तुओं पर बहुत अधिक निर्भर करते है, यही बात उनकी स्थिति को उन अधिक विकसित देशों की तुलना में कमजोर बना देती है जो अनेक प्रकार की वस्तुओं का व्यापार करते हैं।

यह ख्याल हो सकता है कि व्यापार की शर्तों में उतार चढाव से कोई खास नुकसान नहीं होता क्योंकि उतार के समय जो नुकसान होता है उसकी पूर्ति सम्भवत अगले चरण में जब व्यापार की शर्तें लाभकर होती है हो जाती है। मूल रूप से प्रवृत्ति रेखा ही महत्वपूर्ण होती है। किन्तु यह एक गलत धारणा है। उतार चढाव एक दूसरे की पूर्ति नहीं करते और ऐसा क्यों नहीं होता इसकी व्याख्या करना उपयुक्त होगा।

आय के एक स्तर में भारी कमी हो जाने से अत्यधिक मानसिक पीडा तथा भौतिक कठिनाई होती है और आय में उतनी ही वृद्धि से उसकी पूर्ति नहीं की जा सकती। यह बात खास तौर पर निम्न आय वर्ग के लोगों के बारे में सही बैठती है। इसलिए व्यापार की शर्तों के खराब हो जाने के कारण गरीब देशों को जो नुकसान होते हैं वे वास्तव में, उसी कारण से अमीर देशों को होने वाले लाभों के बराबर नहीं होते। आर्थिक विकास पर उतार चढाव के प्रभाव भी एक जैसे नहीं होते। चूकि विकासशील देश आवश्यक उत्पादक वस्तुओं की सप्लाई के लिए औद्योगिक रूप से विकसित देशों पर निर्भर करते हैं इसलिए उनके निवेश कार्यक्रमों में आयात का अंश शामिल होता है। विदेशी मुद्रा से होने वाली आय में कमी होने के कारण नियोजित निवेश कार्यक्रमों के आकार को घटाना पड सकता है। ऐसी आय में काफी वृद्धि होने से सदैव यह सम्भव नहीं होता कि कुल निवेश में भी उसी अनुपात से वृद्धि हो जाएगी क्योंकि घरेलू बचत की परिसीमा या सगठनात्मक सीमाओं जैसी अन्य बाधाएं भी होती है जो रास्ते में आकर खडी हो जाती हैं। अन्तिम बात यह कहनी है कि उतार चढाव अनिश्चितता की भावना को जन्म देते हैं जिससे युक्तिसगत आयोजना कठिन हो जाती है। यह बात ध्यान देने की है कि व्यापार की शर्तों को स्थिर करने के तर्क बहुत हद तक उसी तरह के हैं जिस तरह देश के भीतर मूल्यों को स्थिर करने के लिए दिए जाते हैं।

प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि प्राथमिक उत्पादक देशों के मुख्य उत्पादों के मूल्यों में विश्व बाजार में जो उतार चढाव होते है उनके प्रभाव से प्राथमिक उत्पादक देशों को कैसे बचाया जा सकता है? इस प्रयोजन के लिए एक सामान्य युक्ति सचित भण्डार का निर्माण है। इसका मूलभूत आशय बिल्कुल स्पष्ट है। जब सम्बन्धित वस्तु का मूल्य विनि

1 टी० मोगन टर्म्स इन टर्म्स आफ ट्रेड एण्ड देयर रिपरकशन्स आन प्राइमरी प्रोड्यूसर्स 'इन्टरनेशनल ट्रेड थ्योरी इन ए डवलपिंग वर्ल्ड' स० राय हैरोड सहायक डगलास हैग मकमिलन, लदन 1963 पृ० 61

दिष्ट सीमाओ से नीचे गिर जाएगा तब संचित भण्डार के प्रभारी प्राधिकरण खरीदार बन कर बाजार मे आ जाएगे और इस प्रकार मूल्य को ऊपर उठाने मे सहायता करगे, और उसके मूल्य मे वृद्धि होने पर बाजार म संचित भण्डार का माल निकाल कर उसके मूल्य को नीचे लाने मे सहायता करेंगे। इस प्रकार की योजनाओ की सफलता कई बातो पर निर्भर करती है। कुछ वस्तुओ का भण्डार करने पर, जिनमे प्राय अशीतन तथा गुणावस्था (क्वालिटी) के ह्रास मे सरक्षण भी शामिल होता है, अधिक लागत आती है और तद-नुरूप संचित भण्डार की योजना महगी पडती है। बहरहाल, ऐसी योजना कोई स्थायी समाधान प्रस्तुत नही करती, यह केवल साधारण उतार चढावो के प्रभाव को कम करन मे सहायक हो सकती है।

कुछ प्राथमिक उत्पादक देश किसी वस्तु के उत्पादन या निर्यात के सम्बन्ध म आपस मे मिलकर ऐसे सम्मत प्रतिबन्धो को भी अपना सकते है जिनम उनकी सामान्य दिलचस्पी हो, और इस प्रकार इसके मूल्य को उस स्तर से ऊचे स्तर पर कायम रख सकत है जो निर्बाध प्रतियोगिता द्वारा उसके लिए निर्धारित हो सकता हो। परतु एकाधिकार-वादी प्रतिबन्ध की इस युक्ति की अपनी ही समस्याए है। कोई देश ऐसा भी हो सकता है जो अपने आपको ऐसे प्रतिबन्धो मे उलझाए बगैर सामूहिक समझौते से बाहर रहना चाह और इस प्रकार अन्य देशा द्वारा अपनाए गए प्रतिबन्धो के परिणामस्वरूप मूल्य मे होने वाली वृद्धि का लाभ उठाना पसन्द करे। एक मौलिक समस्या और भी है। चूकि प्रत्येक सदस्य देश का उत्पादन या निर्यात का कोटा सम्भवत पुराने कार्यनिष्पादन के आधार पर नियत होगा इसलिए कोई भी देश उत्पादन को बढाने तथा समुन्नत तकनीको को अपनाने का वैसा प्रयास नही करेगा जैसा प्रतियोगिता के दबाव के अधीन किए जाने की आशा की जा सकती है। दूसरे शब्दो मे, एकाधिकार की तरह के समझौतो से गतिरोध होने की सम्भावना हो सकती है, जिसके दीर्घकालीन परिणाम सविदा मे भाग लेने वाले सभी पक्षो के लिए हानिकर हो सकत है। जब किसी निर्यात योग्य वस्तु के लिए विदेशी माग की सापेक्षता थोडे समय के लिए कम हो जाती है तब भी यह सम्भावना होती है कि आगे चलकर जब बाजार म उस वस्तु के स्थान पर अन्य वस्तुओ के आने की सम्भावनाए हो जाएगी, उसमे और वृद्धि हो जाएगी। विश्व बाजार मे आने वाले देशो के लिए अच्छा होगा कि वे प्रतियोगिता की शक्तियो को ध्यान मे रख।

प्राथमिक उत्पादो का व्यापार करने वाले देशो के हितो को बाजार मूल्यो म उतार-चढाव के कारण होने वाले नुकसान से रक्षा करने के लिए कई प्रकार के प्रतिकर करारो का सुझाव दिया गया है। जे० ई० मीड द्वारा जिन 'मूल्य प्रतिकर करारो' की सिफारिश की गई है व एक उदाहरण प्रस्तुत करते है।[1] ऐसे करार की सीधी-सी वस्तु-स्थिति यह होगी कि दो देशो म से एक किसी प्राथमिक उत्पाद का आयात करेगा और दूसरा उसका निर्यात करगा। हम इन दोनो देशो को क्रमश 'अर्बानिया' तथा

1 जे० ई० मीड, 'इण्टरनेशनल कमोडिटी एग्रीमेंटस', लायड्स बैंक रिव्यू, जुलाई 1964

'हरिटानिया' कहेंगे। इस करार के लिए सबसे पहला काम यह है कि सम्बन्धित वस्तु के निर्यात का एक निर्धारित समय के लिए कोई 'मानक मूल्य' तथा 'सामान्य परिमाण' नियत किया जाए। यदि इस अवधि के दौरान उस वस्तु का बाजार मूल्य 'मानक मूल्य' से कम हो जाता है तो 'अर्वानिया' उस कमी की सारी राशि या उसके एक निर्धारित भाग की, जिसका हिसाब व्यापार के 'सामान्य परिमाण' के आधार पर लगाया जाएगा, पूर्ति करेगा। यदि, दूसरी ओर, 'अर्वानिया' को बाजार मे मानक मूल्य से अधिक अदा करना पड़े तो 'हरिटानिया' को तदनुरूप आधार पर उसका प्रतिकर देना पडेगा। जरूरी नही कि ऐसा करार केवल दो देशो के बीच हो, कितने ही देश इस आधार पर करार कर सकते हैं। इसके अलावा, यह संचित मण्डार योजना का कोई विकल्प नहीं है, दोनों योजनाएं अच्छी तरह साथ-साथ चल सकती हैं।

प्रतिकर के सिद्धान्त को वास्तव मे और व्यापक बनाया जा सकता है। इस सिद्धान्त को किसी एक उत्पाद विशेष के साथ केवल उसके मूल्य के संदर्भ मे सम्बन्धित करने के बजाय, निर्यात आय मे सभी प्रकार के कारणो से होने वाले उतार-चढावो का सतुलन करने के लिए भी इस सिद्धान्त को अपनाया जा सकता है। निर्मित वस्तुओ की अपेक्षा प्राथमिक उत्पादो के उत्पादन पर नैसर्गिक कारणो का प्रभाव बहुत अधिक होता है। हो सकता है किसी देश की मुख्य निर्यात वस्तु की फसल मौसम की खराबी के कारण नष्ट हो जाए। यदि यह देश विश्व बाजार मे इस वस्तु की कुल सप्लाई मे थोडा-सा हिस्सा देता हो तो मूल्य पर बहुत थोड़ा प्रभाव होने की सम्भावना हो सकती है परन्तु प्रभावित देश द्वारा किए जाने वाले निर्यात की मात्रा मे कमी हो जाने के कारण उसको निर्यात से होने वाली आय मे बहुत कमी हो जाएगी। चूकि मूल्य मे जो परिवर्तन होगा वह ऊपर की दिशा मे होगा इसलिए इस निमित्त प्रतिकर नही दिया जा सकेगा। इस प्रकार 'मूल्य प्रतिकर' का सिद्धान्त ही पर्याप्त नही है। निर्यात आय मे स्थिरता लाने के लिए और व्यापक व्यवस्था की आवश्यकता है।

यद्यपि व्यापार की शर्तो मे होने वाले उतार-चढावों को कम करना जरूरी होता है तथापि इनके स्थिर होने पर भी अल्प विकसित देशो की प्रमुख समस्या हल नहीं हो पाती। इसका वर्णन भुगतान शेष की या स्वयं आर्थिक विकास की समस्या के रूप मे विभिन्न प्रकार से किया जा सकता है। द्रुत विकास से निर्यात की अपेक्षा आयात मे बहुत अधिक वृद्धि हो जाती है और उससे भुगतान शेष गडबडा जाता है। यदि कोई अल्प विकसित देश सतुलन की अवस्था से, विकास की धीमी गति के साथ आगे बढता है और जबकि उसके आयात और निर्यात के बीच संतुलन है तो व्यापार सन्तुलन की समस्या से बचने का सीधा सा रास्ता यही है कि विकास को धीमी गति के साथ जारी रखा जाए। राउल प्रेबिश ने लेटिन अमरीकी देशो के विशेष सदर्भ से आयात के लिए माग की परिवर्ती आय सापेक्षता के रूप मे इस समस्या का विवेचन किया है। उसने एक उदाहरण के आधार पर अपनी बात कही है। इसमे औद्योगिक रूप से विकसित देश,

जैसे अमरीका, केन्द्र हैं और अल्प विकसित देश, जैसे लेटिन अमरीकी राष्ट्र, उपान्त पर स्थित हैं। उसने बताया है कि यह एक मानी हुई बात है कि केन्द्र द्वारा लेटिन अमरीकी प्राथमिक वस्तुओं के आयात के लिए माग की आय सापेक्षता सामान्यतः लेटिन अमरीकी देशो द्वारा केन्द्र से औद्योगिक उत्पादो के आयात के लिए माग की आय सापेक्षता से कम होती है। केन्द्र द्वारा उपान्त से आयात के लिए माग की आय सापेक्षता 0 80 और उपान्त द्वारा केन्द्र से आयात के लिए माग की आय सापेक्षता 1 30 मान कर और जनसख्या मे असमान दर से होने वाली वृद्धि से उत्पन्न जटिलताओ की उपेक्षा करते हुए प्रेबिश ने अपनी बात को स्पष्ट किया है कि 'यदि, सतुलित विकास की प्रक्रिया मे आयात वृद्धि की दर निर्यात वृद्धि की दर से अधिक न होने दी जाए तो उपान्तीय आय प्रति वर्ष1 84 प्रतिशत से अधिक तेजी से नही बढ सकती, जबकि केन्द्र की आय मे वृद्धि की दर 3 प्रतिशत वार्षिक होती है।'[1] ठीक-ठीक सख्यात्मक उदाहरण का यहा विशेष महत्व नही है। *महत्व की बात यह है कि यह मूलभूत समस्या पर प्रकाश डालता है।*

यह अनुमान लगाना कठिन नही है कि अल्प विकसित देश द्रुत विकास की प्रारम्भिक अवस्था मे औद्योगिक रूप से उन्नत देशो से अधिक आयात क्यो करते हैं। *विदेशो से पूजीगत वस्तुओ, खाद्य तथा कच्चे माल और उच्च श्रेणी की उपभोक्ता* वस्तुओ का आयात करने की बढी हुई प्रवृत्ति के रूप मे इसके मुख्य कारणो का विवेचन हम पहले कर चुके हैं। परन्तु अल्प विकसित देशों द्वारा बिक्री के लिए प्रस्तुत *किए गए प्राथमिक उत्पादो के लिए विकसित देशो की माग की स्थिति क्या है?* क्या ऐसी माग की आय सापेक्षता कम होती है, और यदि कम होती है तो क्यो? इस प्रश्न का उत्तर अशतः उच्च आय स्तर पर होने वाली माग की कुछ विशेषताओ और अशतः आधुनिक टेक्नालाजी की कुछ बातो मे मिलेगा। एक सीमा के बाद, आय में हुई वृद्धि को खाद्य पर खर्च नही किया जाता वरन् उसे विभिन्न सेवाओ और बढिया किस्म के औद्योगिक उत्पादो पर खर्च किया जाता है। इसके अलावा, हाल के वर्षों मे हुई तकनीकी प्रगति से कच्चे माल मे बचत करने के लिए नये तरीके निकल आए हैं।

रगनार नर्कसे ने अपनी विकसेल व्याख्यान माला मे हमारा ध्यान उन्नीसवी शताब्दी मे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के स्वरूप और इसके आज के स्वरूप के बीच के भारी अन्तर की ओर आकृष्ट किया।[2] पिछली शताब्दी में ब्रिटेन एक प्रमुख औद्योगिक देश था। *खाद्य तथा कच्चे माल की सप्लाई के लिए उसे अन्य अल्प विकसित देशो पर निर्भर* करना पडता था। ज्यो ही ब्रिटेन का विकास हुआ वैसे ही इन प्राथमिक उत्पादो के लिए

1. राउल प्रेबिश, 'इण्टरनेशनल ट्रेड एण्ड पमेंट्स इन एन इरा आफ कोएग्जिस्टेंस', 'अमरीकन इकनामिक रिव्यू', मई, 1959.

2 आर० नर्कसे, 'पैटर्न्स आफ ट्रेड एण्ड डेवलपमेंट', स्टाकहोम, आमक्विस्ट एण्ड विक्सेल, 1959.

उसकी माग मे भी वृद्धि हो गई। इससे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का एक सामान्य सिलसिला कायम हो गया जिसके अनुसार उन्नीसवी शताब्दी मे 'नये' देशो का आर्थिक विकास हुआ। ये देश ब्रिटेन को उसकी जरूरत का खाद्य तथा कच्चा माल सप्लाई करते थे और उसके बदले मे उससे औद्योगिक उत्पाद प्राप्त करते थे। ब्रिटेन इन देशो मे प्राकृतिक ससाधनो को प्राप्त करने के लिए वाछित पूजी भी देता था। आज के ससार की स्थिति बिल्कुल भिन्न है। अमरीका और रूस आज के ससार के महान् औद्योगिक देश है। परतु ये देश खाद्य तथा कच्चे माल के लिए ससार के अन्य देशो पर निर्भर नही करते जैसे कि उन्नीसवी शताब्दी मे ब्रिटेन करता था। वास्तव म, अमरीका खाद्य तथा औद्योगिक उत्पाद दोनो का निर्यात करता है। सोवियत अर्थ-व्यवस्था का लक्ष्य सदैव पूरी आत्म-निर्भरता करना रहा है। यद्यपि सोवियत सघ इस समय व्यापार म पहले से कही अधिक दिलचस्पी रखता है तथापि वह सामान्यत व्यापार करने वाला देश नही है। इस समय विकासशील अर्थ-व्यवस्थाओ के सामने ऐसी स्थिति उपस्थित है जिसमे निर्यात का विस्तार करने के उतने अवसर उपलब्ध नही है जो पिछली शताब्दी मे उपलब्ध थे। इसके साथ ही अधिक विकसित तथा अल्प विकसित देशो के बीच टेक्नालाजी के बढते हुए व्यवधान का परिणाम यह हुआ है कि अल्प विकसित देशो को विदेशो से कम से कम उतनी मात्रा म पूजीगत वस्तुओ का आयात करना पडता है जितनी मात्रा मे इनको अतीत मे करना पडता था। इसके अलावा, अधिक आबादी वाले अल्प विकसित क्षत्रो को खाद्य का आयात करने की जरूरत होती है। चूकि परिवहन की सुविधाए बढ जाने के कारण अब ससार सिमट कर छोटा बन गया है, इसलिए अन्तर्राष्ट्रीय 'प्रदर्शन का प्रभाव पहले से कही अधिक है, जिसके कारण अल्प विकसित देशो के उच्च आय वर्ग के लोगो म अमीर राष्ट्रो के घरेलू उपकरणो तथा सुख के सामान के लिए काफी माग पैदा हो गई है। ये सब मिल कर निर्यात व्यापार तथा आयात व्यापार के बीच एक गम्भीर असतुलन पैदा करते है, जिससे केवल वे अल्प विकसित देश बच पाते हैं जिनके पास तेल की बडे बडे प्राकृतिक भण्डारो जैसे विशेष साधन होते है। अन्य देशो के लिए व्यापार के सतुलन की समस्या बहुत ही गम्भीर होती है और विकास के मार्ग मे उन देशो की तुलना म इतनी बडी रुकावट बन जाती है जिन्होने अपने औद्योगिक प्रस्थान की अवस्था प्रथम महायुद्ध से पहले पार कर ली थी।

इस समस्या से निकलने का क्या तरीका हो सकता है। एक तरीका यह है कि चालू निर्यात व्यापार तथा अपेक्षित आयात व्यापार के बीच के व्यवधान को विदेशी पूजी से पूरा कर दिया जाए। परतु, यह इस समस्या का कोई स्थायी हल नही है। अन्ततोगत्वा, आयात व्यापार पर नियत्रण रखकर तथा/या आयात व्यापार को बढाकर असतुलन को दूर करने के अलावा कोई तरीका नही रह जाता। अल्पकालीन तथा दीर्घकालीन उपचारो के द्वारा इसकी अनुपूर्ति की जानी चाहिए। विदेशी सहायता तथा निवेश का प्रयोग इस प्रकार किया जाना चाहिए कि उनसे विकास का ऐसा स्वरूप सामने आ

जाए जिसका लक्ष्य विदेशी सहायता की आवश्यकता को उत्तरोत्तर कम करना हो।

अब हम आर्थिक रूप से अल्प विकसित देशों के लिए विदेशी सहायता से सम्बन्धित कुछ प्रमुख समस्याओं का विवेचन करेंगे।

इस सम्बन्ध में पहली समस्या विदेशी सहायता की आवश्यकताओं का अनुमान लगाना है। इससे विदेशी भुगतान-अन्तर के दृष्टिकोण तथा बचत-अन्तर के दृष्टिकोण के बीच भेद किया जा सकता है। प्रथम दृष्टिकोण के अन्तर्गत, किसी योजना काल में आयात की आवश्यकताओं का अनुमान लगाने का प्रयास किया जाता है, जिसमें से उसी अवधि में प्रत्याशित आयात की कुल मात्रा को घटा दिया जाता है, और जो शेष बचता है वह विदेशी भुगतान का अन्तर है। उदाहरण के लिए, भारत की पंचवर्षीय योजनाओं में विदेशी सहायता की आवश्यकताओं का अनुमान लगाने के लिए इसी तरीके को अपनाया जाता है। दूसरे दृष्टिकोण के अन्तर्गत, किसी योजना काल में कुल निवेश की आवश्यकताओं और घरेलू बचत का अनुमान लगाया जाता है और दोनों के बीच जो अन्तर है, वह बचत-अन्तर है। आइए, हम दूसरे दृष्टिकोण के बारे में थोड़ा और विस्तार से विचार करें।

1951 में संयुक्त राष्ट्र के एक विशेषज्ञ दल द्वारा दी गई 'मेजर्स फार द इकनामिक डेवलपमेंट आफ डेवलप्ड कंट्रीज' नामक रिपोर्ट में अल्प विकसित देशों की विदेशी *सहायता सम्बन्धी आवश्यकताओं का अनुमान लगाने के लिए बचत-अन्तर के दृष्टिकोण* का उदाहरण दिया गया है। संयुक्त राष्ट्र के विशेषज्ञों ने लैटिन अमरीका, अफ्रीका, मध्य पूर्व, दक्षिण एशिया और जापान को छोड़ कर दूर पूर्व के देशों को अल्प विकसित क्षेत्रों के *अन्तर्गत माना था। विशेषज्ञों ने निर्णय किया कि इन देशों की राष्ट्रीय आय में से एक* प्रतिशत आय प्रति वर्ष कृषि विस्तार सेवाओं और अनुसंधान पर और तीन प्रतिशत कृषि पूंजी निर्माण के लिए फार्मों पर तथा फार्मों से बाहर खर्च की जानी चाहिए। इस आधार पर, कृषि क्षेत्र में वार्षिक *निवेश 4 बिलियन डालर से थोड़ा कम होगा।* कृषि से इतर निवेश सम्बन्धी आवश्यकताओं का अनुमान निम्नलिखित तरीके से लगाया गया था। यह मान लिया गया था कि आर्थिक विकास के दौरान कुल श्रम बल में से एक प्रतिशत को कृषि क्षेत्र से निकाल कर इतर व्यवसायों में लगाना होगा। कृषि से इतर रोजगार में खपाए गए प्रत्येक व्यक्ति के लिए अपेक्षित पूंजी की राशि 2,500 डालर मानी गई थी। आर्थिक रूप से अल्प विकसित देशों की कुल जनसंख्या 15,270 लाख है जिसमें से 2/5 श्रम बल है और इनमें कृषि से इतर क्षेत्र में 15 बिलियन डालर से कुछ अधिक वार्षिक निवेश की आवश्यकता है। इन देशों की समस्त अनुमानित राष्ट्रीय आय 100 बिलियन डालर से कम था यूं कहिए कि 96 बिलियन डालर थी जबकि शुद्ध घरेलू बचत 5 बिलियन डालर से थोड़ी अधिक थी। आर्थिक विकास के लिए नियोजित प्रयास के रूप में घरेलू बचत में कुछ सम्भावित वृद्धि को विचार में रखते हुए संयुक्त राष्ट्र के विशेषज्ञ इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि सभी अल्प विकसित देशों को मिलाकर 10

बिलियन डालर से काफी अधिक पूंजी बाहर से लेनी पड़ेगी। चीन को छोड़कर यह राशि लगभग 7 बिलियन डालर मानी गई थी। (इन सभी तथा उत्तरवर्ती कथनों में डालर से अमरीकी डालर अभिप्रेत है और 'बिलियन' अमरीकी प्रयोग के अनुसार एक हजार मिलियन के लिए आया है)। सहायता सम्बन्धी आवश्यकता का अनुमान लगाने के लिए किए गए इस प्रारम्भिक प्रयास का अनुसरण अन्य लोगों ने भी किया।[1] बाद में किए गए इन प्रयासों तथा पहले किए गए प्रयास में, जिसका ऊपर वर्णन किया गया है, कुछ अन्तर है। जबकि संयुक्त राष्ट्र के विशेषज्ञों ने कृषि से इतर क्षेत्र में निवेश सम्बन्धी आवश्यकताओं का अनुमान अतिरिक्त रोजगार की आवश्यकता के आधार पर लगाया, अन्य लोगों ने अपनी गणना के लिए राष्ट्रीय आय की नियोजित वृद्धि दर और प्रत्याशित पूंजी उत्पादन अनुपात को आधार माना है। इसके अलावा योजना काल में घरेलू बचत की गणना करने के लिए बचत की सीमान्त दरों के स्थान पर उसकी औसत दरों का प्रयोग करने के लिए संयुक्त राष्ट्र के विशेषज्ञों की आलोचना की गई है। यदि औसत दर में वृद्धि हो तो दोनों के बीच का अन्तर बहुत अधिक हो सकता है। परन्तु पिछले दशक के दौरान भारत तथा पाकिस्तान सहित कुछ गरीब देशों ने देखा कि घरेलू बचत में वृद्धि करना बहुत कठिन है। इन सब कमियों के बावजूद ऊपर दिए गए अनुमान उपयोगी सिद्ध होते हैं क्योंकि इनसे मोटे तौर पर यह पता चल जाता है कि आर्थिक पिछड़ेपन तथा अन्तर्राष्ट्रीय विषमताओं की समस्याओं पर काबू पाने की दिशा में कुछ प्रगति करने के लिए विकासशील देशों तथा संसार के अन्य देशों को कितना प्रयास करने की आवश्यकता है।

सहायता सम्बन्धी आवश्यकताओं का जिक्र करते हुए हमने अभी तक विदेशी पूंजी के देश में आने तथा 'सहायता' शब्द के ठीक-ठीक अर्थ के बीच कोई स्पष्ट अन्तर स्थापित नहीं किया है। विवेचन को स्पष्ट करने के लिए इस बात को साफ कर लेना आवश्यक है। अल्प विकसित देशों में कुछ विदेशी पूंजी का निवेश हो जाता है क्योंकि इस प्रकार के निवेश में वाणिज्यिक लाभ होता है। इस प्रकार के निवेशों के लिए बाजार के सामान्य प्रोत्साहनों के अलावा और बातों की आवश्यकता नहीं होती। ऐसा निवेश वास्तव में, सहायता नहीं होता हालांकि यह उपयोगी होता है। सहायता के अन्तर्गत वह विदेशी पूंजी आती है जो जरूरतमन्द देशों को अधिक उदार शर्तों पर प्राप्त हो और जो प्राप्त करने वाले देश के लिए बाजार में वर्तमान शर्तों की तुलना में अधिक सुविधापूर्ण हो। उदाहरणार्थ अनुदान या सीधे उपहार और 'आसान शर्तों पर ऋण', जिनका भुगतान लम्बे समय में किया जाता है और जिन पर ब्याज की दर कम होती है या जिनकी अन्य प्रकार से अनुकूल शर्तें होती हैं, इसके अन्तर्गत आते हैं। इसी कारण इसके अन्तर्गत वे ऋण नहीं आते जिनका भुगतान जल्दी करना पड़ता है या जिन पर व्यापारिक दर से

1 उदाहरण के लिए देखिए, रोजस्टीन रोदान का लेख 'इण्टरनेशनल एड फार अण्डर-डवलप्ड कण्ट्रीज', रिव्यू आफ इकानामिक्स एण्ड स्टैटिस्टिक्स, कैम्ब्रिज मासाच्युसेट्स मई 1961

ब्याज देना पड़ता है। यह आशा नहीं की जानी चाहिए कि विदेशी सहायता से अल्प विकसित देशों की विदेशी पूंजी सम्बन्धी सारी आवश्यकताएं पूरी हो जाएंगी।

विदेशी पूंजी की सप्लाई के साधनों का वर्गीकरण करने के और भी तरीके हैं। गैर-सरकारी विदेशी निवेश तथा 'सरकारी' वित्तीय संसाधनों के अल्प विकसित देशों में आने के बीच भेद किया जा सकता है। इस दूसरी प्रकार की सहायता को द्विपक्षीय तथा बहुपक्षीय सहायता में उपविभाजित किया जा सकता है। यदि दो सरकारें आपस में बात-चीत करके किसी ऋण के बारे में करार करें तो यह द्विपक्षीय सहायता का एक स्पष्ट उदाहरण होगा। संयुक्त राष्ट्र के किसी अभिकरण द्वारा, जो अनेक सदस्य देशों से धन प्राप्त करता है, दिया गया ऋण बहुपक्षीय सहायता का एक उदाहरण होगा।

गैर सरकारी से इतर विदेशी पूंजी का महत्व अपेक्षाकृत हाल में दृष्टिगोचर हुआ है। उन्नीसवीं शताब्दी में, जब पूंजी बड़े पैमाने पर एक देश से दूसरे देश में जाने लगी थी तब उसमें ज्यादा हिस्सा गैर-सरकारी निवेशकर्ताओं का होता था। इसलिए, हम अन्य प्रकार की विदेशी पूंजी पर विचार करने से पहले गैर सरकारी विदेशी पूंजी की विशेषताओं पर विचार करेंगे।

ब्रिटेन से बड़े पैमाने पर पूंजी बाहर जाने का सिलसिला नेपोलियन के युद्धों के बाद शुरू हुआ। उन्नीसवीं शताब्दी के दूसरे तथा तीसरे चतुर्थांशों में ब्रिटेन के मुकाबले में विदेशी पूंजी उपलब्ध करने वाला और कोई देश नहीं था। पूंजी या तो प्राइवेट कार-बार में निवेश के लिए या यूरप के प्रमुख बाजारों खास तौर पर लंदन में, सरकारों द्वारा बिक्री के लिए जारी किए गए बन्धन पत्र खरीदने के लिए विदेशों को जाती रही। 1825 तथा 1874 के बीच पूंजी की जितनी भी राशि ब्रिटेन से बाहर गई उसमें से आधी राशि यूरप में, *खास तौर से रेलवे के विकास पर लगाई गई और मोटे तौर पर उसका एक* चौथाई अमरीका में लगाया गया। उस शताब्दी के अन्तिम चतुर्थांश में फ्रांस तथा जर्मनी दो देश विदेशों में पूंजी के निवेशकर्ताओं के रूप में उभर कर सामने आए। बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में अमरीका भी मैदान में आ गया। परन्तु ब्रिटेन को 1913 तक पहले की भांति प्रमुख स्थान प्राप्त रहा। इस अवधि में ब्रिटेन के निवेश का काफी बड़ा हिस्सा अमरीका, कनाडा, आस्ट्रेलिया, न्यूज़ीलैंड और दक्षिण अफ्रीका में गया। ब्रिटेन द्वारा विदेशों में किए गए निवेश में भारत सहित एशिया का हिस्सा लेटिन अमरीका से कम था। *प्रथम महायुद्ध के पश्चात् विदेशी निवेश के क्षेत्र में अमरीका का आधिपत्य बढ़* गया। परन्तु दो महायुद्धों के बीच के समय कुल मिलाकर, विदेशी पूंजी का बहुत कम निवेश हुआ। उस समय ब्रिटेन के निवेश को ही धक्का नहीं पहुंचा बल्कि सभी देशों द्वारा किए गए कुल विदेशी निवेश की मात्रा में भी भारी कमी आई। दूसरे महायुद्ध के पश्चात्, अमरीका बड़े पैमाने पर अन्य देशों को पूंजी उधार देने लगा। विदेशी निवेश के इतिहास में यह एक नये चरण का आरम्भ भी था, जिसमें सरकारों तथा अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं ने पूंजी उपलब्ध करने में प्रमुख भूमिका निभाई।

आइए, अब हम बीसवीं शताब्दी के मध्य में गैर-सरकारी क्षेत्र में दीर्घकालीन पूंजी की कुछ खास बातों पर ध्यान दें। चूंकि अमरीका ने ऐसी पूंजी उपलब्ध करने में अन्य सभी देशों को पीछे छोड़ दिया, इसलिए हम वास्तव में अमरीका के गैर-सरकारी विदेशी निवेश की खास बातों पर ही चर्चा करेंगे। इस निवेश की खास बात यह थी कि यह कुछ चुने हुए देशों तथा क्षेत्रों में ही केन्द्रित था। अमरीका की इस पूंजी को प्राप्त करने वाले विकसित देशों में कनाडा एक प्रमुख देश था। मुख्य अल्प विकसित देशों के बीच भेद किया गया और अमरीकी निवेश का सबसे बड़ा भाग लेटिन अमरीका को प्राप्त हुआ। अल्प विकसित देशों में से जिन देशों को दीर्घकालीन गैर-सरकारी पूंजी की सबसे अधिक राशि प्राप्त हुई उनमें लेटिन अमरीका के वेनेजुएला, ब्राज़ील, मैक्सिको, अर्जेंटाइना, पेरू और चिली, योरप में इटली और यूनान और एशिया के फिलीपीन, इज़राइल और इराक शामिल थे। प्राइवेट विदेशी निवेश के दो मुख्य रूप होते हैं अर्थात् प्रत्यक्ष निवेश और 'पोर्टफोलियो' निवेश। जिस प्रकार शेयर तथा बाॅन्ड में अन्तर है उसी तरह का अन्तर इन दो प्रकार के निवेशों में है। प्रत्यक्ष निवेश से प्रबंध पर नियंत्रण प्राप्त हो जाता है जबकि दूसरे प्रकार के निवेश में निवेशकर्ता कारबार के स्वामित्व या प्रबंध में हिस्सा नहीं लेता बल्कि केवल बाहर से पूंजी उपलब्ध करने वाला होता है। अमरीका के आज के गैर-सरकारी निवेश की एक दूसरी खास बात यह है कि इसमें 'पोर्टफोलियो' निवेश की तुलना में प्रत्यक्ष निवेश की प्रधानता है। ऐसा नहीं कि अमरीका के निवेश सम्बन्ध में ही यह बात हो बल्कि भारत में ब्रिटेन के निवेश की भी यही विशेषता है। अभी हाल में, जर्मन निवेशकर्ताओं ने भी प्रभावी नियंत्रण सहित निवेश अर्थात् प्रत्यक्ष निवेश को स्पष्ट रूप से प्राथमिकता दी है। अमरीका के गैर-सरकारी निवेश की एक और खास बात भी है, जिस पर इस प्रसंग में ध्यान दिया जाना चाहिए। जो अमरीकी गैर-सरकारी पूंजी बाहर गई उसका एक बड़ा भाग वास्तव में 'बाहर' गया ही नहीं बल्कि वह विदेशों में उन मुनाफों का पुनर्निवेश मात्र था जो वहां पर कमाए गए थे। इस प्रकार के मुनाफे विदेशों में गैर-सरकारी अमरीकी निवेश का एक मुख्य स्रोत है।

विदेशी निवेशकर्ता प्रत्यक्ष निवेश को पसन्द करते है। इस बात को ध्यान में रखते हुए, इसके लाभ तथा हानि और कुछ अन्य सम्बद्ध विषयों का, खास तौर पर इस निवेश को प्राप्त करने वाले देश की दृष्टि से, विवेचन करना उपयोगी होगा।

अल्प विकसित देशों में पूंजी की ही कमी नहीं होती। उनमें प्रशिक्षित प्रबन्धकों, तकनीशियनों और उद्यमशील योग्यता वाले मार्गदर्शी व्यापारियों की भी कमी होती है। इसलिए, अधिक उन्नत देशों से पूंजी तथा विभिन्न प्रकार के कुशल व्यक्ति प्राप्त करना आवश्यक होता है। गैर-सरकारी प्रत्यक्ष निवेश की आवश्यकता को इस दृष्टिकोण से आवश्यक माना जा सकता है। हैरी जी० जानसन का कहना है कि 'गैर-सरकारी प्रत्यक्ष निवेश का बड़ा लाभ यह होता है कि यह पूंजी, आधुनिक टेक्नालाजी, कुशल प्रबंधक और

सुधारप्रियता सब को एक साथ अल्प विकसित देश में ले आता है।'[1] इनके साथ आने वाले अन्य उपादन कितने महत्वपूर्ण होते हैं, यह बात प्राप्त करने वाले देश की विकास अवस्था और विदेशी उद्यम की नीति पर निर्भर करता है। इतना ही पर्याप्त नहीं होता कि विदेशी अपने साथ नये कौशल और अधिक उन्नत तकनीकें ले आए। उसकी उपस्थिति से विकास में केवल उसी हद तक तेजी आएगी जिस हद तक वह ऐसे तरीके से कार्य करता है कि निमंत्रक देश के राष्ट्रिक इन कौशलों तथा तकनीकों को यथासम्भव शीघ्र अपनाने के योग्य हो जाए। चूंकि ऐसा करना निवेश प्राप्त करने वाले देश के हित में होता है इसलिए ऐसे विकास के संवर्धन के लिए कानून बनाए जा सकते हैं।

वस्तुतः, ऐसे कानून कई देशों में लागू हैं। आइए हम इस शताब्दी के उत्तरार्द्ध के आरम्भ में कुछ लेटिन अमरीकी देशों में लागू नियमों के आधार पर इस विषय को स्पष्ट करें। ब्राजील में यह नियम था कि सभी वाणिज्यिक तथा औद्योगिक प्रतिष्ठानों में दो-तिहाई वेतनभोगी तथा मजूरी कमाने वाले व्यक्ति ऐसे होने चाहिए जो वहां के राष्ट्रिक हों या अन्य देशों के ऐसे व्यक्ति हों जो उस देश में दस वर्ष से अधिक समय से रह रहे हों और जिन्होंने ब्राजीलियों से विवाह कर लिया हो। उन मामलों में विदेशी तकनीशियनों के सम्बन्ध में अपवाद किया गया जिनमें सरकार ने निर्णय किया कि ऐसे पात्र राष्ट्रिकों की वहां पर कमी है। कोलम्बिया में भी इसी तरह की अपेक्षाएं की जाती थीं। जिन उद्यमों में 10 से अधिक व्यक्ति काम करते थे, उनमें कम से कम 70 प्रतिशत वेतन कोलम्बिया के राष्ट्रिकों को अदा करने पड़ते थे और वेतनभोगी कर्मचारियों में 20 प्रतिशत से अधिक विदेशी नहीं हो सकते थे। आवश्यक तकनीकी कर्मचारी रखने के लिए छूट दी जा सकती थी, परन्तु केवल उतने समय तक के लिए जितना समय कोलम्बियावासियों को वह काम सिखाने के लिए आवश्यक होता था। इस नीति में कोई नई बात नहीं है। जब ट्यूडर काल में इंग्लैंड ने फ्लैंडर्स से कुशल तकनीशियन मंगवाए थे तब उसने सुनिश्चित कर लिया कि अधिक उन्नत टेक्नालाजी के ये प्रतिनिधि अंग्रेज शिक्षुओं को अपने बच्चों की तरह ही समझेंगे। सोलहवीं तथा सत्रहवीं शताब्दी में ब्रिटेन महाद्वीप के आप्रवासियों के प्रति भी ऐसी ही नीति अपनायी गई थी। जैसाकि आर्थर लेविस हमें स्मरण कराता है, 'कानून में यह अपेक्षा थी कि वे वहां के रहने वाले अंग्रेजों को शिक्षु बनाएं और प्रशासनिक प्रक्रिया ऐसी थी जो उन्हें वहां पर जमा होने से या अन्य तरीकों से दूसरों में मिल जाने का प्रतिरोध करने से रोकती थी।[2]

जाहिर है कि जिन देशों में राजनीतिक स्वतन्त्रता नहीं होती वे अपनी मर्जी से ऐसी नीति का अनुसरण नहीं कर सकते। कुछ परिस्थितियों में जातीय अवरोध परस्पर

1 एच० जी० जानसन, 'इकनामिक पालिसीज टुवर्ड लैस डेवलप्ड कण्ट्रीज', जार्ज एलन एण्ड अनविन, लंदन 1967, पृ० 61

2 डब्ल्यू० ए० लेविस, 'द थ्योरी आफ इकनामिक ग्रोथ', जार्ज एलन एण्ड अनविन, लंदन, 1955, पृ० 359

घुल मिल जाने की प्रक्रिया को कठिन या असम्भव बना देते हैं। यह कठिनाई उन देशों में नहीं हुई थी जहां विदेशों से आने वाले लोग संस्कृति और जाति की दृष्टि से भिन्न नहीं थे और इसलिए घुलमिल गए थे। तब भी इसके प्रमुख विचार पर ज़ोर देना उचित है। अल्प विकसित देशों में विदेशी तकनीशियनों तथा विशेषज्ञों को मिलने वाले ऊंचे वेतनों के प्रति प्रायः कुछ रोष पाया जाता है। यह कोई बुद्धिमत्ता की बात नहीं है। कोई विदेशी तकनीशियन साधारणतया तब तक विदेशों में काम करने के लिए तैयार नहीं होगा जब तक कि उसे उतना वेतन नहीं दिया जाता जितना कि उसे अपने देश में रह कर प्राप्त हो सकता है और साथ ही अपने देश को छोड़ कर दूसरे देश में जाने पर उसे जो असुविधा होगी उसका पर्याप्त प्रतिकर नहीं दिया जाता। यदि किसी अल्प विकसित देश को विदेशी तकनीशियनों की आवश्यकता है और पूंजीवादी तथा साम्यवादी सभी देशों को विकास की किसी न किसी अवस्था में उनकी ज़रूरत पड़ी थी तो अच्छा यही होगा कि उन्हें पर्याप्त मात्रा में पारिश्रमिक दिया जाए और तब उनसे उस काम को जल्दी से जल्दी सीख लिया जाए ताकि उनकी आगे ज़रूरत न रहे या उन्हें दो या तीन पीढ़ियों में धीरे धीरे शेष समुदाय में ही घुलमिल जाने दिया जाए।

प्रत्यक्ष गैर सरकारी निवेश का राजनीतिक आधार पर प्रायः विरोध किया जाता है। इसमें यह आशंका होती है कि पूंजी प्राप्त करने वाले देश की सरकार अन्ततः विदेशी पूंजी के नियन्त्रण में आ जाएगी और इस प्रकार वह सही अर्थों में स्वतन्त्र नहीं रहेगी। यह कहिए कि विदेशी निवेश के प्रति चाहे वह किसी भी रूप में हो अविश्वास की भावना होती है। प्रश्न यह है कि यह अविश्वास की भावना कहां तक उचित है? जिस देश में पहले ही राजनीतिक अस्थिरता हो और वहां की सरकार कमजोर हो उस देश में विदेशों से पूंजी के आने से विदेशों को उस देश की सरकार पर महत्वपूर्ण अधिकार मिल जाता है। इसके साथ ही ऐसे देशों के उदाहरण भी हमारे सामने हैं जिन्होंने बड़ी मात्रा में ऋण लिए और विदेशी पूंजी की सहायता से विकास किया परन्तु अपनी राजनीतिक स्वतन्त्रता पर आंच नहीं आने दी। इस समय संसार के अत्यधिक विकसित देशों ने जिनमें अमरीका तथा स्वीडन भी हैं उन्नीसवीं शताब्दी में बड़ी मात्रा में विदेशी निवेश से लाभ उठाया।

हम अब इसके केवल आर्थिक पहलुओं पर ही विचार करें। पोर्टफोलियो निवेश सामान्यतः निश्चित ब्याज वाले बांडों के रूप में होता है जबकि प्रत्यक्ष निवेश पर मुनाफा मिलता है। यह मान कर चलना होगा कि अच्छे तथा बुरे वर्षों को एक साथ रखकर औसत मुनाफा पोर्टफोलियो पूंजी पर देय ब्याज की स्थिर दर से अधिक होगा नहीं तो प्रत्यक्ष निवेश में पूंजी फंसाने की जोखिम उठाने की कोई तुक नहीं होगी। इस प्रकार कुछ वर्षों में प्रत्यक्ष निवेश के सम्बन्ध में जो कुल भुगतान करना होगा वह उतनी ही राशि के पोर्टफोलियो निवेश के लिए देय राशि से कहीं अधिक होगा। परन्तु मुनाफे के अधिकांश भाग का उसी देश में पुनर्निवेश कर दिया जाता है जिस देश में वह मुनाफा प्राप्त होता है। इसके अलावा जब इस निवेश के बदले विदेश भेजी जाने वाली रकम का हिसाब एकमुश्त

न करके कुछ वर्षों मे थोडा थोडा करके किया जाता है तब प्रत्यक्ष निवेश, पूजी प्राप्त करने वाले देश को अधिक सुविधाजनक प्रतीत होता है। आम खुशहाली के वर्षो म अधिक मुनाफा होने की सम्भावना होती है और कारबार की मन्दी के दिनो मे कम। दूसरे शब्दो म, प्रत्यक्ष निवेश के सम्बन्ध म उन वर्षो मे अपेक्षाकृत कम भुगतान करना पडता है जिन वर्षो मे पूजी प्राप्त करने वाले देश की विदेशी मुद्रा के अपने ससाधनो से बडी माग को पूरा करने की क्षमता होती है और इसके विपरीत स्थिति मे अपेक्षाकृत अधिक भुगतान करना पडता है। पोटफोलियो निवेश क मामले म अच्छे तथा बुरे वर्षो म दग की देनदारिया अपेक्षाकृत अपरिवर्तित रहती है जिसके कारण मन्दी क वर्षो मे यह दबाव खास तौर पर अखरता है।

गैर-सरकारी विदेशी पूजी के यदि लाभ होते है तो इसके साथ ही उसकी सीमाए भी होती है। हमने पहले देखा कि किस प्रकार गैर सरकारी दीघकालीन पूजी अमरीका से कुछ चुने हुए क्षत्रो म जाने लगी। इससे भी महत्वपूण बात थी उद्योगो द्वारा इसका वितरण। निष्कषण उद्योग और वस्तु निर्माण उद्योग विदेशो म अमरीकी गैर सरकारी निवेश के दो प्रमुख क्षत्र हैं। परतु इसमे एक महत्वपूण अन्तर है जिस याद रखना चाहिए। अमरीका ने विदेशो म वस्तु निर्माण उद्योगो म जो निवेश किया है उसम से अधिकाश निवेश उसने कनाडा और पश्चिमी योरप जैसे विकसित देशो म किया है। अल्प विकसित देशो मे गैर सरकारी पूजी का निवश मुख्यत निष्कषण उद्योगों खनन उद्योग और पेटोलियम उद्योग मे किया गया है। इससे आर्थिक विकास के साधन क रूप मे इसकी प्रभावशीलता सीमित हो गई। 1950 के बाद के सयुक्त राष्ट्र क एक प्रकाशन म कहा गया था

> पेटोलियम उत्पादन तथा अन्य प्राकृतिक निष्कषण नियात उद्योगो द्वारा खपायी जाने वाली गर सरकारी पूजी की बडी मात्रा और वस्तु निमाण उद्योग के क्षत्र मे पूजी क औद्योगिक रूप से बहुत उन्नत देशो की ओर आकृष्ट होने की प्रवृत्ति को देखत हुए यह स्पष्ट है कि यह पूजी का जो भौगोलिक तथा औद्योगिक वितरण हुआ है वह आवश्यक रूप से ऐसा नही हुआ है जिसस उन स्थानो म तथा उस रीति से आर्थिक विकास हो पाता जैसा कि अल्प विकसित देश चाहते थे।[1]

गैर सरकारी विदेशी निवेश के इस प्रकार थोड से स्थानो पर केन्द्रित हो जाने के कारणो का पता लगाना कठिन नही है। उन्नीसवी शताब्दी मे जब से गैर सरकारी विदेशी पूजी का निवेश बहुत अधिक होना शुरू हुआ तब से ही इस प्रकार का निवश प्राय विदेशी बाजार के लिए उत्पादन करने हेतु किया जाता है। एशिया, अमरीका और

1 द इण्टरनेशनल फ्लो आफ प्राइवेट कपिटल 1946–52 सयुक्त राष्ट्र न्यूयार्क 1954 पृ० 38

लेटिन अमरीका में भी बिल्कुल यही स्थिति है। पिछली शताब्दी के अन्त में और वर्तमान शताब्दी के शुरू में जब प्राइवेट विदेशी पूंजी का लेटिन अमरीका में बड़े पैमाने पर निवेश होना शुरू हो गया तब अधिकांश निवेश निष्कर्षण उद्योगों और बागानों में किया गया। रेलवे तथा पत्तन सम्बन्धी सुविधाओं पर भी, जो प्रायः गैर-सरकारी स्वामित्व में थीं, काफी बड़ी मात्रा में विदेशी पूंजी का निवेश किया गया, परन्तु इनका मुख्य लक्ष्य प्राथमिक उत्पादों को पत्तनों तक और वहां से विदेशों में उनके गतव्य स्थान तक पहुंचाना था। इस प्रकार ब्राजील में 'कॉफी' के परिवहन के लिए रेलवे, और चिली तथा पेरू में 'खनिजों' के परिवहन के लिए सड़कों का निर्माण हुआ। ऐसे निवेश से केवल एक सीमित प्रयोजन पूरा हुआ। उद्योग तथा कृषि की विभिन्न शाखाओं के सन्तुलित विकास के द्वारा पूंजी प्राप्त करने वाले देश के घरेलू बाजार का विस्तार करने में गैर सरकारी विदेशी पूंजी की कोई दिलचस्पी नहीं थी। अतः इससे केवल एकतरफा विकास हो सकता था। जिन देशों में आर्थिक विकास के लिए देश के भीतर ही पर्याप्त रूप से मजबूत शक्तियां पैदा हुईं, उन देशों में गैर सरकारी विदेशी पूंजी ने प्रायः मूल्यवान अनुपूरक सेवा की। गैर-सरकारी विदेशी पूंजी अपने तौर पर विकास को काफी आगे नहीं बढ़ा सकती थी।

अब हम निवेश की ऐसी आवश्यकताओं पर विचार करेंगे जिनके लिए गैर-सरकारी विदेशी पूंजी उपलब्ध नहीं हो सकती। बहुत से ऐसे क्षेत्र हैं जिनमें निवेश से कोई मुनाफा प्राप्त नहीं होता। शिक्षा तथा व्यावसायिक प्रशिक्षण विस्तार की सेवाएं तथा वैज्ञानिक अनुसंधान, स्वास्थ्य तथा सार्वजनिक स्वच्छता नगर आयोजना और समाज के कुछ वर्गों के लिए कम लागत और सरकारी सहायता से मकानों का निर्माण इसके उदाहरण हैं। सामान्य प्रशासन, जिसमें आर्थिक आयोजना तथा सांख्यिकी सेवाओं के लिए प्रतिष्ठान भी सम्मिलित है, की तो बात ही छोड़ देनी चाहिए। इनके अलावा 'जनोपयोगी सेवाएं' होती हैं, जिनसे थोड़े समय में किसी तरह का कोई मुनाफा नहीं होता। एक समय था जब इनका निर्माण गैर सरकारी पूंजी से किया जाता था। परन्तु अब इनका निर्माण सामान्यतः सरकारी क्षेत्र में किया जाता है। उदाहरण के लिए, सड़कों तथा रेलों, बन्दरगाहों तथा हवाई अड्डों, मुख्य सिंचाई तथा विद्युत् उत्पादन परियोजनाओं का निर्माण तथा रख-रखाव सरकारी प्राधिकरणों द्वारा किया जाता है। गैर-सरकारी पूंजी 'प्रत्यक्षतः' उत्पादक तथा मुनाफा देने वाले कार्यों की ओर आसानी से आकृष्ट हो जाती है। परन्तु यहां भी, जैसा कि हमने पहले ही देखा है, विदेशी निवेशकर्ता केवल कुछ एक क्षेत्रों में ही निवेश करना पसंद करते हैं। इस प्रकार, बहुत से क्षेत्र ऐसे हैं जिनमें निवेश सम्बन्धी आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए या तो देश के अन्दर ही पूंजी की तलाश की जानी चाहिए या विदेशी पूंजी के गैर सरकारी स्रोत के अलावा इतर स्रोतों की।

गैर-सरकारी पूंजी को छोड़कर इतर विदेशी पूंजी अल्प विकसित देशों को या

तो सीधे सरकारों द्वारा या अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं द्वारा दी जाती है। हम उनके योगदान पर अलग-अलग विचार करेंगे।

अमीर देशों की सरकारों द्वारा गरीब देशों को दी जाने वाली द्विपक्षीय सहायता की मात्रा 1950–60 में बहुत थोड़ी थी, परंतु इसके बाद इसमें काफी वृद्धि हो गई।

अनेक परिस्थितियों के मिल जाने के कारण यह परिवर्तन सामने आया। कोरिया के व्यापार में वृद्धि के पश्चात् व्यापार की शर्तें इस प्रकार बिगड़ गईं कि उनसे गरीब देशों को बहुत आघात पहुंचा। नये स्वतंत्र हुए राष्ट्रों को अपने विकास कार्यक्रमों के लिए विदेशी मुद्रा की आवश्यकता थी। उनमें से भारत जैसे कुछ देशों को बहुत ही भारी कठिनाई का सामना करना पड़ा क्योंकि 1958–59 के आसपास उनकी विदेशी आरक्षित निधि (विशेष रूप से स्टर्लिंग के रूप में) समाप्त हो गई थी। विदेशी सहायता की मात्रा में काफी वृद्धि इसी पृष्ठभूमि में हुई। अल्प विकसित देशों को सरकारी तौर पर जो वित्तीय संसाधन जुटाए गए उनमें द्विपक्षीय सहायता का हिस्सा बहुत अधिक था।

1959 से लगातार यह मांग की जाती रही है कि औद्योगिक रूप से उन्नत देशों को अपनी राष्ट्रीय आय का एक प्रतिशत विकासशील देशों को सहायता के रूप में देना चाहिए।[1] सोवियत संघ को छोड़ कर आर्थिक सहकारिता तथा विकास संगठन (ओ० ई० सी० डी०) की आर्थिक सहायता समिति (डी० ए० सी०) के सदस्य देश इस प्रकार का अंशदान करने वालों में प्रमुख हैं।[2] 1964 में विकास सहायता समिति के सदस्य देशों ने अपने कुल राष्ट्रीय उत्पादन का एक प्रतिशत तथाकथित 'तीसरे विश्व' या गैर-साम्यवादी अल्प विकसित देशों को देने का संकल्प किया। इस प्रकार कुल राष्ट्रीय उत्पादन में से एक प्रतिशत देने का जो संकल्प किया गया था उसमें सरकारी सहायता तथा गैर सरकारी निवेश की व्यवस्था शामिल थी। दूसरे शब्दों में, सहायता देने वाले देशों का आशय यह नहीं था कि वे इसे सरकारी सहायता का रूप दें, यद्यपि जिन देशों ने मूलतः यह मांग उठाई थी उनमें से कुछ का आशय बिल्कुल यही था। स्थिति यह है कि अमीर देशों को जो अंशदान किया जाता था वह, इस विस्तृत निर्वचन

1 सबसे पहले यह मांग इण्टरनेशनल कन्फेडरेशन आफ फ्री ट्रेड यूनियन्स ने की थी जिसने 1959 में ब्रसेल्स में अपने छठे वार्षिक सम्मेलन में एक बयान को स्वीकार किया जिसमें औद्योगिक रूप से उन्नत देशों की सरकारों से अपील की गई थी कि वे आर्थिक रूप से अल्प विकसित देशों को दी जाने वाली सरकारी पूंजी की राशि में काफी वृद्धि कर दें। इस प्रयोजन के लिए राष्ट्रीय आय का एक प्रतिशत अनिवार्य न्यूनतम निर्धारित किया गया।

2 योरपीय आर्थिक सहकारिता संगठन मूलतः योरपीय देशों में मार्शल सहायता का वितरण करने के लिए बनाया गया था। बाद में इसे आर्थिक सहकारिता तथा विकास संगठन का रूप दे दिया गया और अमरीका कनाडा और जापान भी इसके सदस्य बन गए। इस पैराग्राफ में उद्धृत आंकड़े आर्थिक सहकारिता तथा विकास संगठन के प्रकाशन डेवलपमेंट असिस्टेंस 1970 रिव्यू से लिए गए हैं।

के अनुसार, 1960 के आसपास, वचनबद्ध देशों के कुल राष्ट्रीय उत्पादन के एक प्रतिशत से पहले ही अधिक था। परतु, इसे 1964 में भविष्य के लिए लक्ष्य के रूप में स्वीकार किया गया था। लक्ष्य के बारे में सकल्प पारित किए जाने के बाद शीघ्र ही यह देखा गया कि यह लक्ष्य बहुत ऊचा है। 1968 मे विकासशील देशों तथा बहुपक्षीय अभिकरणों को जो कुल सरकारी तथा गैर-सरकारी वित्तीय ससाधन प्राप्त हुए वे 13 1 बिलियन डालर थे, और यह उस वर्ष मे विकास सहायता समिति के सभी देशो के कुल राष्ट्रीय उत्पादन का 0 78 प्रतिशत थे।

सरकारी विकास सहायता उस राशि की लगभग आधी या लगभग 6 4 बिलियन डालर थी और यह सहायता कुल राष्ट्रीय उत्पादन की 0 38 प्रतिशत थी। तुलना के लिए यह बता दिया जाए कि 1960 के लिए यही आकडे क्रमश: 0 89 तथा 0 52 प्रतिशत और 1961 के लिए क्रमशः 0 95 तथा 0 54 प्रतिशत थे। विकास सहायता समिति के कुछ सदस्य देशो, खास तौर पर जर्मनी तथा जापान द्वारा अलग-अलग दिए जाने वाले अशदान मे वृद्धि हो गई जबकि अमरीका का हिस्सा अपेक्षाकृत कम हो गया। इससे हमे यह पता चलता है कि 1958--59 के आसपास अन्तर्राष्ट्रीय सहायता की मोट तौर पर स्थिति क्या थी।

यदि सहायता की सम्पूर्ण राशि को देखा जाए तो अमरीका द्वारा जो कुल सहायता दी जाती थी वह किसी भी अन्य देश से बहुत अधिक थी। यदि सहायता की राशि को देने वाले देशो की कुल राष्ट्रीय उत्पादन के प्रतिशत के रूप मे देखा जाए तो फ्रास, बेल्जियम, जर्मनी और नेदरलैंड्स का दर्जा अमरीका से ऊचा बैठता है। फ्रास तथा बेल्जियम के वित्तीय ससाधनो मे से एक बडा भाग उनके भूतपूर्व उपनिवेशो को दिया जाता है। अमरीकी सहायता का वितरण अधिक विस्तृत रूप से किया जाता है। परतु अमरीका के सैनिक-मित्र राष्ट्रो को सामान्यतः विशेष रूप से अधिक मात्रा मे सहायता प्राप्त होती है। विभिन्न देशो मे विदेशी सहायता के वितरण का निर्धारण पूरी तरह से आर्थिक मापदण्ड से नही किया जाता। सोवियत सघ द्वारा दी जाने वाली आर्थिक सहायता के सम्बन्ध मे यही स्थिति है। अन्तर्राष्ट्रीय सहायता के निर्धारण मे राजनीति का प्रमुख स्थान होता है।

अन्तर्राष्ट्रीय सहायता के क्षेत्र मे अमरीका को प्रमुख स्थान प्राप्त होने के कारण अमरीका की ओर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है। सर्वप्रथम, अल्प विकसित देशो को दी जाने वाली अमरीकी आर्थिक सहायता के सस्थागत ढाचे का सक्षेप मे वर्णन कर दिया जाए।

निर्यात-आयात बैंक विदेशों को अमरीकी आर्थिक सहायता भेजने का सबसे पहला माध्यम था। सरकारी स्वामित्व वाले इस बैंक की स्थापना कतिपय देशों को किए जाने वाले निर्यात के निमित्त प्रबंध करने के लिए 1934 में की गई थी। बाद में, आर्थिक विकास के लिए वित्त प्रबंध करने का कार्य भी इसके कृत्यों में शामिल कर दिया गया।

ऋण सामान्यतः सरकारों या विकास निगमों को विशिष्ट परियोजनाओं के लिए दिए जाते हैं ताकि वे अमरीका में कच्चा माल या तकनीकी सेवाएं खरीदने के लिए धन लगा सकें।

पारस्परिक सुरक्षा कार्यक्रम में युद्धोत्तर काल में अल्प विकसित देशों को अमरीका आर्थिक सहायता देने का प्रमुख माध्यम बन गया, जिसके अन्तर्गत विकास ऋण कोष तथा तकनीकी सहकारिता कार्यक्रम जैसे अनेक तत्व शामिल थे। अन्तर्राष्ट्रीय सहकारिता प्रशासन ने पारस्परिक सुरक्षा कार्यक्रम के इन विभिन्न तत्वों का समन्वय किया। 1961 के पश्चात् अधिकांश असैनिक सहायता की व्यवस्था अमरीकी अन्तर्राष्ट्रीय विकास अभिकरण के तत्वावधान में की गई। विकास ऋण कोष को अमरीकी *अन्तर्राष्ट्रीय विकास अभिकरण में मिला दिया गया और इसने उन कार्यों को भी अपने* हाथ में ले लिया जो पहले अन्तर्राष्ट्रीय सहकारिता प्रशासन द्वारा किए जाते थे।

1954 के कृषि व्यापार विकास तथा सहायता अधिनियम या पब्लिक ला 480 का उद्देश्य कृषि अधिशेष को ठिकाने लगाने की अमरीकी आवश्यकता तथा अल्प विकसित देशों की आर्थिक सहायता के लिए मांग के बीच सामंजस्य स्थापित करना था। अमरीका में अधिशेष को ठिकाने लगाने की आवश्यकता इस कारण उत्पन्न हुई कि कृषि उत्पादन (खास तौर पर गेहूं का उत्पादन) तो बहुत अधिक होता रहा परन्तु 1950–54 के आसपास औद्योगिक रूप से विकसित देशों को इसके निर्यात में भारी गिरावट आ गई। पब्लिक ला 480 ने अधिशेष कृषि उत्पादन को विदेशों में, प्राप्त करने वाले देशों की मुद्रा में ही, बेचने का प्राधिकार दे दिया। परन्तु 1966 में इस अधिनियम में एक संशोधन किया गया जिसके द्वारा डालरों में भुगतान की व्यवस्था की गई।

1954 के बाद अल्प विकसित देशों को जो अमरीकी सहायता दी गई उसमें पब्लिक ला 480 के अधीन अमरीकी गेहूं तथा अन्य कृषि उत्पादों का बड़ी मात्रा में *निर्यात शामिल था। आर्थिक विकास को बढ़ाने में इस निर्यात के योगदान के बारे में कुछ* विवाद रहा है। चूंकि किसी देश की औद्योगिक विकास की दर, उस देश की अपने श्रम बल के लिए 'अधिशेष' खाद्य प्राप्त करने की क्षमता पर निर्भर करती है, इसलिए यह बहस की जा सकती है कि पब्लिक ला 480 के अन्तर्गत अमरीकी सहायता ने द्रुत औद्योगिक विकास को सम्भव बनाया, जो अन्यथा न हो पाता। परन्तु इस तर्क में कई बातों को पहले से मान लिया जाता है। इसमें इस बात को निश्चित मान लिया जाता है कि इन अतिरिक्त खाद्य संभरणों का उपयोग वास्तव में, उत्पादक कार्य के लिए लगाए गए कर्मकारों के लिए निर्वाह निधि के रूप में किया जाता है। इसमें यह भी मान लिया जाता है कि पब्लिक ला 480 के अन्तर्गत आसानी से खाद्य उपलब्ध हो जाने के कारण कृषि निवेश के लिए दी गई प्राथमिकता में कोई कमी नहीं आती और इस प्रकार इस सहायता के प्राप्त करने वाले देश में खाद्य उत्पादन के विकास की दर कम नहीं होती।

अमरीकी आर्थिक सहायता के कुछ और पहलू भी हैं। सोवियत संघ द्वारा अल्प

विकसित देशों को दी जाने वाली आर्थिक सहायता के साथ इनकी तुलना करके इन पर भली प्रकार प्रकाश डाला जा सकता है। सोवियत संघ का यह विश्वास है कि आर्थिक विकास भारी अथवा प्रमुख उद्योगों के आधार पर होता है, इसलिए वह ऐसे उद्योगों के निर्माण के लिए पूंजी तथा तकनीकी सहायता देने को तत्पर होता है। परन्तु, अमरीका ऐसा करने में संकोच करता है। दूसरी ओर, अमरीका विकासशील देशों में लोक स्वास्थ्य के सुधार और शिक्षा-सुविधाओं के विस्तार के लिए धन की व्यवस्था करने को तैयार होता है। इसी प्रकार, अमरीकी आर्थिक सहायता से अनेक देशों को अपनी परिवहन व्यवस्था को आधुनिक बनाने, अपनी विद्युत्-शक्ति की क्षमता को बढ़ाने और अपनी सामाजिक ऊपरी पूंजी में वृद्धि करने में मदद मिलती है। सरकारी तथा गैर-सरकारी क्षेत्रों के बीच उचित सन्तुलन के बारे में अमरीकी शासन की एक अपनी धारणा है जो सोवियत संघ की धारणा से बहुत भिन्न है और वह किसी ऐसे काम के लिए आर्थिक सहायता देने को तैयार नहीं होता जिससे इस सन्तुलन पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ने की सम्भावना हो। जब चेस्टर बोल्स इस देश में राजदूत थे तब भारत के संदर्भ में दिए गए उनके एक वक्तव्य में से लिए गए निम्नलिखित उद्धरण से आर्थिक सहायता के बारे में अमरीकी दृष्टिकोण काफी हद तक स्पष्ट हो जाता है :

> हमने अमरीकी सहायता का अधिकांश भाग एक सीधे से कारण से सरकारी क्षेत्र के अन्तर्गत रखा है अनुभव से पता चला है कि पर्याप्त विद्युत-प्रदाय आधुनिक परिवहन व्यवस्था, उन्नत राष्ट्रीय स्वास्थ्य और बढ़ती हुई शिक्षा-सुविधाओं के ठोस आधार पर ही द्रुत आर्थिक विकास होता है। परन्तु हमारा पक्का विश्वास है कि इस आधार के एक बार बन जाने पर भारत का भावी विकास जिम्मेदार गैर-सरकारी उद्योगों के द्रुत प्रसार पर निर्भर करेगा।[1]

संयुक्त राष्ट्र तथा इसके अभिकरण विकासशील देशों के लिए बहुपक्षीय आर्थिक सहायता का मुख्य स्रोत है। इस सहायता को प्राप्त करने वाले देशों की दृष्टि से, ऐसी सहायता को अलग अलग सरकारों से द्विपक्षीय आधार पर मिलने वाली सहायता की तुलना में अधिक पसन्द किया जाता है जिसका मनोवैज्ञानिक आधार है। अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं से ऋण लेने में एक देश के दूसरे देश पर विशेष प्रभाव का तत्व कम हो जाता है। ऋण प्राप्त करने वाला देश उस स्थिति में कम परेशानी महसूस करता है, जब वह किसी एक विदेशी सरकार के बजाय किसी अन्तर्राष्ट्रीय संस्था के प्रति आभारी होता है। इसके अलावा, हाल के वर्षों में द्विपक्षीय सहायता ने प्रायः 'सशर्त' ऋण का रूप ले लिया है। ऋण प्राप्त करने वाले देश को अपनी आवश्यकता के अनुसार सस्ते बाजार से खरीदने की छूट नहीं होती। देने वाला देश सहायता का प्रयोग अपने देश के बाजार में खरीदारी को बढ़ाने के साधन के रूप में करता है। पब्लिक ला 480 के अधीन खाद्य की खरीद के

1 अमरीकन रिपोर्टर, नई दिल्ली, 3 अगस्त, 1966 में प्रकाशित 'एम्बेसेडर्स रिपोर्ट'।

सम्बन्ध मे भी इसी प्रकार का प्रतिबन्ध है।[1] इसके परिणामस्वरूप सहायता का वास्तविक मूल्य कम हो जाता है, क्योंकि उतनी ही धनराशि से, यदि उसे अपनी मर्जी से खर्च करने की छूट हो, कही अधिक मात्रा में वस्तुए खरीदी जा सकती है। बहुपक्षीय सहायता इस प्रतिकूल प्रभाव से मुक्त होती है। सहायता प्राप्त करने वाले को इससे काफी अन्तर पड सकता है। विश्व बैंक के एक उपाध्यक्ष जी० एम० विलसन ने इस बात को बडे स्पष्ट तथा शक्तिशाली शब्दो मे इस प्रकार व्यक्त किया :

> जबकि द्विपक्षीय ऋण, साधारणतया उधार देने वाले देश मे सामान या सेवाओ की खरीद के साथ बधा होता है, हम से उधार लेने वाले देशो को बैंक से मिले ऋण को बैंक के किसी भी सदस्य देश मे खर्च करने की छूट होती है बैंक द्वारा दिए गए धन से सविदाओ के लिए प्रतियोगी बोली के सम्बन्ध म हमारे रिकाड के अनुसार विभिन्न देशो द्वारा दिए गए टेंडर की रकमो मे बहुत अधिक अन्तर है। 20-40 प्रतिशत तक का अन्तर बिल्कुल सामान्य बात है जिस द्विपक्षीय ऋण के अधीन, उधार देने वाले देश मे खरीद करने की शर्त लगी हुई हो, उधार लेने वाले देशो के लिए ऊचे मूल्य देने के अलावा कोई चारा नही होता। वस्तुत, उसे इससे भी अधिक देना पड सकता है, क्योंकि ऐसा भी हो सकता है कि जब विक्रेताओ को यह पता हो जाए कि उन्हे अन्तर्राष्ट्रीय प्रतियोगिता का मुकाबला नही करना पडेगा तब मौका आने पर वे अपने मूल्यो को भी बढा दें।[2]

आइए, अब हम अन्तर्राष्ट्रीय सहायता के क्षेत्र मे सयुक्त राष्ट्र तथा इसके अभिकरणों की भूमिका का सक्षेप मे विवेचन करें। यद्यपि लीग आफ नेशन्स का आर्थिक समस्याओ के साथ बिल्कुल सम्बन्ध नही था, तथापि सयुक्त राष्ट्र के उद्देश्य पत्र मे कहा गया है कि इसका एक उद्देश्य 'आर्थिक, सामाजिक, सास्कृतिक या मानवीय प्रकार की अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओ को हल करने मे अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग प्राप्त करना है।'

सयुक्त राष्ट्र सचिवालय मे एक आर्थिक प्रायोजना तथा कार्यक्रम केन्द्र है जो दिसम्बर, 1961 से कार्य कर रहा है। यह अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक आयोजना के सम्बन्ध म अध्ययन करता है। सयुक्त राष्ट्र विकास दशाब्दी का आरम्भ 1961 मे दो आधारभूत तथ्यों को सामने रख कर किया गया था, अर्थात् विकासशील देशों की राष्ट्रीय आय की वार्षिक वृद्धि की दर कम से कम 5 प्रतिशत हो और औद्योगिक रूप से उन्नत देश प्रति

1 इसके साथ ही यह याद रखना उचित होगा कि कुछ मामलो मे पी० एल० 480 की सहायता बहुत उदार रही है। बिक्री से जो आय प्राप्त होती है उसका एक अश प्राप्त करने वाले देशो की सरकारो को पूर्णतया अनुदानो के रूप मे दे दिया गया है, जिन्हें वापस नही करना होता, और इससे भी अधिक मात्रा मे बहुत उदार शर्तों पर ऋण दिए गए हैं।

2 'द फण्ड एण्ड बैंक रिव्यू, फाइनेंस एण्ड डेवलपमेंट', खण्ड 1, स० 1, वाशिंगटन, जून 1964

वर्ष अपने कुल राष्ट्रीय उत्पादन के एक प्रतिशत के बराबर विकास पूंजी विकासशील अर्थ-व्यवस्थाओं को निर्धारित वृद्धि-दर प्राप्त करने में सहायता देने के लिए दें। दूसरी विकास दशाब्दी के लिए, जो 1971 में शुरू हुई, वृद्धि का लक्ष्य और भी ऊंचा रखा गया है। इस दशाब्दी में विकासशील देशों के लिए वृद्धि की दर कम से कम 6 प्रतिशत निर्धारित की गई है। इन तथ्यों से उन मोटे-मोटे उद्देश्यों का संकेत मिलता है जिनको सामने रख कर संयुक्त राष्ट्र तथा इसके विशेषज्ञता प्राप्त अभिकरणों को अन्तर्राष्ट्रीय सहायता तथा तकनीकी सहायता के मामले में अपनी नानाविध गतिविधियों को चलाना होता है।

संयुक्त राष्ट्र के कुछ विशेषज्ञता प्राप्त अभिकरणों का सम्बन्ध मुख्य रूप से तकनीकी सहायता से है। खाद्य तथा कृषि संगठन प्रशिक्षण तथा तकनीकी सहायता की व्यवस्था करता है, जानकारी उपलब्ध करने के साधन के रूप में काम करता है और अनेक प्रकार की गतिविधियों में भाग लेता है, जैसे सम्भावित खाद्य अभाव तथा आने वाले खतरों के प्रति देशों को सतर्क करना और विकासशील देशों को कृषि सम्बन्धी नीतियां तैयार करने में सहायता देना। अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन पिछले कुछ वर्षों से रोजगार सम्बन्धी आयोजना में बहुत अधिक दिलचस्पी लेने लगा है। 1919 से, जब इसकी स्थापना हुई थी, यह श्रमिकों के हितों की रक्षा के लिए सभी देशों में प्रगतिशील सामाजिक विधान लाए जाने के लिए प्रयत्नशील है। विश्व स्वास्थ्य संगठन मलेरिया तथा अन्य रोगों के उन्मूलन जैसी परियोजनाओं में सहयोग देता है और जानकारी, प्रशिक्षण और तकनीकी सहायता की व्यवस्था करता है। संयुक्त राष्ट्र शैक्षिक, वैज्ञानिक और सांस्कृतिक संगठन शिक्षा के क्षेत्र में परियोजनाओं को कार्यान्वित करता है। इन विभिन्न विशेषज्ञता प्राप्त अभिकरणों के कार्य प्रायः परस्पर सम्बन्धित होते हैं, और उनके कार्यक्रमों को एक-दूसरे से अलग रखने का प्रयास उनके विस्तार तथा आकार को सीमित कर देता है जिससे उनकी प्रभावशीलता कम हो जाती है। ऐसी परिसीमाओं पर काबू पाने के लिए 1950 में संयुक्त राष्ट्र तकनीकी सहायता विस्तारित कार्यक्रम शुरू किया गया था। कालान्तर में संयुक्त राष्ट्र के विशेषज्ञता प्राप्त अभिकरण संयुक्त राष्ट्र तकनीकी सहायता विस्तारित कार्यक्रम के अन्तर्गत उससे कहीं अधिक तकनीकी सहायता देने लगे जितनी कि वे अपने निजी वित्तीय साधनों से चलाए जा रहे नियमित कार्यक्रमों के द्वारा दिया करते थे। तिस पर भी, तकनीकी सहायता के विस्तारित कार्यक्रम के पास धन का अभाव था और इस कारण वह बहुत-सी ऐसी मूल्यवान परियोजनाओं के लिए रुपया देने में असमर्थ था जिनके लिए कई वर्षों तक अपेक्षाकृत काफी बड़ी रकम देने की आवश्यकता थी। हम इस विषय पर थोड़ा बाद में विचार करेंगे।

ऋण के रूप में सहायता तथा तकनीकी सहायता साथ-साथ चलती है। अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण तथा विकास बैंक (जिसे विश्व बैंक कहा जाता है), अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम और अन्तर्राष्ट्रीय विकास संघ का मुख्य काम वित्तीय सहायता

देना है। विश्व बैंक संयुक्त राष्ट्र का एक विशेषज्ञता प्राप्त अभिकरण है, जबकि अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम और अन्तर्राष्ट्रीय विकास संघ इसकी सम्बद्ध संस्थाएं हैं। अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम तथा अन्तर्राष्ट्रीय विकास संघ विश्व बैंक के कार्यों की दो भिन्न दिशाओं में पूर्ति करते हैं। *अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम बिना सरकारी गारंटी के* प्राइवेट फर्मों को ऋण दे सकता है। अन्तर्राष्ट्रीय विकास संघ कुछ ऐसी परियोजनाओं के लिए वित्त प्रबंध करता है जो साधारणतया कुछ कारणों से विश्व बैंक की परिधि से बाहर होती हैं। अब हम उनकी चर्चा करेंगे।

विश्व बैंक तथा अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष दोनों की स्थापना 1945 में की गई थी। यह कोष सदस्य देशों को अपने भुगतान शेष में अल्पकालीन असतुलन को दूर करने में सहायता देता है। जहां ऐसे असतुलन अस्थायी या आनुषंगिक नहीं होते बल्कि यू कहिए, अर्थ व्यवस्था के ढांचे में ही होते हैं वहां इनको बुनियादी उपचार के लिए आर्थिक विकास के दीर्घकालीन कार्यक्रमों की आवश्यकता होती है। बैंक एक *ऐसी संस्था है जिससे विकास कार्यक्रमों के लिए पूंजी उपलब्ध होती है। कुछ* विकास कार्यक्रम ऐसे होते हैं जिनके लिए अन्य प्रकार के ऋणों की अपेक्षा विश्व बैंक का ऋण मिलने के अवसर अधिक होते है। बैंक ऐसी परियोजनाओं के लिए धन नहीं देता जो गैर-सरकारी निवेश को आकृष्ट कर सकती हैं। यह ऐसी परियोजनाओं के लिए भी धन नहीं देता जिनसे राजस्व की प्राप्ति नहीं होती। वस्तुतः, परियोजना से सामान्यतः यह आशा की जाती है कि अन्ततोगत्वा उनके पास अपना खर्च पूरा करने के लिए पर्याप्त साधन हों। इसके साथ एक और प्रतिबन्ध भी है। जिस परियोजना के लिए विश्व बैंक से ऋण मांगा जाए, वह इतनी महत्वपूर्ण होनी चाहिए कि उसके लिए विदेशी मुद्रा की देनदारी आवश्यक हो। बैंक अधिक से अधिक पच्चीस वर्ष तक की अवधि के लिए दीर्घकालीन ऋण देता है और इन पर ब्याज की दर काफी ऊंची होती है। सदस्य देशों के चन्दे से एकत्र *अपने पूंजी स्टाक और आरक्षित निधियों के अतिरिक्त, बैंक उन बांडों से भी धन* प्राप्त करता है, जिन्हें वह विश्व के पूंजी बाजारों में जारी करता है। बैंक जो ब्याज की दर वसूल करता है उसका उस दर से कुछ सम्बन्ध होता है जो उसे धन जुटाने के लिए अदा करनी पड़ती है। 1960 के बाद वाली दशाब्दी के मध्य में ब्याज की दर (ऋण की अवधि के अनुसार) साढ़े तीन से सवा छः प्रतिशत थी और इसके साथ एक प्रतिशत कमीशन और 1/4 प्रतिशत प्रशासनिक शुल्क वसूल किया जाता था।

1950 के बाद वाली दशाब्दी के शुरू में संयुक्त राष्ट्र विशेष आर्थिक विकास कोष बनाए जाने की मांग पैदा हुई। ऐसा प्रतीत होता है कि दो भिन्न विचारधाराओं के मिलने से यह मांग पैदा हुई। एक तो यह कि संयुक्त राष्ट्र तकनीकी सहायता विस्तारित कार्यक्रम की अपनी परिसीमाएं थीं जिसको हमने

पहले चर्चा की थी। यह अनुभव किया गया था कि इस कार्यक्रम को अपने क्षेत्र का विस्तार करने मे सहायता देने के लिए विशेष कोष का होना आवश्यक है। परन्तु अन्तर्राष्ट्रीय वित्तीय संस्थाओं के वर्तमान ढाचे मे एक बहुत बड़ा व्यवधान था और आशा की गई थी कि संयुक्त राष्ट्र विशेष आर्थिक विकास कोष इसको दूर करेगा। विश्व बैंक ने राजस्व कमाने वाली ऐसी परियोजनाओं के लिए वित्त प्रबंध किया जिनके पास, अन्ततोगत्वा, अपना खर्च पूरा करने के लिए पर्याप्त साधन हो गए और इसके ऋणों पर ब्याज की दर कुछ अधिक ही होती थी। परन्तु बहुत-सी परियोजनाएं प्राथमिक शिक्षा के प्रसार या अनुसंधान के संवर्धन या लोक-स्वास्थ्य मे सुधार से सम्बन्धित होती हैं, जो आर्थिक विकास के लिए आवश्यक है, किन्तु उनसे इतनी आमदनी नही होती जिससे निकट भविष्य मे उनके निवेश तथा ऊंचे ब्याज का खर्च पूरा हो सके। संयुक्त राष्ट्र विशेष आर्थिक विकास कोष द्वारा अपने खर्च की स्वयं व्यवस्था न कर पाने वाली परियोजनाओं के लिए सहायतानुदान तथा कम ब्याज के दीर्घकालीन ऋण देकर वित्त प्रबंध किए जाने की आशा थी। इसके अलावा, विकासशील देश चाहते थे कि प्रस्तावित विशेष कोष पर विश्व बैंक के बजाय संयुक्त राष्ट्र की आर्थिक तथा सामाजिक परिषद् और महासभा का नियंत्रण हो। विश्व बैंक तथा इसकी सम्बद्ध संस्थाओं मे मतदान की प्रणाली लागू है जिसके फलस्वरूप उनकी नीतियों के निर्माण पर प्रमुख अंशदाता देशों का नियंत्रण रहता है। इसके विपरीत, संयुक्त राष्ट्र की महासभा मे विकासशील देशों के मतों की संख्या अधिक है और इसलिए, उनका कुछ प्रभाव है।

परंतु उस रूप मे विशेष संयुक्त राष्ट्र आर्थिक विकास कोष की स्थापना करने की योजना का त्याग करना पड़ा क्योंकि बड़े बड़े औद्योगिक देश इस विचार को स्वीकार करने और इससे उत्पन्न होने वाले वित्तीय दायित्वों को पूरा करने के लिए सहमत नहीं थे। विशेष संयुक्त राष्ट्र आर्थिक विकास कोष की स्थापना के बजाय इस मांग की आंशिक प्रतिक्रियास्वरूप संसार मे दो नयी संस्थाएं स्थापित हो गईं। 1959 में विश्व बैंक के शासी बोर्ड ने अन्तर्राष्ट्रीय विकास संघ की स्थापना के प्रस्ताव पर स्वीकृति दे दी। अगले वर्ष विश्व बैंक की सम्बद्ध संस्था के रूप में अन्तर्राष्ट्रीय विकास संघ अस्तित्व मे आ गया। विश्व बैंक वर्षों से विभिन्न प्रकार की जनोपयोगी सेवाओं के निर्माण के लिए, खास तौर पर विद्युत् उत्पादन तथा परिवहन (मुख्यत: रेलवे) के विकास के लिए धन की व्यवस्था करता आ रहा था। अन्तर्राष्ट्रीय विकास संघ की स्थापना से ऐसी प्राथमिक सामाजिक स्वरूप की सामुदायिक परियोजनाओं, जैसे जल-प्रदाय, सफाई, अस्पतालों तथा स्कूलों के लिए वित्त प्रबन्ध का अतिरिक्त स्रोत पैदा हो गया, जो 'निःशुल्क' या विशेष रूप से कम मूल्य पर सेवाएं उपलब्ध करती हैं और

सामान्यतः इस प्रकार की परियोजनाओं के लिए बैंक से सहायता प्राप्त करना कठिन होता है। अन्तर्राष्ट्रीय विकास संघ के ऋणों का भुगतान बहुत ही लंबे समय में (अर्थात् चालीस वर्षों में) करना होता है और उन पर ब्याज की दर खास तौर पर कम होती है। एक और दृष्टिकोण यह है कि अन्तर्राष्ट्रीय विकास संघ की स्थापना से बैंक को एक विशेष कोष उपलब्ध हो गया जिसका वह ऐसे मामलों में उपयोग कर सकता था जहां कोई परियोजना आर्थिक रूप से तो उचित प्रतीत होती हो परन्तु अन्य परिस्थितियों के कारण जिसके लिए भुगतान की उदार शर्तों पर ऋण की आवश्यकता हो। जिन देशों के सामने भुगतान शेष की कठिनाइयां होती हैं वे वास्तव में अन्तर्राष्ट्रीय विकास संघ से ऋण प्राप्त करने के विशेष रूप से हकदार होते हैं।

1958 में विशेष संयुक्त राष्ट्र कोष की स्थापना भी की गई थी जिसके प्रशासन का भार संयुक्त राष्ट्र महासभा पर था। विशेष संयुक्त राष्ट्र कोष का कार्यक्षेत्र विकासशील देशों द्वारा समर्थित विशेष संयुक्त राष्ट्र आर्थिक विकास कोष के लिए परिकल्पित कार्यक्षेत्र से बहुत संकुचित था। वास्तव में, विशेष कोष केवल निवेश-पूर्व योजनाओं अर्थात् निवेश की सम्भावनाओं का सर्वेक्षण तथा सम्भाव्यता अध्ययन तकनीकी शिक्षा, अनुसंधान तथा ऐसे ही अन्य कार्यों पर धन खर्च कर सकता था। बाद में विशेष संयुक्त राष्ट्र कोष तथा तकनीकी सहायता विस्तारित कार्यक्रम दोनों को मिलाकर संयुक्त राष्ट्र विकास कार्यक्रम की स्थापना कर दी गई। यह कार्यक्रम 1966 में अस्तित्व में आया।

विकासशील देशों के लिए विदेशी पूंजी के प्रमुख गैर-सरकारी तथा सरकारी स्रोतों की कुछ चर्चा ऊपर की गई है। 1960-65 के दौरान, प्रतिवर्ष जो पूंजी विकसित देशों से अल्प विकसित देशों को प्राप्त हुई वह औसतन लगभग 10 बिलियन डालर थी। इसमें से सरकारी पूंजी का अंश मोटे तौर पर दो तिहाई था। विकासशील देशों को सरकारी वित्तीय स्रोतों से जो कुछ धनराशि प्राप्त हुई उसमें द्विपक्षीय सहायता का अंश बहुत अधिक था। प्रतिवर्ष लगभग एक बिलियन डालर की व्यवस्था विश्व बैंक तथा *अन्तर्राष्ट्रीय विकास संघ ने की। इनके अलावा विभिन्न क्षेत्रीय विकास बैंकों तथा कोषों,* जैसे क्षेत्रीय विकास अभिकरण, ने इसी अवधि में प्रति वर्ष औसतन लगभग आधा बिलियन अमरीकी डालर के बराबर सहायता उपलब्ध की। विकासशील देश सहायता की अधिकांश राशि बहुपक्षीय सहायता के रूप में लेना पसंद करते है परन्तु इससे अंशदाता देशों में अंशदान का उत्साह नहीं रहेगा।

विदेशी सहायता से सम्बन्धित कुछ अन्य समस्याएं भी हैं जिन पर अब संक्षेप में विचार किया जा सकता है। विकासशील देश हमेशा यही अनुमान लगाने में लगे रहते हैं *कि अगले वर्ष उन्हें कितनी सहायता मिलेगी, और इस कारण उनकी स्थिति कठिन होती* है। चूंकि उनके आर्थिक विकास की योजनाओं के आकार तथा स्वरूप का निर्धारण सहायता परिमाण से होता है, इसलिए दीर्घकालीन योजनाएं बनाना कठिन हो जाता है। यदि

आगे आने वाले कुछ वर्षों के लिए सहायता की कतिपय राशि निश्चित कर दी जाए तो उन्हें काफी सुविधा हो सकती है।

मान लिया जाए कि किसी देश को लंबे समय तक एक विशेष परिमाण में सहायता मिलती रहेगी। तो प्रश्न यह उठता है कि इस सारी समयावधि में इसके लिए बीच-बीच में कितना अन्तराल रखना उचित होगा ? कुछ मोटे से तथ्य ऐसे है, जिनसे यह संकेत मिलता है कि जहा तक सम्भव हो, अधिकांश सहायता प्रारम्भिक अवस्था में एकत्र हो जानी चाहिए। निवेश से आय प्राप्त होती है, जिससे बचत में वृद्धि होती है और पुन निवेश कर दिया जाता है। यदि कोई देश औद्योगिक 'प्रस्थान' की स्थिति के बारे में गम्भीर है तो उसे ऐसे उपाय अपनाने चाहिए जिनसे बचत की सीमान्त दर उत्तरोत्तर बढ़ती हुई औसत दर से अधिक हो जाए और तब बचत की औसत दर ही स्वावलम्बी विकास के लिए पर्याप्त हो जाती है। यदि प्रारम्भिक अवस्था में अपेक्षाकृत बडी मात्रा में विदेशी सहायता प्राप्त करके उसका निवेश कर दिया जाए तो इसके अतिरिक्त आय पैदा करने, बचत में काफी वृद्धि करने और इस प्रकार देश को घरेलू बचत के आधार पर अधिक मात्रा में निवेश करने के वांछित लक्ष्य की ओर ले जाने की सारी प्रक्रिया तेजी से पूरी हो जाएगी। परतु इस सम्बन्ध में यह मान लिया जाता है कि आरम्भिक अवस्था में निवेश से परिमाण में वृद्धि के साथ पूजी की सीमान्त उत्पादिता एक सीमा से आगे अधिक तेजी से कम नही होगी। इस बात को और तरह से भी कहा जा सकता है। विकास के प्रारम्भिक चरण में किसी विकासशील देश में विदेशी पूजी को खपाने की क्षमता बहुत सीमित होने की सम्भावना होती है। यदि किसी अर्थ-व्यवस्था में उसकी खपाने की क्षमता से अधिक विदेशी पूजी लगा दी जाए तो पूजी से होने वाली आय तेजी से कम हो जाएगी।

वास्तव में, यह सतुलित विकास की समस्या का दूसरा रूप है। प्रत्येक प्रकार की विदेशी पूजी की किन्ही विशेष क्षेत्रो में जाने की प्रवृत्ति होती है उदाहरण के लिए, गैर-सरकारी विदेशी पूजी का निवेश बागानो तथा प्राकृतिक उपज सम्बन्धी उद्योगो में किया गया है और सरकारी वित्तीय ससाधनो का उपयोग सामाजिक तथा आर्थिक ऊपरी पूजी, जैसे परिवहन और विद्युत् उत्पादन, के लिए किया गया है। इन सभी क्षेत्रो में और निवेश करने से एक बिन्दु के बाद आय कम हो जाती है।

इसके प्रत्यक्ष प्रमाण मिलते है। कुछ अफ्रीकी देशो में पर्याप्त सरकारी सहायता दिए जाने के कारण ऊपरी पूजी में काफी वृद्धि हो गई है, परतु प्रत्यक्ष रूप से उत्पादक कार्य साथ-साथ नही चले। इसका मतलब यही हो सकता है कि आगे आने वाले कुछ समय में आर्थिक 'भीतरी ढाचा' बनाने के लिए निवेश करना सामाजिक दृष्टिकोण से भी लाभप्रद नही होगा।[1] यू सरकारी विदेशी पूजी के एक विरोधाभास पर पुन

1 तुलना कीजिए, "(अफ्रीका दक्षिण सहारा मे) आर्थिक एव सामाजिक ऊपरी पूजी का निर्माण किया गया है जो माग से कहीं अधिक है जब तक अफ्रीका मे लोक-पूजी के प्रयोग मे

विचार कीजिए। अल्प विकसित देशों में वर्तमान निवेश से होने वाली आय औद्योगिक रूप से उन्नत क्षेत्रों में होने वाले लाभ के बराबर ही होती है। फिर भी इस समय अमरीकी गैर-सरकारी विदेशी पूंजी किसी अल्प विकसित क्षेत्र में जाने के बजाय औद्योगिक रूप से विकसित क्षेत्रों में अधिक सरलता से तथा बड़ी मात्रा में जाती है। आर्थिक रूप से गरीब और राजनीतिक रूप में अधिक अस्थिरता वाले देशों में, जोखिम से एक प्रकार की सुरक्षा के रूप में, इन दो प्रकार की आयों में अन्तर समझा जाता है। परन्तु, इससे सम्भवत विरोधाभास का कोई पूरा स्पष्टीकरण नहीं मिलता। यदि गैर-सरकारी विदेशी पूंजी अधिक बड़ी मात्रा में अल्प विकसित देशों में नहीं जाती, हालांकि वर्तमान निवेश पर काफी मात्रा में मुनाफा प्राप्त होता है, तो इस आर्थिक विचार से यह बात उचित प्रतीत होती है कि चूंकि ऐसे देशों में विदेशी पूंजी कुछ सीमित क्षेत्रों को ही पसंद करती है इसलिए उन क्षेत्रों में निवेश की मात्रा में अधिक वृद्धि करने से सीमान्त आय में तेजी से कमी आ जाने की सम्भावना होती है।

कुछ ऐसी बातें होती हैं जिनका अल्प विकसित क्षेत्रों में अभाव होता है और कुछ ऐसी बातें होती हैं जिन्हें ये देश केवल स्वयं कर सकते हैं। केवल बड़ी मात्रा में विदेशी पूंजी लगाकर सभी प्रकार की कमियों को दूर नहीं किया जा सकता। किसी देश की 'खपाने की क्षमता' उसकी आत्म-निर्भरता की क्षमता से सीमित हो जाती है।

विदेशी पूंजी से सम्बन्धित एक और तथा अन्तिम समस्या भुगतान की समस्या है। अल्प विकसित देशों में जैसे-जैसे अधिक से अधिक वित्तीय सहायता आती जाती है वैसे-वैसे उस सहायता को छोड़ कर जो एकदम अनुदान या दान का रूप ले लेती है, उसके भुगतान सम्बन्धी दायित्व बढ़ते जाते हैं। जब तक पूंजी प्राप्त करने वाले देश से निर्यात व्यापार को पर्याप्त मात्रा में तेजी से नहीं बढ़ाया जाता तब तक ऋण के भुगतान का भार कष्टकर हो सकता है। भारत के मामले को ही ले लीजिए। इस समय संसार के जिन देशों को सहायता प्राप्त हो रही है उनमें भारत की जनसंख्या सर्वाधिक है। अन्य देशों की अपेक्षा इसे बहुत अधिक अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सहायता प्राप्त हुई है, परन्तु यदि प्रति व्यक्ति के आधार पर इस राशि की गिनती की जाए तो यह राशि अपक्षाकृत बहुत थोड़ी बैठती है। इस आधार पर यह सहायता प्राप्त करने वाले देशों में वास्तव में सबसे छोटा बैठता है। इसकी आवश्यकताओं को देखते हुए भी यह राशि अधिक नहीं है। मोटे तौर पर इसने 1951 तथा 1970 के बीच विदेशी सहायता

सुधार करने तथा उत्पादक क्षमता, 'विशेष कर कृषि के क्षेत्र के लाभ के लिए धन खर्च करने के तरीके नहीं निकाल लिए जाते तब तक हम यही कहेंगे कि इस महाद्वीप को जितनी सहायता दी गई है वह अधिक है -निस्सन्देह, ये सब बातें अगले कुछ वर्षों पर ही लागू होती हैं। आशा की जानी चाहिए कि अफ्रीका की खपाने की क्षमता वर्षों में बढ़ जाएगी।' (आई० एम० डी० लिटल तथा जे० एम० क्लिफर्ड 'इण्टरनेशनल एड', जार्ज एलन एण्ड अनविन लंदन, 1965, पृ० 223)।

के मुकाबले अपने निजी साधनो से चार गुना पूजी का निवेश किया है। आई० एम० डी० लिटल जैसे कुछ सक्षम आलोचको के अनुसार, इसकी 'खपाने की क्षमता' इतनी थी कि उसे उस राशि से अधिक सहायता मिलनी चाहिए थी जो उसे वास्तव मे प्राप्त हुई। फिर भी 1960 के बाद वाली दशाब्दी के मध्य मे इसका ऋण सम्बन्धी भुगतान इसके कुल निर्यात व्यापार का 1/5 था, जो कि एक बहुत बडा भार है। सहायता से अन्ततोगत्वा व्यापार का विस्तार करने मे सहायता मिलनी चाहिए, यह विस्तार सहायता प्राप्त करने वाले देशो के आयात व्यापार मे नही बल्कि उनके निर्यात व्यापार मे भी होना चाहिए। यह सहायता देने वाले देशो तथा सहायता प्राप्त करने वाले देशो दोनो के लिए एक समान हितकर है। सहायता का जमा होना, जिसे विकसित देश वापस प्राप्त करने की आशा नही कर सकते और जो अल्प विकसित देशो के व्यापार सतुलन को बुरी तरह से बिगाड देती है, न तो देने वाले देश और न ही लेने वाले देश के हित मे होता है। इसलिए, दोनो की यह जिम्मेदारी होती है कि वे व्यापार का स्वरूप इस प्रकार का बनाए जिसमे ऐसी स्थिति न आने पाए।

इस विषय मे विकासशील देश एक तरीके से अपनी जिम्मेदारी को पूरा कर सकते है और वह यह है कि वे ज्यादा से ज्यादा व्यापार आपस मे करें और इस प्रकार विकसित देशो पर कम निर्भर करें। विकासशील देशो मे ससाधनो की पर्याप्त परिपूरक क्षमता होती है जिससे वे आपस मे एक-दूसरे के लिए लाभप्रद ढग से अधिक से अधिक व्यापार कर सकते हैं। वस्तुओ के अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के मामले मे गरीब देश अमीर देशो पर अत्यधिक निर्भर करते है और यह स्थिति बडे-बडे देशो तथा 'उपनिवेशों' के बीच के पुराने सम्बन्धो के कारण विरासत मे मिली हुई है। पुराने तरीके के इस व्यापार को वित्तीय सस्थाए तथा परिवहन और सचार व्यवस्थाए भी सहारा देती हैं जो पुराने 'औपनिवेशिक' सम्बन्धो का ही परिणाम है। जिस प्रकार किसी अल्प विकसित देश मे सारा व्यापार विकसित क्षेत्र मे होता है और अपेक्षाकृत पिछडे हुए क्षेत्रो के बीच वस्तुओ के विनिमय का परिमाण ससाधनो पर आधारित व्यापार की वस्तुपरक सम्भावनाओं को प्रतिबिम्बित नही करता वही बात सारे ससार के सम्बन्ध मे भी लागू होती है। अल्प विकसित देश भूमि-जनसख्या के अनुपातो, अपने औद्योगिक विकास की सीमा और उनमे मिलने वाले विभिन्न प्रकार के कुशल व्यक्तियो तथा ससाधनो की अपेक्षाकृत सम्पन्नता के विचार से एक-दूसरे से भिन्न होते हैं। जब इनमे से कुछ देशो के पास खाद्य तथा अन्य प्राथमिक उत्पाद फालतू हो और अन्य देश अपनी निर्मित वस्तुओ के लिए खरीदार चाहते हो तो व्यापार की इन स्पष्ट सम्भावनाओ का उपयोग न करने तथा इस प्रयोजन के लिए नयी सहायक सस्थाए स्थापित न करने के कोई कारण दिखाई नही देते। व्यापार को वस्तुओ तक ही सीमित करने की आवश्यकता नही होती बल्कि विकासशील देशो के बीच तकनीकी सहायता को भी एक सम्भव सीमा तक प्रोत्साहन दिया जा सकता है।

यह सब कुछ करने का एक तरीका यह है कि इन देशों में क्षेत्रीय आधार पर व्यापार तथा सहकारिता चालू की जाए। निस्सदेह इस दिशा में शुरुआत पहले ही की जा चुकी है और अब तीनों के तीनों अल्प विकसित महाद्वीपों से उदाहरण देना सम्भव है। लेटिन अमरीकी निर्बाध व्यापार सघ की स्थापना 1960 में की गई थी। 'क्षेत्रीय विकास सहकारिता', जिसने 1964 में ईरान, पाकिस्तान और तुर्की में समझौता कराया, इस प्रकार के एक और विशेष उल्लेखनीय प्रयास का उदाहरण है। इन तीनों देशों ने व्यापार करारों के माध्यम से न केवल निर्बाध व्यापार को बढ़ावा देने बल्कि उन देशों में परिवहन तथा सचार के साधनों को सुधारने और पारस्परिक तकनीकी सहायता को प्रोत्साहन देने का भी निर्णय किया। एक अन्य उदाहरण के रूप में, 1967 में केन्या, तन्जानिया और युगाडा द्वारा की गई पूर्व अफ्रीकी सहकारिता सधि का उल्लेख किया जा सकता है। यद्यपि क्षेत्रीय सहकारिता वाछनीय है तथापि अन्त-क्षेत्रीय व्यापार का विस्तार भी महत्वपूर्ण है। इस दिशा में पर्याप्त कार्यवाही नहीं की गई है हालांकि शुरुआत कर दी गई है।

उधार की पर्याप्त सुविधाएं न होने के कारण विकासशील देशों में व्यापार की वृद्धि में रुकावट आती है। हाल के वर्षों में कुछ विकसित देशों द्वारा दिए जाने वाले निर्यात उधार में बहुत ही उल्लेखनीय वृद्धि हो गई है। ऐसे उधार वास्तव में निर्यातकर्ता देश द्वारा आयातकर्ताओं को अनुकूल आधार पर दिए गए मध्यमकालीन ऋण होते हैं। चूंकि विकासशील देशों के लिए एक-दूसरे को एक ही आधार पर निर्यात उधार देना कठिन होता है, इसलिए इसका वास्तविक प्रभाव यह होता है कि इन देशों में व्यापार के प्रयास रुक जाते हैं। इस विषय में क्षेत्रीय विकास बैंकों को एक भूमिका निभानी होती है।

बहरहाल, विकासशील देशों को पूजीगत तथा उपभोक्ता दोनों प्रकार की बहुत-सी वस्तुओं का विकसित देशों से आयात करना पड़ता है। इसलिए उन्हें इन देशों को अपने निर्यात व्यापार में वृद्धि करने के लिए विशेष प्रयास करने चाहिए। सयुक्त राष्ट्र सघ के अन्दर 1961 से लगातार इस समस्या को उचित परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत करने और इसका एक सर्वसम्मत हल ढूढ निकालने के प्रयास किए जा रहे हैं। परतु इसके परिणाम अभी तक खास उत्साहवर्धक नहीं हैं। 1961 में राष्ट्रपति कैनेडी द्वारा एक प्रस्ताव रखे जाने पर सयुक्त राष्ट्र की महासभा ने उस वर्ष आरम्भ होने वाली दशाब्दी को सयुक्त राष्ट्र (प्रथम) विकास दशाब्दी का नाम दिया।

इसी के साथ-साथ 'आर्थिक विकास के प्राथमिक साधन के रूप में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार' नामक एक सकल्प पारित किया गया जिसमें सयुक्त राष्ट्र के महासचिव से अनुरोध किया गया था कि वह व्यापार तथा विकास सम्बन्धी एक अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन बुलाने की सम्भावनाओं का पता लगाए। इसी पृष्ठभूमि में 1964 में सयुक्त राष्ट्र व्यापार तथा विकास सम्मेलन (अकटाड) का आयोजन किया गया

था ।[1] अंक्टाड के महासचिव राउल प्रेबिश ने विकास दशाब्दी के पांच प्रतिशत वार्षिक वृद्धि की दर के लक्ष्य को कार्यान्वित करने के लिए अपेक्षित आयात (तथा उधार के लिए भुगतान) के परिणाम मे हो रही वृद्धि तथा निर्यात से होने वाली आय म धीमी गति से होने वाली वृद्धि, जिसका सकेत अतीत की प्रवृत्तियो से मिलता है के बीच के अन्तर मे सन्निहित व्यापार व्यवधान को कम करने की समस्या की और ध्यान आकृष्ट करके सम्मेलन के मुख्य उद्देश्य को सामने रखा।

आयात प्रतिस्थापन इस व्यवधान को कम करने का एक सम्भव तरीका है। किसी वस्तु का आयात किया जाता है यह इस बात का स्पष्ट द्योतक है कि उस वस्तु के लिए घरेलू बाजार मे माग है। इससे देश मे एक नया उद्योग लगाने का अवसर मिलता है। यह वास्तव म, द्रुत औद्योगीकरण का एक पुराना तरीका है। एडम स्मिथ के इस कथन पर पहले विचार किया जा चुका है कि कुछ वस्तु निमाण उद्योग विदेशी वाणिज्य के फलस्वरूप स्थापित हुए है। परतु आयात प्रतिस्थापन की प्रक्रिया को भी बहुत दूर तक खीचा जा सकता है। कुछ मामलो मे विदेशी उत्पादक को जो लाभ प्राप्त है वह अस्थायी हो सकता है, और कुछ अन्य मामलो मे यह लाभ बहुत अधिक हो सकता है। हो सकता है कि घरेलू बाजार म आयातित वस्तु के लिए इतनी माग न हो जिसके आधार पर देश म ही उसका कम खच पर उत्पादन किया जा सकता हो। फालतू पुर्जो के लिए माग प्राय इतनी नही होती कि देश म ही उनका उत्पादन शुरू कर दिया जाए। किसी आयातित वस्तु के उत्पादन के लिए कोई नया उद्योग स्थापित करने के परिणामस्वरूप भी और अधिक आयात करने की माग बढ सकती है। इस प्रकार हो सकता है कि आयात प्रतिस्थापन सफल न हो या यह आर्थिक रूप से केवल एक सीमा तक उचित हो। आयात प्रतिस्थापन के साथ साथ निर्यात म वृद्धि की जानी चाहिए।

अल्प विकसित देश चाहते हैं कि उनकी वस्तुए निर्बाध रूप से विकसित देशो के बाजारो म पहुच जाए। इसके साथ ही, वे अपने निजी उद्योगो को सरक्षित रखने का अधिकार भी अपने पास रखना चाहते हैं। यह बात अनुचित प्रतीत हो सकती है परतु व्यापार सम्बधी नीतिया विकास की विभिन्न अवस्थाओं पर आर्थिक वृद्धि की विभिन्न आवश्यकताओ स सम्बन्धित होनी चाहिए। विकासशील तथा विकसित अर्थ-व्यवस्थाओ के बीच नीतियो की औपचारिक समानता की आशा करना उनकी आर्थिक दशाओ मे विद्यमान सारभूत अतर की उपेक्षा करना होगा। यह सतोष की बात है कि अन्तर्राष्ट्रीय सस्थाओ ने अब इस बात को मान लिया है। शुल्क दर तथा व्यापार सम्बन्धी सामान्य करार (गैट) ने भी जो शुल्क सम्बन्धी अवरोध को कम करने मे दिलचस्पी रखता है, 1964 म इस सिद्धान्त को स्वीकार किया कि आर्थिक

1 अंकटाड की स्थापना उसी वष सयुक्त राष्ट्र महासभा के स्थायी अग के रूप म की गई थी।

रूप से उन्नत देशो को कम विकसित देशों से यह आशा नही करनी चाहिए कि वे भी उन्ही की तरह शुल्क दर तथा व्यापार के मार्ग के अन्य अवरोधों को कम करने के वचनो को पूरा करें। परतु, वास्तविकता यह है कि कम विकसित देशो को अब भी अधिक विकसित देशो के साथ व्यापार में मार्ग में आने वाले बहुत-से अवरोधों का मुकाबला करना पड़ता है। अधिकाश प्राथमिक उत्पाद, जिनका अन्य उत्पादों के लिए कच्चे माल के रूप मे प्रयोग किया जाता है, जब विकसित देशों में जाते है तब उन पर शुल्क नही लगाया जाता या बहुत कम शुल्क लगाया जाता है, परतु बहुत-से मामलो मे निर्मित उत्पादो पर शुल्क बहुत अधिक होता है। इस बात की ओर ध्यान दिया जाना चाहिए कि इन सभी मामलों मे विकसित देशो मे वस्तु-निर्माण उद्योगों को जो प्रभावी सरक्षण प्राप्त होता है वह उस सरक्षण से प्राय बहुत अधिक होता है जो उस स्थिति मे मिलता यदि कच्चे माल और उसके अनुरूप तैयार माल पर भी एक समान आयात शुल्क लगाया गया होता। विकसित देश विकासशील अर्थ-व्यवस्थाओं को अपने व्यापार का विस्तार करने मे उनकी मदद करने की अपेक्षा उन्हें 'सहायता' देने को अधिक तैयार रहते हैं। फिर भी, व्यापार का विस्तार भी उतना ही महत्वपूर्ण है जितनी कि सहायता।

यह प्रश्न सहायता बनाम व्यापार का नहीं होना चाहिए वरन् सहायता कार्यक्रमो की आयोजना व्यापार तथा विकास के बीच उचित समन्वय स्थापित करने के दृष्टिकोण से करनी चाहिए। सरकारी सहायता के परम्परागत स्वरूप की, इस दृष्टिकोण से मीमांसा करना सम्भव है। कियोशी कोजिमा ने कुछ समय पहले निर्देश दिया था कि हाल के वर्षों मे ऐसी अर्थ-व्यवस्थाओं द्वारा, जो केन्द्रीय रूप से नियोजित नहीं हैं जो भी सरकारी सहायता दी गई है वह प्राय सारी की सारी 'या तो मानवतावादी सहायता थी या सरचनात्मक' सहायता थी 'और इससे एक असतुलन पैदा हो गया था जिसे अब खास तौर से निर्यात के लिए उपयुक्त उपभोक्ता वस्तुओं के क्षेत्र में' अधिक प्रत्यक्ष उत्पादक सहायता देकर दूर करने की आवश्यकता है।[1] अब तक जो देश अल्प विकसित थे उनका औद्योगीकरण हो जाने पर विश्व अर्थ-व्यवस्था के ढाचे का पुनर्गठन करना उचित ही है। औद्योगिक रूप से उन्नत देशों की सरकारो ने अल्प विकसित देशो से आयात पर कई प्रकार की पाबंदियां लगा दी हैं। इसके पीछे आशय प्राय कुछ पुराने उद्योगो के हितों की रक्षा करने का होता है। हो सकता है कि इससे वस्त्र-निर्माता प्रत्यक्ष रूप से खतरा महसूस करें या चुकदर से चीनी बनाने वाले गन्ने से बनने वाली चीनी के कारण अप्रत्यक्ष रूप से खतरा महसूस करें। जैसे राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था मे होता है उसी प्रकार विश्व की अर्थ-व्यवस्था मे इसका दीर्घकालीन उपचार यह है कि सर्वप्रथम सरचनात्मक

1 कियोशी कोजिमा का लेख 'ए प्रोपोजल फार इण्टरनेशनल एड', 'द डेवलपिंग इकना-मीज', इन्स्टीटयूट आफ एशियन इकनामिक अफेयर्स, तोक्यो, दिसम्बर, 1964

परिवर्तन की आवश्यकता को स्वीकार किया जाए और तब व्यावसायिक पुनः प्रशिक्षण के उपयुक्त कार्यक्रम तथा अन्य आवश्यक उपायों के द्वारा श्रम तथा पूंजी को रोजगार के नये क्षेत्रों में लगाने की सुविधा प्रदान की जाए। विकासशील देशों में सरक्षणवादी नीति सदैव उचित हो ऐसी बात नहीं है। परन्तु प्राय यह उचित होती है। यह सरचनात्मक परिवर्तन तथा ससाधनों के वाछनीय क्षेत्र में पुनर्वंटन का एक साधन है। औद्योगिक रूप से उन्नत देशों में सरक्षण की नीति का अनुसरण सरचनात्मक परिवर्तन को टालने के लिए किया जाता है। ऐसी नीति को उचित सिद्ध करना और भी कठिन होता है क्योंकि आर्थिक रूप से विकसित देश परिवर्तन को स्थान देने के लिए भी अधिक अच्छी स्थिति में होते हैं। हमें समूची विश्व अर्थ-व्यवस्था पर और इसके विकास की अगली अवस्था के लिए उपयुक्त सरचनात्मक पुनर्गठन करने वाले एक अत्यधिक सशक्त साधन के रूप में अन्तर्राष्ट्रीय सहायता पर विचार करना होगा।

अब हम मुख्य निष्कर्षों की सक्षेप में चर्चा करेंगे। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार, *'अधिशेष माल की बिक्री'* की व्यवस्था करके, कई बार अल्प विकसित देशों के घरेलू बाजार की परिसीमाओं को तोड कर बाहर निकलने का एक शक्तिशाली साधन सिद्ध होता है। परन्तु देर-सवेर घरेलू बाजार के विस्तार की आवश्यकता को पूरा किया जाना चाहिए और इस काम को जितनी जल्दी किया जाएगा उतना ही अच्छा है। कृषि का तथा उद्योग की सहायक शाखाओं का साथ साथ विकास करके ऐसा किया जा सकता है। घरेलू बाजार का विकास करने के बदले अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पर अथवा विदेशी बाजारों पर निर्भर करना गलती है।

विदेशी पूंजी अनेक गैर-सरकारी तथा सरकारी स्रोतों से प्राप्त की जा सकती है। विभिन्न प्रकार की इन पूंजियों को परस्पर पृथक् नहीं समझना चाहिए। प्रत्येक के अपने उपयोग तथा परिसीमाएं हैं और विदेशी पूंजी के कई स्रोतों और कई प्रकार की विदेशी पूंजी का मिला-जुला रूप प्राय ठीक रहता है। इसके अलावा, इन्हें पूंजी प्राप्त करने के तरीके ही नहीं समझना चाहिए बल्कि उन कुशलताओं तथा उद्यमशीलता की योग्यताओं को जो विदेशी पूंजी के कारण सम्भव होती हैं, ग्रहण करने के अवसरों की ओर विशेष ध्यान दिया जाना चाहिए। यद्यपि आर्थिक सहायता विकास की किसी अवस्था में उपयोगी सिद्ध हो सकती है तथापि इसे अस्थायी अवलम्ब के रूप में समझा जाना चाहिए। वह सहायता अत्यधिक उपयोगी होती है जो प्राप्त करने वाले देश को उस सहायता का निकट भविष्य में त्याग करने में मदद करती है। राष्ट्रों के बीच के सामान्य सम्बन्धों का आधार सहायता न होकर व्यापार होना चाहिए।

आर्थिक विकास के साथ अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के स्वरूप में भी परिवर्तन हो जाते हैं। इन परिवर्तनों के सम्बन्ध में प्रत्येक देश तथा प्रत्येक वस्तु के व्यापार के ढाच

के सदर्भ मे विवेचन किया जा सकता है। कुछ पुराने बडे देश अब भूतपूर्व उपनिवेशो के साथ उतना व्यापार नही करते जितना कि पहले किया करते थे। अन्य विकसित देशो ने, जैसे जर्मनी और जापान ने, कम विकसित देशो के साथ अपने व्यापार मे वृद्धि कर ली है। परतु विकासशील देशो के बीच व्यापार का पर्याप्त रूप से विस्तार नही हुआ है। कम विकसित देशो के कुल निर्यात व्यापार मे से 1960 मे 76 प्रतिशत और 1968 मे लगभग 77 प्रतिशत व्यापार विकसित देशो के साथ हुआ।[1] स्पष्टत विकासशील देशो के बीच आपस मे अधिक व्यापार होने की गुजाइश है। 1960 के बाद वाली दशाब्दी के अनुभव से यह भी पता चलता है कि विकासशील देशो को कृषि वस्तुओ के निर्यात से होने वाली कुल आय मे किसी खास वृद्धि की आशा नही की जा सकती। इसके विपरीत निर्मित वस्तुओ के निर्यात के बढने की बहुत गुजाइश है। इस दिशा मे व्यापार के ढाचे मे परिवर्तन आवश्यक है और राष्ट्रीय नीतियो मे इस प्रकार सशोधन किया जाना चाहिए जिससे ऐसे परिवर्तन लाने मे सहायता मिले न कि बाधाए उत्पन्न हो। जैसा कि आर्थिक सहकारिता विकास सगठन के एक प्रकाशन मे ठीक ही निर्देश किया गया है, 'कम विकसित देशो से तैयार खाद्य पदार्थो तथा निर्मित वस्तुओ का निर्यात उनकी पूरी क्षमता के साथ तभी हो सकता है जब उन सशुल्क तथा अशुल्क व्यापार अवरोधो को कम कर दिया जाए जो औद्योगिक देशो द्वारा उनके उत्पादो पर इस समय लगाए गए हैं।'[2]

इसी ढाचे के अन्तर्गत अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के स्वरूप को पुन निर्धारित करने के लिए मार्गदर्शी सिद्धान्त बनाए जाने चाहिए। विकासशील देशो के पास श्रमिको की सख्या काफी होती है। इसके अलावा, वर्तमान औद्योगिक रूप से उन्नत देशो मे इनकी सख्या मे पिछली शताब्दी की तुलना मे अधिक तेजी से वृद्धि हो रही है। अल्प विकसित देशो मे कृषि पर से अतिरिक्त श्रम का बोझ कम करने के लिए औद्योगीकरण जरूरी है। विकास सम्बन्धी आयोजना मे इन बातो को सभी स्तरो पर ध्यान मे रखना होगा। ससाधनो के आवटन मे प्राथमिकताओ और उत्पादन की तकनीको के चयन को, श्रमिको की अतिरिक्त उपलब्धि और औद्योगिक रूप से पिछडे हुए क्षत्रो मे इनकी सख्या मे द्रुत वृद्धि के अनुरूप समायोजित करना होगा। विकसित

1 तुलना कीजिए पिछले तीन वर्षों (1967--69) में कम विकसित देशो के निर्यात व्यापार के भौगोलिक वितरण मे कोई भी परिवतन नही हुआ, तीन चौथाई व्यापार विकसित देशों के साथ 1/5 अन्य कम विकसित देशो के साथ और शेष 5 प्रतिशत साम्यवादी देशो के साथ हुआ।' (डेवलपमेंट असिस्टेंस 1970 रिव्यू, योरपीय आर्थिक सहकारिता सगठन, पृ० 111)।

2 उपर्युक्त, पृ० 111 कृषि वस्तुओ के निर्यात से होने वाली आय में काफी वृद्धि क्यो नही होती, इन कारणो के बारे मे चर्चा की जा चुकी है। अमीर देशो मे खाद्य के लिए माग की अल्प आय सापेक्षता आधुनिक टक्नालाजी की नवीन प्रक्रियाओ की कच्चे माल के प्रति उदासीनता, विकसित देशो की प्रतियोगिता और विकासशील देशो के घरेलू उपभोग में वृद्धि, ये कुछ ऐसी महत्वपूर्ण बातें हैं जिनसे यह निष्कर्ष निकलता है।

तथा विकासशील देशो के बीच व्यापार को भी इन तथ्यो के प्रकाश में पुनर्गठित करने की आवश्यकता है। यद्यपि विकासशील देशों को औद्योगिक उत्पादो का अधिक निर्यात करना पड़ेगा तथापि उन्हें उत्पादन के उन क्षेत्रो मे सुविधाजनक स्थिति प्राप्त होगी, जिनमे वे बड़ी सख्या मे उपलब्ध अपेक्षाकृत सस्ते श्रमिको का प्रभावी ढग से उपयोग कर सकते है। व्यापार के इस नये ढाचे के आविर्भाव मे सहायता देना अन्तर्राष्ट्रीय सहकारिता का लक्ष्य होना चाहिए।

13

आर्थिक विकास मे सरकार का योगदान

एडम स्मिथ न तीन बहुत ही महत्वपूर्ण कर्तव्य सरकार के जिम्मे लगाए थे। उसन सरकार क कर्तव्यो का जो स्पष्टीकरण किया उसम अब कुछ सशोधन की जरूरत है। परतु स्मिथ ने अपने विचार इस प्रकार की भाषा मे रखे हैं कि उनका पुन निर्वचन करना सरल है। वास्तव म उसका विवेचन जितना उसक अधिकाश आलोचक स्वीकार करने को तयार हैं उससे कही अधिक पर्याप्त है और आज भी इसक आधार पर बहुत आसानी से विचार विमर्श किया जा सकता है। यह आर्थिक विकास के विद्यार्थी के लिए खास तौर पर उपयोगी है क्योकि स्मिथ के अनुसार प्रभुत्वसम्पन्न राज्य के कर्तव्यो से आर्थिक विकास की कतिपय परिस्थितियो का सही सही सकेत मिलता है।

एडम स्मिथ के अनुसार सरकार का पहला कर्तव्य समाज की अन्य स्वतन्त्र समाजो की तरफ स हिंसा तथा आक्रमण स रक्षा करना है। कई बार हम यह भूल जाते हैं कि आर्थिक विकास क लिए यह कितना आवश्यक है। सत्रहवी शताब्दी मे विभिन्न दिशाओ स आक्रमण करने वाली सेनाओ न जमनी को तहस नहस कर डाला था। तीस वर्षीय युद्ध के परिणामस्वरूप उस देश को जो धक्का लगा उसका वर्णन नही किया जा सकता। उससे पहले वह योरप के आर्थिक विकास म अग्रणी था। उसक बाद उसके पश्चिमी पडौसियो न उसे बहुत पीछे छोड दिया। उन्नीसवी शताब्दी तक वह योरप की प्रमुख विकासशील अर्थ व्यवस्थाओ क बीच अपना स्थान बनाने क योग्य नही हो सका। परतु हमे इतिहास म इतना पीछे जाने की जरूरत नही। चीन इसका एक अधिक समसामयिक उदाहरण है। 1842 म हुई नानकिंग सधि की शर्तो के अनुसार चीन ने हागकाग ब्रिटेन को दे दिया। उसकी कमजोरी को देखकर अन्य योरपीय देशो के मुह म भी पानी आ गया। उस शताब्दी क अत म बडी ताकतो के बीच चीन सरकार से जिसम प्रतिरोध करने की ताकत नही थी रियायत प्राप्त करने की होड सी लग गई। इसम भी देश के भीतर असतोष तथा क्रांति की स्थिति उत्पन्न हो गई। बीसवी शताब्दी म चीन गृहयुद्ध स छिन्न भिन्न हो गया। इसने जापान के बहुत बड आक्रमण को भी सहा। 1949 के पश्चात साम्य वादी सरकार ने चीन म जो कुछ किया उससे वहा पहली बार और काफी हद तक

राजनैतिक स्थिरता आ गई, इसके साथ ही आतरिक अव्यवस्था तथा विदेशी आक्रमण से देश की रक्षा करने की शक्ति भी पैदा हुई। इसके बिना आर्थिक उन्नति की आशा नही की जा सकती थी। स्थिरता के आने पर द्रुत गति से विकास करना सम्भव हो गया। जो व्यक्ति इतिहास को जानता है वह आर्थिक विकास के लिए एडम स्मिथ के 'प्रभुत्वसम्पन्न राज्य के प्रथम कर्तव्य' के विचार के महत्व को कम नही करेगा।

राज्य का दूसरा कर्तव्य 'न्याय का सम्यक् प्रशासन' है। यह सुविदित है कि व्यापार तथा वाणिज्य न्याय की अवधारणा मे आमूल परिवर्तन ला देते है और इनके कारण वास्तव मे इस प्रकार का परिवर्तन आवश्यक हो जाता है। छोटे कृषि समुदायो का व्यवस्थित रूप से तथा दूर देशो के साथ व्यापार बहुत कम होने के कारण उनके विवाद स्थानीय रीति तथा परिपाटी के अनुसार हल हो जाते हैं। परन्तु, स्थानीय रीति एव परिपाटी मे एकरूपता नही होती। ये रीतिया या परिपाटिया परम्परा के अनुरूप होती है, जो विभिन्न कबीलो तथा समुदायो मे भिन्न भिन्न होती हैं और उसके पीछे कोई सार्वभौमिक तर्क नही होता। व्यापार तथा वाणिज्य का विकास विभिन्न कबीलो तथा समुदायो के लोगों मे मेल-मिलाप पैदा करता है। इससे 'नैसर्गिक कानून' के अनुसार विवादो को निपटाने की जरूरत पैदा होती है। अत आर्थिक विकास अर्थात् बाजारो के विस्तार और 'न्याय के सम्यक् प्रशासन' के बीच एक महत्वपूर्ण सम्बन्ध है।

उपभोग के विपरीत निवेश मे भविष्य मे लाभ की आशा रखकर ससाधनो का उपयोग किया जाता है। यदि आशा का कोई आधार न होता तो बचत करके उसका निवेश करना मूर्खता होती। जिस समाज में असुरक्षा की भावना व्याप्त होती है उसमे आर्थिक दूरदर्शिता का कोई सकेत नही मिलता। विदेशी आक्रमण से रक्षा और विधि के अनुसार शासन से एक ऐसा वातावरण उत्पन्न होता है जिसमे प्रत्याशित परिणामो को सामने रखकर निवेश कार्य किए जा सकते है। एडम स्मिथ के जमाने मे, खास तौर पर विश्व के कुछ भागो मे, निजी सम्पत्ति के प्रति प्रवर्तमान रवैये मे कुछ परिवर्तन हो गए हैं। स्वामित्व के सम्बन्ध मे परम्परागत अवधारणा अपर्याप्त है और इस विषय मे बाद मे कुछ और चर्चा की जाएगी।[1] परतु 'न्याय के सम्यक् प्रशासन' के अनुसार मूलभूत प्रश्न यह नही है कि किसी ससाधन के सम्बन्ध मे स्वामित्व का अधिकार किसी व्यक्ति या किसी सघ या राज्य को होना चाहिए, बल्कि प्रश्न यह है कि ऐसे सभी अधिकारो की परिभाषा बिलकुल स्पष्ट होनी चाहिए। समाजवाद को स्वय ही कानून मे बधा होना चाहिए और कानून के उल्लघन को

1 इस सम्बन्ध मे देखिए, इस लेखक की रचना 'सोशियलिज्म, डेमोक्रेसी एण्ड इण्डस्ट्रियलाइजेशन' मे लीडरशिप इन इकनामिक ट्रांजीशन एण्ड द कन्सेप्ट आफ प्रापर्टी' नामक अध्याय (जार्ज एलन एण्ड अनविन, लदन, 1962)।

रोकने के लिए एक तन्त्र होना चाहिए।

सरकार के तीसरे कर्तव्य का प्रतिपादन करते हुए एडम स्मिथ ने अपने शब्दों को इतनी सावधानी से चुना है कि उसे सविस्तार उद्धृत करना समीचीन होगा

> प्रभुत्व सम्पन्न राज्य या राष्ट्रमण्डल का तीसरा तथा अन्तिम कर्तव्य ऐसी लोक संस्थाओं तथा ऐसे लोक निर्माण कार्यों की स्थापना तथा देखरेख करना होता है जो भले ही समूचे समाज के लिए अत्यधिक लाभकर हों परन्तु उनका स्वरूप ऐसा होता है कि उनका मुनाफा किसी एक व्यक्ति या कुछ व्यक्तियों द्वारा किए गए व्यय का भुगतान करने के लिए भी पर्याप्त नहीं होता और इसलिए किसी एक व्यक्ति या कुछ व्यक्तियों से उनकी स्थापना या देखरेख की आशा नहीं की जा सकती। इस कर्तव्य के पालन के लिए समाज को विभिन्न समयों पर भिन्न भिन्न मात्रा में खर्च करना पड़ता है।[1]

इस प्रकार लोक संस्थाओं तथा लोक निर्माण कार्यों के सम्बन्ध में सरकार के कर्तव्य का वर्णन जान-बूझकर बहुत ही लचीले शब्दों में किया गया है ताकि आर्थिक विकास की विभिन्न अवस्थाओं में भिन्न भिन्न आवश्यकताओं तथा परिस्थितियों के अनुसार समायोजन की गुंजाइश बनी रहे। एडम स्मिथ के समय के बाद से इस कर्तव्य के यथार्थ स्वरूप में काफी परिवर्तन तथा विस्तार हो गया है।

स्मिथ के समय की तुलना में आज विकासशील देश की सरकार से भीतरी ढांचे या ऊपरी पूंजी की व्यवस्था करने की अधिक अपेक्षा की जाती है जिससे उत्पादन के किसी एक क्षेत्र को ही अवलम्ब नहीं मिलता बल्कि ऐसे अनेक क्षेत्रों को सहारा मिलता है। कई बार सामाजिक तथा आर्थिक ऊपरी पूंजी के बीच भेद किया जाता है। शिक्षा अनुसंधान और लोक स्वास्थ्य सेवाएं सामाजिक ऊपरी पूंजी के उदाहरण हैं तथा सड़क रेल और बड़े बड़े विद्युत शक्ति प्रतिष्ठान आर्थिक ऊपरी पूंजी के उदाहरण हैं। परन्तु यह भेद सम्भवत अधिक उपयोगी नहीं है क्योंकि समस्त ऊपरी पूंजी वास्तव में विस्तार तथा महत्त्व के विचार से सामाजिक तथा आर्थिक दोनों ही होती है। इसलिए सभी प्रकार की ऊपरी पूंजी का निर्देश करने के लिए सामाजिक ऊपरी पूंजी पद का प्रयोग किया जा सकता है। विभिन्न देशों के विकास कार्यक्रमों को देखने से पता चलता है कि इस प्रकार की पूंजी में प्रमुख कार्यों के सम्बन्ध में विकासशील देशों में मोटे तौर पर एक प्रकार की सहमति पाई जाती है। नाइजीरियाई विकास कार्यक्रम 1962–68 के अन्तर्गत निम्नलिखित कार्य एकमात्र संघीय सरकार की (जिसमें प्रादेशिक सरकार सम्मिलित नहीं है) जिम्मेदारी थे राष्ट्रव्यापी महत्त्व के संचार साधनों का विकास दूर संचार प्रमुख बड़ी सड़क रेल

1 एडम स्मिथ द वैल्थ ऑफ नेशन्स खण्ड 2 एवीमैन्स लाइब्रेरी लंदन पृ० 210 11

बन्दरगाह तथा हवाई अड्डे आदि, विद्युत्-शक्ति का विस्तार, उच्च शिक्षा के कतिपय प्रमुख पहलू, जिसमें डाक्टरी शिक्षा सम्मिलित है, प्राथमिक उत्पादन तथा खनिज विज्ञान के क्षेत्रों में विशुद्ध अनुसंधान कार्य, और प्रभुत्वसम्पन्न राज्य के लिए उपयुक्त वित्तीय संस्थाएं स्थापित करना और इन संस्थाओं में विश्वास बनाए रखना। इससे प्रभुत्वसम्पन्न राज्य के तीसरे कर्तव्य के सम्बन्ध में एडम स्मिथ की अवधारणा के वास्तविक स्वरूप का भली भांति परिचय मिल जाता है जो बीसवीं शताब्दी के मध्य में विकासशील देशों में विद्यमान दशाओं के अनुरूप निर्धारित किया गया था।

इन क्षेत्रों में पूंजी निवेश सरकार का विशेष उत्तरदायित्व समझा जाता है क्योंकि, भले ही वे 'समूचे समाज के लिए अत्यधिक लाभकर हों, परन्तु उनका मुनाफा किसी एक व्यक्ति द्वारा किए गए व्यय का भुगतान करने के लिए भी पर्याप्त नहीं होता।' यह इस प्रकार के निवेश की कुछ प्रमुख विशेषताओं का परिणाम है। पहली बात तो यह है कि इसके परिणाम सामने आने में बहुत समय लगता है। दूसरे शब्दों में, निवेश करने के समय और अन्तिम परिणाम प्राप्त होने के समय के बीच तक लंबा अन्तराल होता है। गैर-सरकारी निवेशकर्ता ऐसे क्षेत्रों में निवेश करते हैं जिनसे तुरन्त आय प्राप्त होने की आशा हो। दूसरे, सामाजिक ऊपरी पूंजी के लिए सामान्यतः एकमुश्त निवेश की आवश्यकता' होती है। इसे आसानी से छोटे भागों में विभाजित नहीं किया जा सकता। यदि, उदाहरण के लिए, एक किनारे से दूसरे किनारे तक या दो प्रमुख स्थानों के बीच रेलवे लाइन बिछानी हो तो उसके लिए अपेक्षाकृत थोड़े से समय में ही बड़ी मात्रा में निवेश करना पड़ेगा। इस कार्य को थोड़ा-थोड़ा करके बहुत लंबे समय में करने का विचार भी आ सकता है परन्तु इस कार्य को इस प्रकार करना समाज के अधिक हित में नहीं हो सकता। अन्ततः, इस प्रकार के निवेश को उस तरीके से चुकता नहीं किया जा सकता जिस प्रकार किसी वस्तु को बाजार में उस मूल्य पर बेच कर किया जाता है जो लागत को पूरा कर लेता है, यद्यपि, जब समाज को इससे होने वाले कुछ प्रत्यक्ष लाभों का उचित रूप में हिसाब लगाया जाए तब, इसमें 'खर्च से भी अधिक भुगतान हो जाता है।' एशिया तथा दूर पूर्व के लिए आर्थिक आयोग (इकाफे) के एक प्रकाशन में इस स्थिति का सारांश निम्नलिखित शब्दों में दिया गया है

> विकासशील देशों में गैर-सरकारी उद्यमकर्ता ऐसे निवेश (स्थूल बाह्य संरचना, विशेषतः परिवहन तथा विद्युत् के लिए निवेश) के प्रति आकृष्ट नहीं होते, क्योंकि इससे आय कम मिलती है और इसके लिए जितनी पूंजी की आवश्यकता होती है वह उनकी क्षमता से बाहर होती है…चूंकि सीमान्त सामाजिक लाभ सीमान्त निजी लाभों से बहुत अधिक होते हैं इसलिए इस क्षेत्र के

सभी देशों की विकास योजनाओं में सरकारी निवेश प्रायः बहुत अधिक होता है।[1]

अब हम इस बात को समझ सकते हैं कि इस समय लोक-निर्माण कार्यों की परिभाषा का विस्तार एडम स्मिथ के विवेचन की तुलना में अधिक क्यों है। बाह्य संरचना के सम्बन्ध में निवेश अब पहले की अपेक्षा कहीं अधिक होता है। परिवहन व्यवस्था में क्रांति तथा बड़े पैमाने पर विद्युत् शक्ति के उपयोग ने बहुत अन्तर पैदा कर दिया है। औद्योगीकरण के क्षेत्र में विलंब से कदम रखने वालों को बहुत अधिक उतावली है और इसलिए, अपेक्षाकृत थोड़े-से समय में बड़ी मात्रा में और अधिक निवेश करने की आवश्यकता होती है। संसार के विभिन्न देशों के बीच टेक्नालाजी सम्बन्धी व्यवधान एडम स्मिथ के जमाने की तुलना में अब बहुत अधिक बढ़ गया है और अधिकांश आधुनिक टेक्नालाजी पूंजी-प्रधान हैं।

परिणामतः, आर्थिक विकास के प्रवर्तक के नाते सरकार को सामाजिक ऊपरी पूंजी की व्यवस्था करने में ही नहीं बल्कि प्रत्यक्ष रूप से उत्पादक गतिविधियों का पथ प्रशस्त करने या उनमें सहायता देने के लिए भी एक बड़ी भूमिका निभानी होती है। प्रारम्भिक मेइजी काल में जापान सरकार की भूमिका से यह बात स्पष्ट हो जाती है। सरकार ने थोड़े-से समय में देश में राष्ट्रीय रेल व्यवस्था का प्रबंध और जहाजी कारखानों तथा टेलीग्राफ लाइनों का निर्माण ही नहीं किया बल्कि इसने उद्योग तथा खनन के क्षेत्र में भी उद्यमकर्ता के रूप में योगदान किया। इसने विदेशी साज-सामान और विशेषज्ञ मगाए और रेशम को अटेरने तथा रुई की कताई का काम मशीनों पर करना शुरू किया। इसने कागज, सीमेंट और कांच के निर्माण के लिए आधुनिक कारखाने लगाए। यह इस प्रकार के कार्य हैं जो सरकार के कर्तव्यों के बारे में रूढ़िगत अवधारणा से बिलकुल हट कर हैं। यह दिलचस्पी की बात है कि 1882 के पश्चात् राज्य की अधिकांश औद्योगिक सम्पत्ति उन कीमतों पर बेच दी गई थी जो गैर सरकारी उद्यमकर्ताओं के अधिक अनुकूल बैठती थी। इससे पता चलता है कि जापान सरकार ने औद्योगिक गतिविधियों में इसलिए हिस्सा नहीं लिया कि वह गैर-सरकारी उद्यमकर्ताओं के विरुद्ध थी बल्कि इसलिए कि उसने महसूस किया कि औद्योगीकरण की प्रक्रिया को यथासम्भव जल्दी पूरा करने के लिए ऐसा करना आवश्यक है।

विकासशील देश की सरकार से आशा की जाती है कि वह कई अन्य तरीकों से औद्योगिक उद्यमकर्ताओं की सहायता करे। उदाहरण के लिए, पूंजी प्राप्त कराने के प्रश्न को ले लीजिए। कोई सुस्थापित उद्योग अतिरिक्त मुनाफों में से अधिक निवेश

1 'ए डिकेड आफ डवलपमेंट प्लानिंग एण्ड इम्प्लीमेंटेशन', 'इकनामिक बुलेटिन फार एशिया एण्ड द फार ईस्ट', संयुक्त राष्ट्र, दिसम्बर, 1961

के लिए वित्त प्रबंध कर सकता है। परन्तु कोई नया उद्योग अपने निजी स्रोतों से ऐसा नही कर सकता। जहा अधिक मात्रा मे पूजी अपेक्षित हो वहा यह गम्भीर समस्या हो सकती है। विकासशील देशों मे उद्यमकर्ताओं के लिए आज यह उस समय से भी अधिक गम्भीर समस्या है जबकि पश्चिम मे पहले-पहल औद्योगिक क्रांति शुरू हुई थी। इस दशा मे सरकार प्राय उधार या पूजी के सभरणकर्ता के रूप मे आगे आ जाती है। ऐसा करते हुए वह एक नही वरन् अनेक तरीको से मदद करती है। वह आवश्यक धन ही नही जुटाती बल्कि इस कारण कि वह किसी उद्यम को ऋण देने या उसके शेयर खरीदने को तैयार है, उस उद्यम मे सार्वजनिक विश्वास पैदा करने मे भी मदद करती है और इस तरह इसके लिए बाजार मे अधिक धन जुटाना आसान बना देती है। निस्सन्देह, सरकार के पास धन जुटाने के कई साधन स्रोत है। यदि सरकार को करो से होने वाली आय, सरकारी निवेश को छोडकर उसके व्यय से अधिक हो तो यह अन्तर सरकार की आन्तरिक बचत कहलाएगी। सरकार बाड भी बेच सकती है। बैंक नोट जारी करके घाटे की अर्थ-व्यवस्था भी की जा सकती है। इन उपायो का निजी बचत पर प्रभाव बडा जटिल होता है और उसका यहा विश्लेषण नही किया जा सकता। परन्तु सरकारी बचत निजी बचत की अपेक्षा अधिक केन्द्रीकृत होती है और इसलिए, चुने हुए उद्यमो या विकास परियोजनाओं के लिए बडी मात्रा मे उधार या पूजी का आवटन करने के लिए उसका आसानी से उपयोग किया जा सकता है।

हाल के वर्षो मे विकासशील देशो मे विशेष प्रकार की वित्तीय सस्थाए स्थापित हो गई हैं जिनका काम सरकारी धन को निवेश के वांछित क्षेत्र म लगाना है। कुछ मामलो मे तो ये सस्थाए सरकार के स्वामित्व मे ही नही होती बल्कि उनके कर्तव्यो की कल्पना इस प्रकार की गई है कि वे वास्तव मे आर्थिक विकास के लिए राष्ट्रीय आयोजना का साधन बन गई है। चिली का विकास निगम 1939 मे स्थापित किया गया था। इसकी परिनियमावली के अनुच्छेद 22 द्वारा अपेक्षा की गई थी कि 'वह देश के प्राकृतिक ससाधनो के विकास द्वारा लोगो के जीवन-स्तर को ऊचा उठाने के लिए अपेक्षित राष्ट्रीय उत्पादन को बढाने की एक सामान्य योजना तैयार कर।'[1] उस समय तक राष्ट्रीय योजना आयोग आम नही हुए थे। परन्तु यह विकासशील देशो मे आर्थिक आयोजना की आवश्यकता को महसूस करने का एक सकेत था।

राष्ट्रीय आर्थिक योजनाओं की आवश्यकता को अब व्यापक रूप से महसूस किया जाता है। दीर्घकालीन या भावी सम्भावनाओ के आधार पर योजनाओं और अल्पकालीन योजनाओं, जैसे पचवर्षीय या वार्षिक योजनाओं के बीच भेद किया जा सकता है। कुछ समस्याए ऐसी होती हैं जिनके विस्तार या अनुपात का उचित रूप

1 देखिए, 'द चिलियन डेवलपमेंट कारपोरेशन', इन्टरनेशनल लेबर आफिस, माट्रियाल, 1947, पृ० 14

से पता तभी लगाया जा सकता है जब उन्हें लंबे समय, या यूं कहिए कि पच्चीस वर्षों तक देखा जाए। उदाहरण के लिए, जनसंख्या की वृद्धि की समस्या ऐसी ही है। व्यापार में मंदी के फलस्वरूप जिस प्रकार की बेरोज़गारी किसी विकसित देश के सामने आती है उससे अल्पकालीन समस्या उत्पन्न होती है। परंतु, कुछ विकासशील देशों में, जहां उद्योगों में रोजगार के अवसर इतनी तेज़ी से नहीं बढ़ते कि वे श्रम बल में होने वाली वार्षिक वृद्धि को खपा सकें, वहां हर वर्ष बेरोज़गारी की संख्या में निरंतर वृद्धि होती चली जाती है और इसमें यह शक्ति नहीं होती जो कि तत्काल हल करने के लिए ज़ोर डाले। इसलिए अगर पहले से ही इसकी परिकल्पना न हो तो सामान्यतया इसकी उपेक्षा होती चली जाती है। इसी प्रकार कुछ और संरचनात्मक समस्याएं होती हैं जिन्हें तभी स्पष्ट रूप से समझा जा सकता है जब कि अर्थ-व्यवस्था के दीर्घकालीन विकास को ध्यान में रखा जाए। प्राकृतिक ससाधनों के परिरक्षण तथा विकास की समस्याओं का भी दूरदर्शिता से मूल्यांकन करने की आवश्यकता होती है। इस प्रकार, कुछ दीर्घकालीन लक्ष्य होते हैं जिनका निर्धारण करने में 'भावी आयोजना' सहायता करती है। ऐसा होने पर अल्पावधि की योजनाओं को इस विस्तृत ढांचे में समाहित किया जा सकता है।

योजना तैयार करने में सरकार की स्पष्ट ज़िम्मेदारी होती है। कुछ लोग यह भी मानते हैं कि सरकार को ही सभी उद्योगों का सीधे नियंत्रण तथा प्रबंध करना चाहिए और इस प्रकार योजना की पूर्ति को सुनिश्चित करना चाहिए। परंतु, यह बात बहुत विवादास्पद है। व्यवहार में, अधिकांश विकासशील देशों में 'मिश्रित अर्थ-व्यवस्था' होती है जिसमें गैर-सरकारी और सरकारी उद्यम साथ-साथ काम करते हैं। विभिन्न देशों में विभाजन की रेखा भिन्न-भिन्न रूप से खींची जाती है। अधिकांश देशों में जनोपयोगी सेवाएं सरकारी क्षेत्र के अन्तर्गत होती हैं। इससे आगे, व्यवहार में, बहुत अधिक भिन्नता पायी जाती है। कुछ देशों का झुकाव गैर-सरकारी उद्यमों की ओर अधिक होता है, जबकि कुछ देशों का नहीं होता। भारत के औद्योगिक नीति विषयक वक्तव्य में, जिसे 1948 में स्वीकृत तथा बाद में संशोधित किया गया था, उद्योगों को तीन श्रेणियों में विभाजित किया गया। प्रथम श्रेणी के उद्योग, जिनके अन्तर्गत रेल्वे, हवाई यातायात, हथियार तथा गोला-बारूद और परमाणु शक्ति जैसे प्रमुख तथा सामरिक महत्व के उद्योग आते हैं, एकमात्र सरकार की ज़िम्मेदारी घोषित किए गए। लोहा तथा इस्पात जैसे कुछ भारी उद्योग, जिनके लिए बड़ी मात्रा में तथा एक ही स्थान पर निवेश की आवश्यकता होती है, और बहुत-से अपेक्षाकृत नये उद्योग, जैसे एंटीबायोटिक्स, सिंथेटिक रबड़, अल्युमिनियम, लौह-मिश्र धातुएं और उर्वरक, दूसरी श्रेणी के अन्तर्गत आते हैं। इस श्रेणी के उद्योगों में सरकारी तथा गैर-सरकारी उद्यम का संयुक्त कार्यक्रम था। पारम्परिक उद्योग तथा उपभोक्ता माल उद्योग प्रायः तीसरी श्रेणी में रखे गए थे, जो गैर-सरकारी उद्यम के हाथ में दे दिए

गए थे। सरकार का काम समूचे रूप से तालमेल रखना था। बड़े-बड़े भारतीय बैंक और बीमा कम्पनिया अब सरकारी क्षेत्र मे हैं। अधिकाश विदेशी व्यापार भी सरकार के नियत्रण मे है।

विकासशील अर्थ व्यवस्था मे सरकारी क्षेत्र कितना बडा होना चाहिए, इस सम्बन्ध मे सर्वमान्य नियम निर्धारित करना कठिन है। अनुभव से भी सामान्यीकरण का कोई आधार उपलब्ध नही होता। जिन अर्थ-व्यवस्थाओ का 1950 के बाद से तेजी से विकास हुआ है उनमे इस सम्बन्ध मे बिल्कुल एक से लक्षण दिखाई नही देते। ताइवान, युगोस्लाविया और मैक्सिको मे विकास की गति बहुत अधिक रही है। परतु उनका आर्थिक ढाचा एक दूसरे से बहुत भिन्न है। सम्भवत विकास के दृष्टिकोण से, सम्पूर्ण अर्थ-व्यवस्था मे सरकारी क्षेत्र का अश ज्यादा महत्वपूर्ण नही है, अन्य बातें अधिक महत्वपूर्ण होती है। जो व्यक्ति इस पक्ष मे होते है कि कम विकसित देशो मे सरकारी क्षेत्र विस्तृत होना चाहिए, वे कई बार यह तर्क देते हैं कि अल्प विकसित देशो मे बडे-बडे औद्योगिक उद्यमकर्ताओ का अभाव होता है। यह तर्क इन देशो के मध्यम वर्ग के पढे-लिखो को कुछ हद तक प्रभावित करता है क्योकि प्रशासन मे शिक्षित व्यक्तियो की सख्या अधिक होती है। परतु प्रशासन मे उद्यमशीलता की योग्यताए कम ही देखने मे आती हैं। वस्तुत, दफ्तरशाही की आदतें तथा रवैये उनसे बिल्कुल भिन्न होते है जिनकी उद्यम की सफलता के लिए अपेक्षा होती है। दफ्तरशाह नियमो, पूर्वोदाहरणों और पदो की परम्परा पर विशेष ध्यान देता है। जब उसे औद्योगिक प्रबध का प्रभारी बना दिया जाता है तब जोखिम उठाने के बजाय उसकी प्रवृत्ति आलोचना से बचने और सुरक्षित रूप से कार्य करने की होती है। यह कोई अचम्भे की बात नही है कि सरकारी क्षेत्र के उद्यमो मे प्राय. कार्य-प्रबध मे धीमापन, लचीलेपन का अभाव और अकुशलता देखने मे आती है। यह बात और भी सही उतरती है, जब उद्यम को जटिल प्रशासनिक विनियमो तथा उच्चाधिकारियो द्वारा दिए जाने वाले निदेशो से जकड दिया जाता है। सरकारी उद्यम और गैर-सरकारी उद्यम के बीच चयन से स्वामित्व का प्रश्न सामने आ जाता है, परन्तु कार्यकुशलता प्रबध के स्वरूप पर निर्भर करती है।

राजनीतिक नेतृत्व, प्रशासन और व्यापार-प्रबध तीन भिन्न बातें हैं। पहली दो की पूर्ति सरकार द्वारा की जानी चाहिए, तीसरी की व्यवस्था भी सरकार ही करेगी। यह पसन्द का विषय है। जापान सरकार ने निर्णय किया कि कृत्यो का विभाजन करना अच्छा रहेगा और उसने व्यापार प्रबध मुख्यत: 'जाइबात्सु' पर छोड दिया। सोवियत सघ मे प्रबधक सामान्यतः कम्युनिस्ट पार्टी के सदस्य होते है जो सरकार को चलाती है। वहा पर भी धीरे-धीरे व्यावसायिक प्रबधक वर्ग का आविर्भाव हो गया है, वे सम्भवतः प्रशिक्षण तथा स्वभाव के विचार से व्यावसायिक राजनीतिज्ञो से भिन्न है। किसी भी स्थिर औद्योगिक समाज मे, चाहे वह पूजीवादी हो

या समाजवादी, एक ओर राजनीतिक नेतृत्व तथा प्रशासन और दूसरी ओर उद्योगों के अग्रणी व्यक्तियों के बीच निकट का सम्बन्ध होता है। ऐसे सहयोग के बिना आर्थिक विकास लाना कठिन होगा। परन्तु एक को दूसरे के हाथ की कठपुतली समझना गलती है। केवल पूर्णतः एकदलीय समाज में ऐसी स्थिति हो सकती है।

व्यापार-प्रबंध के उद्देश्य सरकार के उद्देश्यों की अपेक्षा बहुत सीमित होते हैं और उनकी उसी प्रकार से परिभाषा की जाती है। उन उद्देश्यों की सीमाओं के अन्तर्गत प्रबंधकों का यह कर्तव्य है कि उनमें अधिक से अधिक कुशलता आए। इस सीमित दायरे के अपने ही लाभ हैं। आधुनिक व्यापार ने आरम्भ से ही इसने साधनों के उपयोग में बचत करने की कला में भारी योगदान किया है। किन्तु व्यापारी का एकमात्र उद्देश्य स्वार्थसिद्धि होता है। यदि समाज गैर-सरकारी व्यापार की अनुमति देता है तो उसे व्यापारी की स्वार्थ की प्रवृत्ति से अपनी रक्षा के उपाय भी करने चाहिए। इस प्रकार के संरक्षण की व्यवस्था करना सरकार का एक बुनियादी कर्तव्य है। उदाहरण के लिए मानक बाट तथा माप नियत करके तथा बाजार में बिकने वाले उत्पादों की किस्म पर नजर रखकर सरकार इस कर्तव्य को पूरा करती है। वह काम के घंटे नियत करती है, न्यूनतम मजूरी निश्चित करती है और सामाजिक सुरक्षा का ख्याल रखती है। कर्मचारी तथा प्रबंधकों के बीच विवाद होने पर वह उच्चतम अपीलीय न्यायालय का काम करती है। वह इनके तथा अन्य सैकड़ों बातों के सम्बन्ध में कानून बनाती है जो प्रबंधकों को उनकी उन युक्तियों पर अनुचित प्रतिबंध लगाने वाले प्रतीत होते हैं जिनके द्वारा वे अपने सीमित उद्देश्यों की पूर्ति करते हैं, परंतु जिन्हें सरकार समाज के व्यापक हित में आवश्यक समझती है।

दूसरा रास्ता यह है कि सरकार स्वयं औद्योगिक प्रबंध के काम को ग्रहण कर सकती है। इसके अपने लाभ तथा हानियां हैं। अधिकांश सरकार युद्धकाल में ऐसा करती हैं, जब समाधनों को बड़े पैमाने पर नये क्षेत्रों की तरफ मोड़ना पड़ता है। आपात काल में नियंत्रण कायम रखने की पद्धति और शांतिकालीन प्रक्रियाएं बहुत ही बोझिल प्रतीत होती हैं। परंतु इसे सामाजिक जीवन की एक साधारण बात मान लेने में जोखिम निहित है। उद्यमकर्ता आदत से कानून की उपेक्षा करने वाला होता है। जब सरकार प्रमुख उद्यमकर्ता हो तब उसमें भी यह रवैया पैदा हो जाने का डर होता है। चूंकि सरकार कानून की एकमात्र रक्षक भी होती है, इसलिए इससे भ्रांति की स्थिति उत्पन्न हो जाने की सम्भावना होती है।

आर्थिक विकास के दौरान सामान्यतः भारी तनाव तथा खिंचाव होता है। ऐसे समय में समाज को एक सूत्र में बांधकर रखना अपने-आपमें एक बड़ा काम होता है। व्यापारी या औद्योगिक प्रबंधक में यह क्षमता नहीं होती। यह काम सरकार या राजनीतिज्ञ का होता है। आर्थिक विकास से हितों का अल्पकालीन संघर्ष पैदा हो

जाता है। केवल आर्थिक हितों पर ज़ोर देकर इन पर काबू नहीं पाया जा सकता। तनाव के समय मे सामाजिक सलग्नता की रक्षा करने के लिए 'अर्थवाद' से ऊपर की किसी बात की आवश्यकता होती है। आर्थिक विकास के दौरान भौतिक लाभ के लिए जो बहुत-से सघर्ष पैदा होते हैं वे, लबे अरसे के दौरान हल हो जाते है या उन्हें हल किया जा सकता है। राजनीतिज्ञ के लिए किसी न किसी तरह जनता को इन दूरस्थ सम्भावनाओ से थोड़ा-बहुत परिचित कराना आवश्यक है। यदि सरकार आर्थिक जीवन के प्रबध के साथ बहुत निकट से सम्बद्ध हो और यदि अर्थ-व्यवस्था के अनेक प्रश्नो के दैनिक व्यवहार मे उत्पन्न होने वाले विवाद एकत्र होकर राजनीतिक सत्ता के प्रति अप्रसन्नता और असतोष का समूह बन जाए, तो समाज को, सामान्य साधनो के द्वारा, एक सूत्र मे बाधे रखना असम्भव हो जाता है। आर्थिक तथा राजनीतिक अधिकारो के बीच विभाजन करके प्रबध-व्यवस्था को विकेन्द्रित किया जाए और विवाद की स्थिति मे सरकार अन्तिम निर्णायक भूमिका निभाए तो उससे स्थिरता कायम होगी।

इस बात को एक बार फिर दोहराना उचित होगा कि यह गैर-सरकारी उद्यम बनाम सरकारी उद्यम का सीधा-सा प्रश्न नहीं है। प्रधानत गैर-सरकारी उद्यमो वाली अर्थ-व्यवस्था के होते हुए भी उसे नियत्रणो तथा लाइसेंसो और विस्तृत केन्द्रीय निवेशो के जाल मे इस प्रकार जकड़ा जा सकता है कि सरकार रोजमर्रा की आर्थिक गतिविधियो मे बुरी तरह उलझ जाए। ऐसा भी हो सकता है कि उद्योगो को निजी नियत्रण से निकालकर बाजार की अर्थ-व्यवस्था के ढाचे के भीतर कार्य करने के लिए स्वतत्र छोड़ा जा सकता है जिसमे सरकार का काम केवल राष्ट्रीय प्राथमिकताए निश्चित करना और परोक्ष रूप मे ससाधनो के आवटन को प्रभावित करना होगा। निष्कर्ष यह है कि पूजीवाद तथा समाजवाद के बीच जो पुराने जमाने से एक विभाजन चला आता है उससे कहीं अधिक विकल्प अब हमारे सामने हैं।

आर्थिक विकास मे सरकार के योगदान को निर्धारित करने मे एक बुनियादी प्रश्न यह सामने आता है कि अर्थ-व्यवस्था का प्रबध कहा तक समूचे देश के लिए एक केन्द्रीय प्राधिकरण के हाथो में होना चाहिए। कुछ कृत्य ऐसे हैं जो स्पष्ट रूप से इस प्रकार के प्राधिकरण के जिम्मे होने चाहिए। उदाहरण के लिए, मूल्य नीति तथा मूल्य स्थिरता और औद्योगिक विकास मे राष्ट्रीय प्राथमिकताए निश्चित करने की अन्तिम जिम्मेदारी सरकार की होनी चाहिए। सरकार मुद्रा विषयक नीति के सम्बन्ध मे केन्द्रीय बैंक को और योजना आयोग को, उसे सौंपे गए कार्यों के बारे मे काफी हद तक स्वायत्तता दे सकती है। फिर भी, ये ऐसे मामले है जिन पर अन्तिम निर्णय केन्द्र का होगा। देश मे प्रशासन, शिक्षा और विविध प्रकार की अर्थ-व्यवस्था के विकास के लिए एक बाह्य सरचना के निर्माण मे भी सरकार को एक प्रमुख तथा प्रत्यक्ष भूमिका निभानी होती है। इस विषय मे पहले ही बिस्तार से चर्चा की

जा चुकी है। यदि किसी आर्थिक गतिविधि के परिणाम ऐसे हो जिनका राष्ट्रीय महत्व हो, तो वह सरकार की विशेष जिम्मेदारी होनी चाहिए। अन्य मामलो मे, सम्बन्धित उद्यम के स्वामित्व का रूप कुछ भी हो, निर्णय तथा प्रशासनिक अधिकारो को विकेन्द्रीकृत करना कदाचित् सर्वोत्तम होगा। जहा लोगो को आगे बढकर काम करने के विस्तृत अवसर उपलब्ध नही होते वहा आर्थिक विकास रुक सकता है। यह एक आवश्यक मापदण्ड है और इसके आधार पर ही विभिन्न आर्थिक प्रणालियो मे भेद किया जाना चाहिए।

14

आर्थिक प्रणालियां

कुछ लोग आर्थिक विकास के पूंजीवादी और समाजवादी इन दो तरीकों की बात करते हैं। वास्तव में, इस समय संसार में अनेक प्रकार की आर्थिक प्रणालियां साथ-साथ विद्यमान हैं। उन्नीसवीं शताब्दी में ब्रिटेन आर्थिक विकास के पूंजीवादी 'तरीके' की प्रमुख मिसाल था और स्तालिन के युग में सोवियत संघ केन्द्र-नियोजित अर्थ-व्यवस्था का एक श्रेष्ठ नमूना था। परंतु अन्य देशों ने अन्य मार्गों का अनुसरण किया है। वे इन दो स्पष्ट तरीकों के अन्तर्गत नहीं आते। जापान, मेक्सिको, सोवियत संघ, युगोस्लाविया और संयुक्त अरब गणराज्य जैसे नानाविध आर्थिक संगठन वाले देशों को जबरदस्ती इस प्रकार के वर्गीकरण में बिठाने की कोशिश करने का कोई लाभ नहीं।

बाज़ार अर्थ-व्यवस्था तथा केन्द्र-नियोजित अर्थ-व्यवस्था, ये दो आदर्श रूप हैं, जिन पर चर्चा की जा सकती है। पूंजीवाद की ऐतिहासिक भूमिका की जांच करना भी उपयोगी है। परंतु जब हम समकालीन विश्व की बात करते हैं, तो हम दो आर्थिक प्रणालियों तथा आर्थिक विकास के दो मार्गों की ही बात नहीं करते। वास्तव में, अनेक तरीके हैं और भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में भिन्न-भिन्न तरीके उपयुक्त होते हैं।

इतिहास को देखने से पता चलता है कि पूंजीवाद ने आर्थिक जीवन को युक्तिसंगत बनाने में उल्लेखनीय योगदान किया है। जब हम मध्यकाल के आर्थिक जीवन की पूंजीवादी आर्थिक गतिविधियों के साथ तुलना करना आरम्भ करते हैं, तब सारी स्थिति बिल्कुल स्पष्ट हो जाती है। मध्यकालीन समाज में आदमी मानो किसी व्यवसाय विशेष अर्थात् अपने पिता के *व्यवसाय के लिए ही पैदा होता था* और उसका रहन-सहन पुरानी परम्पराओं के अनुसार चलता था। वाणिज्य के विकास और इसके परिणामस्वरूप श्रम की गतिशीलता और अर्थ-व्यवस्था की विविधता के कारण व्यक्ति के सामने अपनी पसन्द का प्रयोग करने के अवसर बहुत अधिक बढ़ गए। अब उपभोक्ता तथा उत्पादक के रूप में अनेक प्रकार की वस्तुओं तथा व्यवसायों में से अपनी पसंद की वस्तु तथा व्यवसाय चुनने की स्वतंत्रता हो गई। पसंद में तुलना करके निर्णय करने की आवश्यकता निहित थी। चूंकि अर्थ-

व्यवस्था मे मुद्रा का चलन अत्यधिक बढ गया इसलिए आर्थिक निर्णयो के हिसाब-किताब का तत्व और स्पष्ट रूप से आ गया। पूंजीवादी उद्यम का लक्ष्य मुनाफा था। परतु इसमे ससाधनो के उपयोग के बारे मे एक युक्तिसगत हिसाब लगाने की वृत्ति निहित थी। सोम्बर्ट ने आर्थिक जीवन को युक्तिसगत बनाने मे दोहरी खतान पद्धति के महत्व पर जोर दिया जो पूंजीवादी उद्यम की एक आवश्यक बात है। इस प्रकार का बही खाता रखने के परिणामस्वरूप, मुनाफा कमाने के लिए अर्थात् 'व्यापार' मे लगाया जाने वाला धन और दैनिक जीवन के लिए खर्च किया जाने वाला धन अलग-अलग हो गए। यद्यपि पारिवारिक जीवन एक लबे अरसे से पुरानी परम्पराओ के अनुसार चलता रहा था तथापि 'व्यापार' एक स्वायत्त कार्यकलाप बन गया जो पूर्णतया हानि लाभ के हिसाब-किताब के आधार पर चलता था।

समझदार उपभोक्ता 'उपभोक्ता अधिशेष' को ओर समझदार उत्पादक मुनाफे को बढाने का प्रयत्न करता है। परतु उपभोक्ता वस्तुओ का तुरन्त उपभोग कर लिया जाता है जबकि निवेश से मुनाफा प्राप्त होने मे समय लगता है। निवेश का सवर्धन करने में पूंजीवाद ने वर्तमान आर्थिक गतिविधि के अपेक्षाकृत दूरस्थ प्रभाव पर भी गौर करने की आदत को बढावा दिया। मार्क्स ने सचयन को पूंजीवादी प्रक्रिया का एक आवश्यक लक्षण ठीक ही माना था। कुछ नीतिज्ञो के विचार मे इसमें धनलिप्सा के अलावा कुछ भी नही है। परतु इस पर एक और दृष्टिकोण से विचार करना भी सम्भव है। इग्लैंड में औद्योगिक क्राति की प्रारम्भिक अवस्था के विषय में लिखते हुए जान रे ने इस बात का विवेचन किया कि 'सचयन की जोरदार इच्छा' और दूरदर्शिता का विकास किस प्रकार परस्पर सम्बन्धित है। आर्थिक रूप से पिछडे हुए समाजो में लोग उस प्रकार के निवेश की ओर आकृष्ट होते हैं, जिससे जल्दी से आय प्राप्त होने की आशा हो। अधिक विकसित समाजो में देर से लाभ देने वाले उत्पादक निवेश भी आसानी से हो जाते हैं। पारम्परिक समाज के विकसित होकर औद्योगिक पूंजीवाद की स्थिति में पहुचने मे निवेशकों के समुदाय की समय के विषय में दृष्टि विस्तृत हो जाती है। वे लबे अरसे को ध्यान में रखने लगते हैं।

इतिहास को देखने से पता चलता है कि पूंजीवाद ने मनुष्य में व्यावहारिक समझदारी का विस्तार करने में महत्वपूर्ण योगदान किया है। परतु इसकी भी गम्भीर परिसीमाए है। इनमें से कुछ पर पहले ध्यान दिया जा चुका है। यदि पूंजीवादी लाभ तथा हानि का हिसाब लगाता है, तो वह यह हिसाब अपने निजी दृष्टिकोण से लगाता है, न कि समूचे समाज को सामने रखकर। जिन मामलो में किसी आर्थिक गतिविधि की निजी लागत सामाजिक लागत से बहुत भिन्न हो, उनमें किसी एक उत्पादक को युक्तिसगत प्रतीत होने वाला निर्णय समाज की दृष्टि से युक्तिसगत नहीं हो सकता। इसके अलावा, यद्यपि आधुनिक औद्योगिक समाज में प्रबुद्ध निवेशकर्ता पुरानी अर्थ-व्यवस्था के उत्पादक की अपेक्षा बहुत आगे की सोचेगा, तथापि समझदार समाज

को सम्भवतः और भी अधिक दूरदर्शी होने की आवश्यकता होगी, क्योंकि उसका जीवनकाल किसी व्यक्ति की अपेक्षा अधिक लंबा होता है। धन को कल्याण का साधन समझना पूंजीवादी भावना का एक अंग है। अच्छा क्या है, इसके विषय में स्वस्थ समाज का दृष्टिकोण बहुत विस्तृत होना चाहिए। परन्तु यह इस समस्या का एक पहलू है, जिसे हमें एक ओर छोड़ देना होगा।

गैर-सरकारी उद्यम की इन तथा अन्य परिसीमाओं के कुछ और उपचार भी सम्भव हैं। पूंजीवाद का ऐतिहासिक आकलन करते हुए एक बात को सदैव ध्यान में रखना चाहिए। सैद्धान्तिक कल्पनाओं से भिन्न वास्तविक पूंजीवाद का सदैव यह मतलब रहा है कि गैर-सरकारी उद्यमों के साथ-साथ अनेक इतर उद्यम होते हैं, जिनमें कुछ सरकारी तथा कुछ अन्य प्रकार के होते हैं। इनमें कई तो ऐसे उद्यम होते हैं जिनको पूंजीपति ही सहारा देते हैं। उदाहरण के लिए, जब हम किसी पूंजीवादी समाज में शिक्षा की वास्तविक व्यवस्था के बारे में कोई राय कायम करना चाहें तो हमें गैर-सरकारी उद्यमों के उद्देश्यों तथा संतुलन पत्रों को नहीं देखना होगा, बल्कि इस विषय में सरकार समेत अनेक लोक-निकायों तथा लोक-संस्थाओं के माध्यम से समाज जो कुछ देता है, उसे भी ध्यान में रखना होगा।

अगर पूंजीवादी अर्थ-व्यवस्था पर अलग से विचार किया जाए तो उससे न तो पूंजीवादी अर्थ-व्यवस्था में संशोधनों के आवटन और उसकी स्थिरता अस्थिरता का कुछ पता चलता है और न इस प्रकार के समाज में सामाजिक कल्याण के परिमाण का ही पता चलता है।

सामाजिक दृष्टिकोण से देखा जाए तो गैर-सरकारी उद्यमों द्वारा किए गए निर्णय पूर्णतः युक्तिसंगत नहीं होते, कुछ मामलों में तो ये विकृत भी होते हैं। इस बात को, वास्तव में, सभी समकालीन समाजों में स्वीकार किया जाता है। कुछ अर्थ-व्यवस्थाओं में गैर-सरकारी उद्यमों को निवेश सम्बन्धी निर्णय करने में प्रमुख भूमिका निभाने दी जाती है, *परन्तु सरकार आर्थिक तथा वित्तीय उपायों के माध्यम से कहीं* पर प्रोत्साहन की व्यवस्था करके तथा कहीं प्रतिबंध लगाकर और जहां आवश्यक हो लोक-निर्माण कार्यों में अनुपूरक निवेश करके गैर सरकारी उद्यमों के निवेशों को प्रभावित करती है। कुछ अन्य समाजों में गैर-सरकारी उद्यम का स्थान केन्द्रीय आयोजना ने ले लिया है। योजना का अभिप्राय समूची अर्थ व्यवस्था के लिए पूर्णतः युक्तिसंगत लक्ष्य और निवेश सम्बन्धी निर्णय प्रस्तुत करना होता है। सारी अर्थ-व्यवस्था के केन्द्रीय योजना के अनुसार चलने का विचार तर्कशील बुद्धि को तुरन्त ठीक लगता है। परन्तु इस प्रणाली का यथार्थ आकलन करने के लिए हमें इस विषय पर अधिक मूर्त रूप से विचार करना होगा।

हम सोवियत संघ में स्टालिन के युग में अपनायी गई केन्द्रीय आयोजना की तकनीक पर विचार करें। 1928 में पहली पंचवर्षीय योजना शुरू होने से बहुत पहले

अधिकांश उद्योग सरकारी स्वामित्व में आ गए थे। नियोजित विकास की अवधि में सभी प्रमुख उद्योगों को लोक-सेवा विभाग या 'पीपुल्स कमिस्सारेट' नाम के समुचित मंत्रालयों के अधीन रख दिया गया था। इन विभिन्न लोक-सेवा विभागों ने कम्युनिस्ट पार्टी तथा सोवियत संघ की सरकार द्वारा निर्धारित सामान्य नीति विषयक उद्देश्यों तथा प्रमुख लक्ष्यों के अनुरूप अपने-अपने उद्यमों के लिए योजनाएं तैयार की थीं। परंतु, चूंकि विभिन्न लोक-सेवा विभागों द्वारा बनाई गई योजनाएं एक-दूसरे से मेल नहीं खाती थीं, इसलिए उन्हें एक-दूसरे के अनुरूप बनाने के लिए एक केन्द्रीय निकाय बनाना पड़ा। यह काम राज्य योजना आयोग का था जो 'गोसप्लान' के नाम से जाना जाता है। 'गोसप्लान' द्वारा प्रयोग में लाई गई रीति 'आर्थिक संतुलन की रीति' कहलाती है। यह 'आर्थिक संतुलन की रीति' इसलिए कहलाती है, क्योंकि यह प्रत्येक उत्पाद के लिए कुल पूर्ति तथा मांग का आर्थिक रूप से संतुलन करती है। किसी उत्पाद के सामान्यतः अनेक नियोजित उपयोग हो सकते हैं, उदाहरण के लिए, कई उद्योगों में इसकी कच्चे माल के रूप में आवश्यकता हो सकती है। आर्थिक संतुलन का सम्बन्ध किसी उत्पाद के उसके विभिन्न उपयोगों के अनुसार वितरण तथा इसकी कुल पूर्ति तथा कुल मांग के बीच संतुलन से होता है। विभिन्न उत्पादों के लिए जितनी मांग होती है, यदि उसके अनुसार उनकी पूर्ति हो जाए तो योजना भीतर से मजबूत होती है। इस प्रकार अन्तिम रूप से जो योजना बनकर सामने आती, उसे सोवियत संघ की कम्युनिस्ट पार्टी द्वारा स्वीकृत आर्थिक उद्देश्यों की मजबूत योजना कहा जा सकता था।

निस्सदेह, योजना बनाने की वास्तविक प्रक्रिया इतनी सरल नहीं थी जितनी कि ऊपर बताई गई है। सबसे पहले, गोसप्लान, प्रारम्भिक समस्त लक्ष्य, जिन्हें नियंत्रण आंकड़े कहा जाता था, तैयार करता था। ये आधारभूत उद्यमों के पास भेज दिए जाते थे जो उस कच्चे माल की एक सूची बनाकर भेजते थे जिनकी, इन उद्यमों की राय में, उत्पादन के प्रस्तावित लक्ष्यों की पूर्ति के लिए आवश्यकता होती थी। इस स्थान पर पहुंच कर आधारभूत उद्यमों तथा उच्च योजना प्राधिकारियों के बीच रस्साकशी शुरू हो जाती थी। आधारभूत उद्यम कच्चे माल सम्बन्धी आवश्यकताओं को बढ़ा-चढ़ाकर पेश करते थे और योजना प्राधिकारी इन आवश्यकताओं को कम करने के लिए उन पर दबाव डालते थे। यदि यह देखा जाता था, जैसाकि अक्सर होता था, कि उद्यमों द्वारा किसी उत्पाद विशेष के लिए की जाने वाली मांग योजना में निर्धारित पूर्ति से अधिक है, तो जिस उत्पाद की कमी होती थी उसके उत्पादकों से कहा जाता था कि वे अपने उत्पादन में वृद्धि करें और इसके लिए उन्हें कोई अतिरिक्त कच्चा माल नहीं दिया जाता था, और/या जिस उत्पाद की कमी होती थी, उसके उपभोक्ताओं से कह दिया जाता था कि उन्हें वह वस्तु कम मात्रा में दी जाएगी, परंतु वे उतनी ही मात्रा में उत्पादन करें जितनी कि

पहले योजना में निर्धारित की गई थी।[1]

योजना को चालू करने योग्य बनाने से पहले कुल लक्ष्यों को ही शामिल नहीं किया जाता था, वरन् हर उद्यम की हर महत्वपूर्ण वस्तु के उत्पादन के लक्ष्यों का विवरण तैयार किया जाता था। और उत्पादन के इन लक्ष्यों को, प्रत्येक उत्पादित वस्तु, उद्यम और समय सीमा को ध्यान में रखते हुए उत्पादित वस्तुओं की सुपुर्दगी की योजनाओं के अनुरूप बनाना पड़ता था। कालान्तर में यह केन्द्रीय प्रशासन बोझिल तथा निरर्थक सिद्ध हुआ। अर्थ-व्यवस्था का विकास होने पर संसाधनों के केन्द्रीकृत आवंटन से बहुत-सी कठिनाइयां उत्पन्न हो गईं और वे अधिक से अधिक जटिल तथा नानाविध होती गईं। जिस प्रणाली का हम यहां वर्णन कर रहे हैं उसके अन्तर्गत 'मंत्रालय' उन उद्यमों को, जो उनके अधीन थे, सामग्री सप्लाई करने के लिए जिम्मेदार थे और इस प्रयोजन के लिए प्रत्येक 'मंत्रालय' का एक मुख्य पूर्ति विभाग होता था। इस प्रणाली का एक प्रभाव यह हुआ कि विभिन्न उद्योगों के बीच सीधे सम्पर्क समाप्त हो गए। उदाहरण के लिए, उक्रेन में कोयले का उत्पादन करने वाला उसी क्षेत्र में इस्पात का उत्पादन करने वाले से सीधे लेन-देन नहीं कर सकता था, बल्कि उसे मास्को में अपने 'मंत्रालय' के माध्यम से अपना साज सामान खरीदना और अपना कोयला बेचना पड़ता था। 1957 में इस प्रणाली में परिवर्तन किया गया। उस वर्ष उद्योगों के प्रबंध संचालन का काम क्षेत्रीय आर्थिक परिषदों को जिन्हें 'सोवनारखोजू' कहा जाता था, सौंप दिया गया। क्षेत्रीय आर्थिक परिषदों की नियुक्ति गणराज्यों के मंत्रिमंडलों द्वारा की जाती थी और वे उनके प्रति ही उत्तरदायी होती थी। संघ स्तर पर गोसप्लान सामान्य आयोजना करता और यह सुनिश्चित करता था कि एक गणराज्य में उत्पादित वस्तुएं दूसरे गणराज्य को आवश्यकतानुसार उपलब्ध हों। परंतु 1957 के सुधार में भी परिवर्तन करना पड़ा और अन्ततः 1960 के बाद वाले दशक में इसे समाप्त कर दिया गया। इससे सोवियत संघ की आर्थिक बुराइयों का उपचार न हो सका। जैसा कि एलेक नोवे ने बताया है इसका कारण यह था कि, 'इस प्रणाली में इस अर्थ में कोई तात्विक परिवर्तन नहीं किया गया था कि कार्य के संचालन का एक मात्र प्रभावी मापदण्ड योजना थी मंत्रालयों की समाप्ति से निर्देशन की शृंखला में से एक महत्वपूर्ण कड़ी टूट गई।'[2]

बहुत वर्ष पहले सोवियत आर्थिक प्रणाली के समर्थक, एक लेखक ने इस प्रणाली की उपयोगिता तथा कमजोरी के बारे में अपने विचार बहुत ही स्पष्ट शब्दों में इस प्रकार व्यक्त किए

1 देखिए, 'इनपुट आउटपुट एनालिसिस इन सोवियत प्लानिंग', हर्बर्ट लेवाइन, 'अमरीकन इकनामिक रिव्यू', मई, 1962

2 एलेक नोव, 'एन इकनामिक हिस्ट्री आफ द यू० एस० एस० आर०', एलन लेन, पेंगुइन प्रेस, लंदन, 1969, पृ० 358

> उद्योग के क्षेत्र मे रूस की बहुत बडी उपलब्धिया, निर्विवाद रूप से, देश मे उपलब्ध सामग्री और श्रम ससाधनो के नियोजित उपयोग और इसकी उत्पादक गतिविधियो की आयोजना के लाभो का पक्का सबूत प्रस्तुत करती हैं। फिर भी नियोजित अर्थ व्यवस्था मे निर्माण तथा उत्पादन की किस्म या उसके गुणो मे सुधार करने मे बहुत सी कठिनाइया आई, यद्यपि ये बाधाए अस्थायी कठिनाइया के कारण नही थी, बल्कि रूस के अनुभव से पता चलता है कि ये कठिनाइया स्थायी हैं तथा इनकी पैठ गहरी है। प्रतियोगी व्यवस्था मे वस्तु की किस्म म सुधार करने के लिए उत्पादक को दिलचस्पी होती है कि वह अपने उत्पादन की किस्म मे सुधार कर, परतु सरकारी व्यवस्था मे समस्या यह थी कि उत्पादन की किस्म पर नियन्त्रण करने के लिए क्या तकनीकी साधन जुटाए जाए।[1]

चूकि सोवियत सघ म मूल्य विभिन्न उपादानो तथा वस्तुओ की कमी को परिलक्षित नही करते, इसलिए वे सोवियत औद्योगिक उद्यमो मे लाभ बढाने के लिए अपूर्ण आधार सिद्ध नही हो सकते। इन परिस्थितिया म योजनाकार किसी फर्म या उद्योग के काम का आकलन इस आधार पर करने का प्रयत्न करते हैं कि उस उद्योग के लिए जो उत्पादन के लक्ष्य निर्धारित किए थे उन्हे कहा तक पूरा किया गया है। परतु परिणाम क रूप मे विनिर्दिष्ट ये लक्ष्य हमशा अधूरे होते हैं। उदाहरण के लिए जब सोवियत योजनाकारो ने कपड के उत्पादन के लक्ष्य लबाई मे मीटरो के हिसाब से निर्धारित किए तब उत्पादको ने कम अर्ज का कपडा बनाना शुरू कर दिया। जब इस स्थिति से बचने के लिए लक्ष्यो का विनिर्देश वग मीटरो मे कर दिया गया तब भी उत्पादक घटिया किस्म का कपडा बनाकर बेईमानी करते रहे। आशय यह है कि जितनी अधिक शर्तें निर्धारित की जाती हैं उतना ही यह जाच रखना मुश्किल हो जाता है कि इन आवश्यकताओ की पूर्ति की गई ह या नही।

इस प्रकार यह सोचना वास्तविकता से बहुत दूर की बात है कि केन्द्र नियोजित अर्थ व्यवस्था मे एक युक्तिसगत योजना होती है और इस योजना का निष्पादन उन उद्यमो के माध्यम से होता है जिनका अपना कोई स्वार्थ नही होता, बल्कि वे योजना को उस भावना से पूरा करते है जिस भावना को लेकर केन्द्रीय योजनाकारो ने इसे बनाया होता है। योजना नीचे की उत्पादक इकाइयो द्वारा दी गई सूचना पर आधारित होती है, जिनकी प्रवृत्ति अपनी आवश्यकताओ को बढा चढाकर और अपनी क्षमता को घटाकर बताने की होती है, ताकि उन्हे ऐसे लक्ष्य सौपे जाए, जिनसे वे अधिक उत्पादन कर सकें और उसके बाद उच्च प्राधिकारी उन लक्ष्यो मे जैसा ठीक

1 ए० बकोव द डवलपमेंट आफ द सोवियत इकनामिक सिस्टम कम्ब्रिज विश्वविद्यालय प्रस, 1948 प 303 304

समझे, वैसा संशोधन कर ले। योजना के निष्पादन के दौरान इसका रूप और भी बदल जाता है। कल्पना तथा व्यवहार दोनों ही दृष्टियों से इसमे प्रशासनिक संकट होना अनिवार्य है। यदि बाजार अर्थ-व्यवस्था एक प्रकार की विकृतियां उत्पन्न करती है तो केन्द्र नियोजित अर्थ-व्यवस्था दूसरे प्रकार की विकृतियां उत्पन्न करती है। इसका अर्थ यह नही कि वास्तविक व्यवहार मे दोनों प्रणालियां एक ही है। केन्द्र-नियोजित अर्थ-व्यवस्था के पक्ष मे कुछ बातें हैं, जो विकास की शुरू की अवस्थाओं मे महत्वपूर्ण हो सकती है। तानाशाही व्यवस्था मे तो खास तौर से ऐसा होता है। कई बार तानाशाही शासन उपभोग पर प्रतिबन्ध लगाने और अधिक मात्रा मे निवेश करने के लिए समाधन जुटाने मे अधिक समर्थ होता है। इस व्यवस्था मे ससाधनों को बड़ी मात्रा मे कुछ चुने हुए क्षेत्रों मे लगाने मे सुविधा होती है। स्टालिन ने भारी उद्योगों को उच्च प्राथमिकता दी और कृषि, आवास और उपभोक्ता वस्तु उद्योगों जैसे अन्य क्षेत्रों को भूल चूक के परिणामों को सहन करने के लिए छोड दिया।

सोवियत सघ के मामले का ऐतिहासिक महत्व होने के कारण हमने इस पर विशेष ध्यान दिया है। परतु सभी साम्यवादी देशों ने इसी मार्ग का अनुसरण नहीं किया है। उदाहरण के लिए, युगोस्लाविया ने अपने लिए विकास का एक स्वतंत्र मार्ग निकाला है। इस देश मे काफी अरसे तक आर्थिक पिछड़ेपन की समस्याएं थी जिनमे क्षेत्रीय विषमताएं और ग्रामीण अपूर्ण रोजगार की समस्याएं भी सम्मिलित थी। दूसरे महायुद्ध के पश्चात् इसने सोवियत सघ की केन्द्रीय आयोजना प्रणाली का थोड़ा-सा प्रयोग किया। इसके विरुद्ध प्रभावी प्रतिक्रिया 1951–52 के आसपास हुई। 1952 मे, बाजार के सिद्धान्त पर आधारित नयी आर्थिक प्रणाली शुरू की गई। समय के साथ-साथ यह प्रणाली भी परिवर्तित हो गई है। उदाहरण के लिए, जिस तरीके से मूल्य निर्धारित किए जाते थे या निवेश के लिए धन आवंटित किए जाते थे, वह तरीका 1964 के पहले और 1964 के बाद एक ही नहीं था। केन्द्रीकृत अथवा एक ही स्थान पर केन्द्रित, आयोजना की प्रणाली के समाप्त हो जाने पर युगोस्लाविया मे तीन स्तरीय प्रणाली लागू हो गई, जिसके अन्तर्गत सघीय सरकार, गणराज्यों और कम्यूनो को अपने-अपने क्षेत्र मे योजना बनाने की शक्तियां तथा जिम्मेदारियां प्राप्त हो गई। 1963 मे वहा पर 581 कम्यून थे। इस तरह एक कम्यून का औसत क्षेत्र लगभग 170 वर्ग मील बैठता था। इसकी स्थिति गांव, जो आयोजना की प्रभावी इकाई का काम देने के लिए बहुत छोटा होता है, और उससे ऊपर जिले के बीच की हो गई। कम्यून स्थानीय स्वायत्त शासन के अंग ही नही होते बल्कि वे अपनी आर्थिक योजनाओं के निर्माण के सम्बन्ध मे स्वतंत्र और अपने क्षेत्रों मे नये उत्पादक उद्यम स्थापित करने के लिए जिम्मेदार भी होते हैं।

उत्पादन के साधनों के स्वामित्व की अवधारणा मे भी 1950 के बाद वाले दशक मे परिवर्तन हो गया। सरकारी स्वामित्व के बारे मे जिसके अन्तर्गत उत्पादक

उद्यमों पर केन्द्रीकृत तथा दफ्तरशाही नियन्त्रण होता था, यह समझा जाने लगा कि यह अन्तिम लक्ष्य नहीं है बल्कि समाजवाद की केवल निम्नतर अवस्था है। सामाजिक स्वामित्व और सरकारी स्वामित्व में भेद किया गया। इस प्रकार 'कर्मकार परिषद्' को किसी उद्यम के सम्बन्ध में कुछ अधिकार प्राप्त है, परन्तु कम्यून और अन्य उच्च निकायों को भी कुछ अधिकार प्राप्त हैं।[1] औद्योगिक उद्यमों के सामाजिक स्वामित्व को अधिकारों के इस सन्तुलन द्वारा व्यक्त किया जाता है, जिससे पूर्ण स्वामित्व का विचार अनावश्यक बन जाता है।[2]

कृषि के क्षेत्र में युगोस्लाविया ने आरम्भ में सोवियत संघ की सामूहिक खेती को अपनाया, परंतु शीघ्र ही इसे छोड़ दिया गया। पारिवारिक खेती आम हो गई, परन्तु किसानों के स्वामित्व के अधिकार, कम्यूनों को प्राप्त कुछ ऊंचे अधिकार के कारण सीमित बन गए थे। उदाहरण के लिए, कम्यून उन निजी स्वामियों से अनिवार्य रूप से भूमि अर्जित कर सकते थे, जो अपनी भूमि का पूरा पूरा तथा उचित उपयोग करने के लिए आधुनिक कृषि तकनीकों का प्रयोग नहीं करते थे।[3]

सरकार ने समूची अर्थ-व्यवस्था के निवेश की दर का निर्णय किया और यह निर्णय भी किया कि उसमें से राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था के प्रमुख क्षेत्रों या शाखाओं में मोटे तौर पर किस अनुपात में निवेश किया जाएगा। यद्यपि विभिन्न शाखाओं के लिए आवंटन का निर्धारण संघीय योजना द्वारा किया जाता था, तथापि विभिन्न उद्यमों में धन का वितरण प्रतियोगिता के आधार पर किया जाता था। निवेश बैंक समय-समय पर घोषणा करते थे कि उनके पास निर्दिष्ट उद्योगों तथा विभिन्न प्रकार की परियोजनाओं के लिए कितना ऋण उपलब्ध है और वे यह पूछते थे कि किस-किस को कितने धन की आवश्यकता है। इसके बाद जिन कारखानों, परिषदों, कम्यूनों और जिला परिषदों को ऋण की जरूरत होती, वे इन बैंकों को अपने प्रार्थना-पत्र

---

1. कर्मकार एक कर्मकार परिषद चुनते थे और कर्मकार परिषद् एक प्रबंध बोर्ड चुनती थी। परिषद् आधारभूत निर्णय करती थी जो, यूं कहिए, एक ऐसा ढांचा प्रस्तुत करती थी, जिसके अन्तर्गत प्रबंध बोर्ड से कार्य करने की आशा की जाती थी। परंतु उद्यम का एक निदेशक भी होता था, जो स्थानीय समुदाय का प्रतिनिधित्व करता था। इस प्रकार उसके अधिकार' का स्रोत उद्यम से बाहर स्थित था। निदेशक से यह आशा की जाती थी कि वह कर्मकार परिषद् के सामंजस्य से उत्पादन की व्यवस्था करे। अतः, वास्तव में इसमें एक जटिल संतुलन था।

2 तुलना कीजिए 'स्वप्रबंध उत्पादन के साधनों को एक नये प्रकार के 'स्वामित्व' में परिवर्तित कर देता है, जो न तो किसी वर्ग को और न ही सरकार को स्वामित्व के अधिकार देता है। इस तरह उद्यम समूचे समाज की सम्पत्ति बन जाते हैं। जहां तक इन उद्यमों का सम्बन्ध है, सरकार या सामाजिक निकायों को केवल वही अधिकार प्राप्त होते हैं, जो उन्हें कानून तथा योजना द्वारा दिए गए होते हैं। (बी० कोलद्रोजा, भारत में युगोस्लाविया के राजदूत 'पब्लिक सैक्टर इन युगोस्लाविया', 'ए० आई० सी० सी० इकनामिक रिव्यू', नई दिल्ली, 15 जनवरी, 1958)

3. कम्यूनों को यह शक्ति 1959 के कृषि भूमि उपयोग कानून से प्राप्त हुई थी।

भेजते थे, जिनके साथ उनकी परियोजनाओं का ब्योरा होता था। बैंक इन प्रार्थना-पत्रों की जांच तथा उनका आकलन करने के पश्चात् उपयुक्त उद्यमकर्ताओं को ऋण देते थे।

तथापि, उद्यमों की अपनी निजी बचत भी होती है और स्थानीय निकायों के अपने स्रोत होते हैं। कालान्तर में वित्त प्रबंध के इन स्रोतों का महत्व बढ़ गया और केन्द्रीय सरकार तथा राष्ट्रीय बैंकों से मिलने वाली धनराशि के अनुपात में कमी हो गई। इस प्रकार विकेन्द्रीकरण की ओर लगातार झुकाव बढ़ता गया। आरम्भ में, बहुत-सी वस्तुओं का अधिकतम मूल्य निर्धारित कर दिया गया और बहुत-सी आवश्यक वस्तुओं तथा सेवाओं के मूल्य नियत कर दिए गए। परन्तु धीरे-धीरे मुक्त बाजार अर्थ-व्यवस्था का विस्तार बढ़ता गया।

यदि आर्थिक विकास की दर में उत्तरवर्ती वृद्धि निर्णय के लिए कोई आधार प्रस्तुत करती हो तो 1950 के बाद वाली दशाब्दी में किए गए सुधारों से बहुत बड़ी मात्रा में रचनात्मक शक्ति प्राप्त हुई होगी जो आर्थिक आयोजना तथा प्रशासन की अतिकेन्द्रित प्रणाली के कारण अब तक प्राप्त नहीं हो रही थी। सुधारों से पहले कृषि में गतिरोध बना हुआ था, उदाहरण के लिए, गेहूं का उत्पादन युद्ध-पूर्व के स्तर से नीचे था। इससे अगली दशाब्दी में इसके उत्पादन में अभूतपूर्व वृद्धि हो गई। 1947–56 की तुलना में 1957–66 में यह उत्पादन दुगुना हो गया। राष्ट्रीय आय की कुल वृद्धि की दर में भी अत्यधिक वृद्धि हो गई और युगोस्लाविया ने संसार की बहुत तेजी से आगे बढ़ रही अर्थ-व्यवस्था में अपना स्थान बना लिया। इसके साथ ही उद्योगों के उत्तरोत्तर प्रसार से—जिसमें कम्यूनों ने उल्लेखनीय योगदान किया—ग्रामीण बेरोजगारी कम होती गई।

आर्थिक विकास के लिए युगोस्लाविया की युक्ति से यह बात सामने आई कि बहुस्तरीय आयोजना और उपक्रम का विकेन्द्रीकरण कहां तक इन तरीकों से विकास में प्रोत्साहन और पूंजी-निर्माण में बढ़ावा दे सकते हैं, जो रूढ़िवादी केन्द्रीय आयोजनाकार की नजर से छूट जाते हैं। परन्तु बहुत-सी समस्याएं अब भी ऐसी थीं जिनका कोई हल नहीं निकल पाया था। ऐसी ही एक समस्या क्षेत्रीय आर्थिक विषमताओं की थी। यद्यपि युगोस्लाविया के पिछड़े क्षेत्रों ने कुछ प्रगति की तथापि उन्नत क्षेत्र और भी तेजी से आगे बढ़ गए। इस तरह देश के अमीर तथा गरीब हिस्सों के बीच अन्तर और भी अधिक हो गया। उपक्रमों का विकेन्द्रीकरण आवश्यक हो सकता है, परन्तु यह काफी नहीं होता। गरीब क्षेत्रों के पास विकास के लिए धन जुटाने के लिए साधन कम होते हैं। युगोस्लाविया में बाजार-व्यवस्था इस प्रकार की है जो इन क्षेत्रों के प्रतिकूल बैठती है। अतीत काल से चली आ रही आर्थिक विषमताओं पर काबू पाने के लिए केन्द्रीय सरकार की ओर से और अधिक पैमाने पर तथा और अधिक यथार्थ रूप में कार्य किए जाने की आवश्यकता थी।

पारम्परिक शब्दावली मे युगोस्लाविया एक 'साम्यवादी' देश है और फ्रास एक 'पूजीवादी' देश । उदाहरण के लिए, दोनो देशो के बीच उद्योगो मे उत्पादन के सम्बन्धो तथा उत्पादन के साधनो के स्वामित्व के रूपो के सम्बन्ध मे बहुत ज्यादा अन्तर है। परन्तु उनकी *आयोजना प्रणालियो मे काफी समानता भी है।* 'आज्ञात्मक' आयोजना या समादेश द्वारा आयोजना और 'सकेतक' आयोजना के बीच भेद किया गया है। समादेश अर्थ-व्यवस्था मे अलग-अलग फर्मों के प्रबधक सरकार द्वारा नियुक्त किए जाते है, और किस वस्तु का तथा कैसे उत्पादन करना चाहिए इस सम्बन्ध मे उन्हे विस्तृत अनुदेश मिलते रहते है, जिनका उन्हे पालन करना होता है। स्तालिन की अर्थ-व्यवस्था इसी प्रकार की है। 'सकेतक' आयोजना के अन्तर्गत केन्द्रीय प्राधिकरण की मुख्य दिलचस्पी समस्त निवेश तथा वृद्धि-दर मे और कुल निवेश को अर्थ-व्यवस्था की प्रमुख शाखाओ मे विभाजित करने मे होती है। युगोस्लाविया तथा फ्रास की योजनाए इसी प्रकार की हैं।

फ्रास मे सामान्य योजना आयोग की स्थापना 1946 मे की गई थी। यहा हमारी दिलचस्पी इसके सगठन के विवरण को जानने मे नही है, हमारी दिलचस्पी तो आयोजना के बारे मे फ्रासीसी अवधारणा को जानने मे है। फ्रासीसी योजना म अलग-अलग फर्मो द्वारा निर्धारित विस्तृत लक्ष्यो तथा उत्पादो का कोई विवरण नही होता। वास्तव मे फ्रासीसी योजनाकार इस प्रकार के विस्तृत निदेशों के विरुद्ध है। दूसरी ओर, योजना की दिलचस्पी कुछ 'आधारभूत निवेशो' मे और अर्थ-व्यवस्था की प्रमुख शाखाओ के बीच सतुलन कायम करने मे है और अब क्षेत्रीय सतुलन मे अधिक से अधिक होती जा रही है। 29 मई, 1962 को नेशनल एसेम्बली मे एक भाषण मे कमिस्सार जनरल ने कहा '

> यदि इस्पात तथा विद्युत् जैसे आधारभूत निवेशो के सम्बन्ध मे योजना मे सही-सही लक्ष्यो की प्राप्ति जरूरी है तो नानाविध उपभोक्ता वस्तुओ के बारे मे जितनी अधिक निकटता से गौर किया जाता है, स्थिति बिल्कुल भिन्न होती जाती है। जितनी अधिक विस्तृत कोई योजना होगी उतना ही अधिक उसके विफल होने का डर होगा।

प्रमाणस्वरूप, उसने आगे चलकर 'ले मो' मे एक लेखक को उद्धृत किया 'योजना को निष्पादित करने वालो को विस्तृत आदेश देकर उन पर नियामक नियत्रण लगाना आर्थिक उत्पादिता के प्रतिकूल है।'[1]

योजना का प्रारूप तैयार करते समय समाज के विभिन्न वर्गों जैसे सेवा नियोजको तथा कर्मचारियों और समाज विज्ञानियो और प्रविधिज्ञो के विचारो को ध्यान

1 यह भाषण जान तथा एन मारी हैकेट की पुस्तक 'इकनामिक प्लानिंग इन फ्रास' के परिशिष्ट में उद्धृत किया गया है। जार्ज एलन एण्ड अनविन, लदन, 1963

मे रखा जाता है। लोकतांत्रिक रूप से योजना पर स्वीकृति प्राप्त करने के लिए योजना पर प्रभावकारी ढग से चर्चा की विशेष व्यवस्था होती है। उदाहरण के लिए, योजना को प्रारम्भिक अवस्था मे आर्थिक तथा सामाजिक परिषद् के समक्ष रखा जाता है, और अन्तिम अवस्था म नेशनल एसेम्बली के सामने पेश किया जाता है। पाचवें गणतन्त्र (अक्तूबर, 1958) के अन्तर्गत मेट्रोपोलिटन फ्रास की आर्थिक तथा सामाजिक परिषद् मे 175 सदस्य हो गए थे जिनमे औद्योगिक कर्मकारो तथा सेवा-नियोजको, कृषि और अनेक अन्य व्यवसायो के प्रतिनिधि, और वैज्ञानिक तथा सास्कृतिक क्षेत्रो मे विशेष योग्यता रखने वाले सरकार द्वारा नियुक्त पन्द्रह सदस्य सम्मिलित थे।

फ्रासीसी योजना ने उत्तरोत्तर क्षेत्रीय रूप धारण कर लिया है। फ्रास मे उत्तर तथा उत्तर पूर्व क्षेत्रो, जो अधिक विकसित है, और दक्षिण तथा दक्षिण-पश्चिम क्षेत्रो, जो अपेक्षाकृत पिछडे हुए है, क बीच आर्थिक विकास के सम्बन्ध मे उल्लेखनीय विषमताए पाई जाती हैं। इस सम्बन्ध मे फ्रास तथा इग्लैड की क्षेत्रीय समस्या के स्वरूप में जो अन्तर है उस पर ध्यान दिया जाए तो फ्रास का अनुभव विकासशील देशो के लिए अधिक सगत तथा और अधिक दिलचस्पी का विषय हो जाता है। इग्लैड मे दलित क्षेत्रो की समस्या का कारण यह है कि वहा पर उद्योग कम हो गए है जिनको किसी समय बहुत महत्व प्राप्त था। फ्रास मे कुछ गरीब क्षेत्र इसलिए गरीब हैं क्योकि वहा पर कभी भी पर्याप्त सख्या मे उद्योग स्थापित नही किए गए।

फ्रास की क्षेत्रीय विषमताओ से एक ऐसी बेरोजगारी पैदा हुई है, जिसका कुल राष्ट्रीय रोजगार तथा इसमे समय समय पर होने वाली घटा बढी के रूप मे वर्णन नही किया जा सकता और इसलिए, केवल कुल राष्ट्रीय निवेश मे हेर-फेर करके इसका उपचार नहीं किया जा सकता। चौथी योजना (1962–65) के समय जो अनुमान लगाए गए थे, उनके आधार पर आशा थी कि पेरिस क्षेत्र मे जनशक्ति की कमी होगी और पश्चिम तथा दक्षिण के अन्य क्षेत्रो मे जनशक्ति आवश्यकता से अधिक होगी। इसलिए, चौथी योजना का एक मुख्य उद्देश्य यह भी था कि 'राष्ट्रीय योजना के विस्तार क्षेत्र मे रहते हुए एक समुचित क्षेत्रीय नीति तैयार की जाए।' विकास कार्यक्रम तैयार करते समय आशय यह था कि क्षेत्रीय तौर पर रोजगार पैदा करने वाली बातो पर विशेष ध्यान दिया जाए। आयोजना के काम का भी विकेन्द्रीकरण कर दिया गया। क्षेत्रीय विकास योजनाओ की तैयारी के सम्बन्ध मे परामर्श देने के लिए क्षेत्रीय समितिया स्थापित की गई। यह भी महसूस किया गया कि जहा तक सम्भव हो ऐसे विकास का भार स्थानीय प्राधिकरणो पर होना चाहिए और सरकार को सारे उपक्रम को अपने ही हाथो मे नही रखना चाहिए। इसमे सदेह नही कि यह काम बहुत-से स्थानीय प्राधिकरणो के बूते से बाहर था इसलिए उनको कई प्रकार से सहायता करनी पडती थी। इस सिलसिले मे विशेष वित्तीय सस्थाए कायम हुई। इस प्रसग मे 'सोसाइती द इकनामी मिक्सते' का उल्लेख किया जा सकता है,

जिसमे कम से कम आधे शेयर स्थानीय प्राधिकरणो के है। 'सोसाइती सेंतरल पोअर ल इक्विपमेत दू तेरीतोरी', जो बैंक आफ फ्रास ने कायम की थी, क्रेदी फोंसे और अन्य लोक-निकाय, स्थानीय प्राधिकरणो या उनकी सहायता से स्थापित किए गए निकायो, जैसे 'सोसाइती द इकनामी मिक्सते', को उनके विकास कार्यक्रमो मे मदद देते हैं। गैर-सरकारी उद्यमो को प्रोत्साहित करने और राष्ट्रीय आयोजना तथा उसके क्षेत्रीय घटको द्वारा निर्धारित दिशा मे उसे मोडने के बहुत से तरीके है, जैसे राज-सहायता, करो मे रियायत और अनुकूल शर्तों पर अनुदान या ऋण आदि।

इस प्रकार फ्रासीसी ढग की 'संकेतक' आयोजना का निष्पादन विभिन्न रीतियो पर निर्भर करता है। इसमे कुछ राष्ट्रीयकृत उद्यमो को आवश्यक निदेश देना, गैर-सरकारी कारोबार को आवश्यकतानुसार प्रोत्साहन देना अथवा पाबदिया लगाना, और स्थानीय प्राधिकारियो द्वारा आर्थिक कदम उठाने को प्रोत्साहन देने की नीति का अनुसरण करना शामिल है।

वर्तमान समय मे नीति निर्माता इस बात से बहुत हद तक सहमत है कि आयोजना का कार्य किसी न किसी रूप मे, राष्ट्रीय स्तर पर होना आवश्यक है। यह बात विकासशील देशो के सम्बन्ध मे भी उतनी ही सही है जितनी कि विकसित देशो के सम्बन्ध मे। और यह कोई अचम्भे वाली बात भी नही है। मुक्त बाजार-अर्थ व्यवस्था मे किसी उद्यम की आर्थिक युक्तियुक्तता प्राय एक प्रकार की सीमान्त गणना पर आधारित होती है। जब कोई उद्योग किसी अन्य उद्योग से श्रमिको या उत्पादन के किसी अन्य उपादान को खीच लेता है तब उसे उस उपादान विशेष के लिए कम से कम उतना या उससे कुछ अधिक भुगतान करना पडता है, जो उसे पहले उद्योग मे प्राप्त होता था। इस प्रकार, यदि मुक्त गतिशीलता हो तो उत्पादन के हर उपादान को प्राप्त होने वाला पुरस्कार अथवा उसका न्यूनतम मूल्य वह होगा जो अगले सर्वाधिक अच्छे उद्यम अथवा क्षेत्र मे उस प्राप्त हो सकता है। वर्तमान उपयोग मे उसके द्वारा कुल उत्पादन मे जो वृद्धि होती है वह उसका अधिकतम मूल्य होता है। यदि मान लिया जाए कि मुक्त प्रतियोगिता है और रोजगार ऊचे स्तर पर है, तो अगर कुछ और साधारण शर्ते पूरी हो, तो अधिकतम और न्यूनतम मूल्य विभाजनीय तत्व के समीप आ जाते है। उपभोक्ता भी, किसी मूल्य पर किसी वस्तु को कितनी मात्रा मे खरीदेगे, इसका निर्णय करते समय यह ध्यान मे रखते है कि उनके रुपये का और क्या वैकल्पिक उपयोग हो सकता है। इस प्रकार उत्पादन के उपादानो का मूल्य की तरह सामाजिक आधार होता है और अलग अलग उद्यम, लागत को कम से कम तथा मुनाफो को ज्यादा से ज्यादा रखने की कोशिश मे, ससाधनो को जहा सबसे अच्छा उपयोग हो सकता है, वहा लगाने मे मदद करते है। स्वतन्त्र बाजार की अर्थ व्यवस्था मे आर्थिक गतिविधियो की युक्तियुक्तता के सम्बन्ध मे जो तर्क हो सकते है इससे उनके स्वरूप का सक्षिप्त सकेत मिल जाता है। इस

तर्क की कुछ सीमाओं की पहले चर्चा की जा चुकी है। अब एक विशेष बात समझने की आवश्यकता है।

जब कोई उद्यम बाजार मे उपलब्ध ससाधनों मे कुछ अधिक या उनसे कुछ कम समाधनो का प्रयोग करने का निर्णय करता है तब इससे उसकी लागत और मुनाफे म जो अन्तर पडेगा उसके बारे मे उसका हिसाब इस कल्पना पर निर्भर होता है कि 'अन्य परिस्थितियों' मे कोई परिवर्तन नही होगा। किसी और कारण से नही तो कम से कम इस कारण से तो यह कल्पना जरूरी है कि किसी एक उत्पादक को इस बात की पूरी जानकारी नही होती कि अर्थ-व्यवस्था के अन्य भागो मे क्या हो रहा है या उसी समय अन्य उत्पादको द्वारा क्या निर्णय किए जा रहे हैं। कोई उत्पादक अर्थ-व्यवस्था के किसी एक किनारे पर अपना काम करता है और न तो उसकी जानकारी का और न ही उसकी गतिविधियो का क्षेत्र विस्तृत होता है। इससे उस युक्तिमगत आर्थिक गतिविधि का क्षेत्र बहुत सीमित हो जाता है जिसमे वह अपने निजी उपक्रम पर कार्यरत हो सकता है। इस परिसीमा पर काबू पाने के लिए पूरी जानकारी की और कुछ मामलो मे तो कई क्षेत्रो मे समसामयिक या सम्मिलित कार्य-वाही करने की आवश्यकता होती है। किसी विकासशील अर्थ-व्यवस्था मे जब सरचनात्मक परिवर्तन हो रहे हो तब इसकी आवश्यकता खास तौर पर होती है।

अलग-अलग फर्में एक दूसरे से स्वतत्र रह कर जो निर्णय करती हैं, उनके कारण पैदा होने वाली कठिनाइयो को एक प्रकार के औद्योगिक सयोजन द्वारा दूर करने का प्रयत्न किया गया है। जाहिर है कि वर्तमान सयोजन के सदर्भ मे हम सामान्य प्रकार के एकाधिकार की बात नही कर रहे हैं जिसमे किसी बडी फर्म को किसी उद्योग विशेष पर अधिकार प्राप्त हो जाता है जैसे इस्पात या पैट्रोलियम मे होता है। निवेश के अनेक परस्पर सम्बन्धित क्षेत्रो पर जो एक साथ नियत्रण होता है, उसकी यहा पर अधिक प्रासगिकता है। उन्नीसवी शताब्दी के अन्तिम वर्षो से जापानी 'ज़ाईबात्सु' और देश के आर्थिक विकास मे इसकी भूमिका की चर्चा यहा समीचीन है। उदाहरण के लिए, 'मित्सुई' ने बैकर तथा व्यापारी के रूप मे अपना कारोबार आरम्भ किया परतु धीरे-धीरे इनकी गतिविधियो का प्रसार खनन, धातु और मशीन, कपडा, कागज चीनी और जहाज निर्माण उद्योगो के क्षेत्र मे हुआ। यहा पर एक बात पर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है और वह यह है कि जापान मे 'पूर्णरूपेण एकाधिकार रखने वाले कुछ ही प्रतिष्ठान थे' और मित्सुई या मित्सुबिशि जैसे प्रमुख व्यापार गृह का अत्यधिक विस्तार इस कारण हो गया कि अनेक औद्योगिक तथा वाणिज्यिक उद्यम इनके नियत्रण के अन्तर्गत आ गए थे। उनकी विशालता का यह कारण नही था कि एक ही बाजार मे किसी उद्योग विशेष पर इनका आधिपत्य हो।[1]

1 डब्लू० डब्लू० लाकवुड, 'द इकनामिक डवलपमेंट आफ जापान', प्रिंसटन, 1954, पृ० 223

इससे एक महत्वपूर्ण परिणाम सामने आया। यद्यपि बड़े उद्योगों में प्रतियोगिता का तत्व बना रहा तथापि 'जाईबात्सु' मुक्त बाजार-अर्थ-व्यवस्था में किसी विशिष्ट फर्म की अपेक्षा अधिक विस्तृत आधार पर अपने निवेश कार्यक्रमों की योजना बना सकते थे।

जिस प्रकार का लोकमत इस समय पाया जाता है उसे देखते हुए बहुत-से विकासशील एवं विकसित देशों में आर्थिक शक्ति का इतना अधिक सकेन्द्रण स्वीकार नहीं किया जा सकता। फिर भी किसी एक फर्म की अपेक्षा बहुत ऊंचे स्तर पर *आयोजना की आवश्यकता युक्तिसंगत भी है और अनिवार्य भी। इसी आवश्यकता की* पूर्ति के लिए सरकार द्वारा राष्ट्रीय स्तर पर की जाने वाली आयोजना को व्यापक रूप से स्वीकार किया जाता है। अनेक अन्य पूंजीवादी देशों की भांति जापान में भी इस समय राष्ट्रीय योजना बनाई जाती है। पहले ऐसा माना जाता था कि पूंजीवाद 'व्यष्टिवादी उत्पादन में अव्यवस्था पैदा करने वाला' होता है, परन्तु अब स्थिति ऐसी नहीं रही।

कोई भी योजना बिलकुल त्रुटिहीन नहीं होती। यह गलत नीति का एक साधन भी सिद्ध हो सकती है। राष्ट्रीय योजना को एकदम तर्कसंगत मान लेना सरकार या आयोजना प्राधिकरण के प्रति अन्धविश्वास के अलावा कुछ नहीं। जो भी योजनाएं बनकर सामने आती हैं वे विभागीय दबावों तथा राजनैतिक समझौतों का परिणाम होती हैं। परन्तु यह जोखिम उठानी ही पड़ती है। राष्ट्रीय योजना का होना अनिवार्य है। यह जोखिम इस लोकतांत्रिक व्यवस्था में इसलिए मुनासिब है कि आखिरकार सरकार की सफलता का निर्णय उसके काम से किया जाएगा। इसके अलावा एक और गम्भीर समस्या भी है। कोई योजना युक्तिसंगत हो सकती है परन्तु हो सकता है कि यह युक्तियुक्तता उन अनेक उत्पादन इकाइयों को महसूस न हो जिन्हें इस योजना का पूरा करने की जिम्मेदारी सौंपी गई है और हो सकता है कि वे केन्द्रीय प्राधिकरण द्वारा उन्हें सौंपे गए काम को पूरा करने में अपनी जिम्मेदारी पूरी तरह न समझें। यह केन्द्रीय रूप से तैयार की गई आर्थिक आयोजना की एक मूलभूत समस्या है। इससे तो ऐसी योजना बनाना कहीं अच्छा होगा जिसमें चाहे थोड़ी-बहुत त्रुटियां हों परन्तु जिसके प्रति लोग अपने-आपको वचनबद्ध समझें। इसलिए हर देश को अपने हालात के मुताबिक अपने लिए यह तय करना चाहिए कि उसके यहां किस हद तक केन्द्रीय रूप से योजना बनेगी और किस हद तक उद्यमों और निकायों को स्वतन्त्र छोड़ दिया जाएगा तथा इस प्रकार के सामंजस्य के लिए संस्थागत व्यवस्था क्या होगी।